प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२०

मूल्य : [illegible]-००

Phone : 3076

THE

VIDYABHAVAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

67

Hindi Translation of J. Muir's

ORIGINAL SANSKRIT TEXTS

BY

RAM KUMAR RAI

Vol. III

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1964

भूमिका

उन निबन्धों का, जिनका प्रस्तुत भाग केवल एक अंश है, उद्देश्य हिन्दुओं के नागरिक और धार्मिक इतिहास का समालोचनात्मक अनुसन्धान करना है। प्रथम भाग में इस बात का दिग्दर्शन करा चुकने के पश्चात् कि भारत में बहुत दिनों से वर्त्तमान वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के पुराणों इत्यादि में उपलब्ध पुराकथात्मक और आख्यात्मक विवरण, ब्राह्मणधर्म के मूल और आधारभूत अङ्ग के रूप में चारों वर्णों की स्पष्ट सृष्टि के आरम्भिक लोक-विश्वास की पुष्टि करने के लिये अपर्याप्त और परस्पर विरोधी है। साथ ही, द्वितीय भाग में तुलनात्मक भाषा विज्ञान और ऋग्वेद के विषय-वस्तुओं से लिये गये विभिन्न तर्कों के आधार पर यह सिद्ध कर लेने के पश्चात् कि हिन्दू जाति उस भारोपीय जाति की ही एक शाखा है जो मूलतः अन्य सजातीय जातियो के साथ मध्य एशिया में रहती थी और उसके बाद उत्तरी हिन्दुस्तान की ओर आकर बस गई जहाँ ब्राह्मण धर्म और संस्थायें विकसित तथा परिपक्व हुई, अब मैं इस तृतीय भाग में विशेष रूप से उन वेदों के इतिहास पर विचार करूँगा जिन्हें हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ और ऐसा प्रेरणा-स्रोत माना गया है जिससे हिन्दूधर्म तथा दर्शन-सम्प्रदाय (जो यद्यपि बहुत अंशों तक कल्पना और तर्क पर भी आधारित हैं) प्रधानतः उत्पन्न हुये, अथवा जिनसे, कम से कम, ये अपनी अनुकूलता सिद्ध करते हैं।

फिर भी, जब मैं वेद के इतिहास की चर्चा करता हूँ तब मुझे यह ध्यान आ जाता है कि मैं एक ऐसे शब्द का व्यवहार कर रहा हूँ जो दार्शनिक पाठकों को, आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक अपने धर्मशास्त्रीय विकास के क्रमिक स्तरों के बीच हिन्दुओं के अपने धर्म ग्रन्थों के सम्बन्ध में निर्मित विभिन्न विचारों के एक सूक्ष्म और व्यवस्थित विवरण के विचार का संकेत देगा। परन्तु इस प्रकार का कोई विवरण प्रस्तुत करने के लिये एक इतने विस्तृत अनुसन्धान की आवश्यकता है जिसके लिये मैं यहाँ समर्थ नहीं हूँ। वास्तव में भविष्य में कभी हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि भारतीयों के धर्मशास्त्रीय और कल्पनात्मक विचारों का इतिहास, जिसमें प्रस्तुत विषय का भी समावेश होगा, किसी योग्य विद्वान् द्वारा

लिखा जायगा। मेरा उद्देश्य अपेक्षाकृत कहीं अधिक विनम्र है। मेरा प्रयास केवल इतना ही दिखाना है कि कृतिकारों के स्पष्ट वर्गों का, जिन्हें मैंने विस्तृत आशय में तीन वर्गों—(१) पुराकथाशास्त्रीय, (२) पाण्डित्यपूर्ण अथवा दार्शनिक, और (३) वैदिक—के अन्तर्गत रखा है, वेदों के सम्बन्ध में क्या विचार है।

प्रथम अथवा पुराकथाशास्त्रीय वर्ग के अन्तर्गत पुराणों और इतिहासों, तथा अंशतः उन ब्राह्मणों और उपनिषदों के लेखक आ जाते है जो पुराणों की भाँति ही अक्सर पुराकथाशास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय तत्त्वों को एक साथ सम्मिलित कर देते हैं। द्वितीय अथवा पाण्डित्यपूर्ण वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के लेखक, उनके भाष्यकार तथा व्याख्याकार, तथा वेदों के भाष्यकार आते हैं। इस वर्ग के समस्त लेखक दार्शनिक अथवा व्यवस्थित धर्मशास्त्रियों के अन्तर्गत आते हैं; किन्तु यतः इनके कल्पनात्मक सिद्धान्त भिन्न हैं, अतः इनमें से प्रत्येक सम्प्रदाय का उद्देश्य अपने आधारभूत सिद्धान्तों के अनुकूल आधारों पर ही वेदों की उत्पत्ति और प्रामाण्य को स्थापना करना, तथा साथ ही साथ, धर्मग्रन्थों के सिद्धान्तों की इस प्रकार व्याख्या करना है जिससे वे उनके अपने विशेष सिद्धातों के अनुकूल प्रतीत हों। तृतीय वर्ग के लेखकों के, जिनके वेद-सम्बन्धी विचारों को मैंने यहाँ व्यक्त किया है, अन्तर्गत (१) वैदिक सूक्तों को प्रणेता स्वयं ऋषिगण, और (२) उन उपनिषदों के लेखक आते हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन समय और अधिकांशत. सूक्तों से भिन्न प्रकृति की कृतियाँ होने के विपरीत भी वाद के भारतीय लेखकों द्वारा वेदों के ही एक अग माने गये हैं। यतः सूक्तों के लेखक, कम से कम उनमें से सर्वाधिक प्राचीन, सरल धारणाओं तथा स्वाभाविक और वाल-सुलभ भक्ति के आरम्भिक समय में रहे होंगे, अतः हम यह देखेंगे कि यद्यपि इनमें से कुछ ने, अपने काल की भावना के अनुरूप ही, अपनी कृतियों को कुछ अंशों तक प्रेरणा का परिणाम माना है, तथापि उनके इस विषय-सम्बन्धी पूर्वग और आरम्भिक विचार वाद के पाण्डित्यपूर्ण लेखकों की कृत्रिम और व्यवस्थित परिभाषाओं के सर्वथा विपरीत हैं। और उपनिषदों के लेखक भी, यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से, अपनी कृतियों के लिये अलौकिक प्रामाण्य का अधिकार व्यक्त करते हैं, तथापि उस दृढ़ वर्गीकरण को मान्यता प्रदान करने से वहुत दूर हैं जिसने वाद के समय में वैदिक कृतियों तथा अन्य धर्मग्रन्थों के वीच स्पष्टतः विभाजन रेखा खींची है।

यदि मैं वेदों के सम्बन्ध में उक्त तीन वर्ग के लेखकों के वेद-सम्बन्धी उन विचारों का, जिन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ में संगृहीत किया गया है, एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण प्रस्तुत करूँ तो उससे पाठकों को विशेष सुविधा होगी। यतः प्रथम अध्याय (पृ० ३-२२५) में वैदिक सूक्तों के संग्रह के कुछ पहले अथवा बाद के भारतीय लेखकों के वेदों के, उत्पत्ति, विभाजन, प्रेरणा और प्रामाण्य सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करनेवाले मूल उद्धरणों को सम्मिलित किया गया है, अतः यह लेखकों के उपरोल्लिखित प्रथम दो वर्गों—(१) पुराकथा-शास्त्रीय, और (२) पाण्डित्यपूर्ण—के विचारों को व्यक्त करता है। पहले खण्ड (पृ० ५-१३) में मैंने पुरुषसूक्त, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण और मनुस्मृति से उद्धरण दिये हैं जो वेदों को विभिन्न रीति से (क) पुरुष के रहस्यात्मक यज्ञ से उत्पन्न; (ख) स्कम्भ में निहित; (ग) उससे निर्मित अथवा उसके केश और मुख के रूप में; (घ) इन्द्र से उत्पन्न; (ङ) समय से उत्पन्न; (च) अग्नि, वायु और सूर्य से उत्पन्न; (छ) प्रजापति और जलों से उत्पन्न; (ज) परम पुरुष के निश्वास के रूप में; (झ) मानस सागर से देवों द्वारा निकाले गये होने के रूप में; (ञ) प्रजापति की दाढ़ी के बाल होने के रूप में; और (ट) वाच् की सन्तान, आदि, के रूप में व्यक्त किया गया है।

परिशिष्ट के पृष्ठ ३०५ पर अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र को भी उद्धृत किया गया है जिसमें वेदों को उच्छिष्ट से उत्पन्न बताया गया है।

दूसरे खण्ड (पृ० १४-१८) में विष्णु, भागवत, और मार्कण्डेय पुराणों के स्थलों को उद्धृत किया गया है जो वेदों को, सृष्टि के समान ही, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न बताते हैं; हरिवंश के भी अनेक अंशों को उद्धृत किया गया है जो वेदों को ब्रह्मा द्वारा सृजित अथवा गायत्री से उत्पन्न बताते हैं। महाभारत का एक अन्य स्थल ऐसा है जो वेदों को विष्णु द्वारा सृजित अथवा, सरस्वती को उनकी माता बताता है। मनु का स्थल कुछ अन्य वस्तुओं सहित वेदों को भी सत्त्व-गुण की द्वितीय अभिव्यक्ति बताता है; जब कि ब्रह्मा को इस गुण की प्रथम उत्पत्ति कहा गया है।

तीसरे खण्ड (पृ० १८-२२) में ब्राह्मणों, विष्णु पुराण और महाभारत के ऐसे स्थलों का उद्धरण है जिनमें वेदों की सर्वरूप, और छन्दों, सूक्तों, श्वासों, तथा देवों की आत्मा के रूप में प्रशस्ति है और उन्हें अनश्वर, रूप,

गति, और उष्णता, तथा समस्त प्राणियों के नाम, रूप, और कार्यों का स्रोत, विस्तार में अनन्त, यद्यपि ऋच्, यजुष और सामन् के रूप में सीमित तथापि ब्रह्म में अनन्त, चिरन्तन, और विष्णु का तत्त्व बताया गया है।

चौथे खण्ड (पृ० २२–४१) में शतपथ ब्राह्मण और मनु के ऐसे स्थल हैं जिनमे वेदाध्ययन के महान लाभों, और इन कृतियों की मर्यादा, शक्ति, प्रामाण्य, और प्रभाव की प्रशस्ति की गई है। उक्त द्वितीय कृतिकार (मनु) के दो स्थलों तथा विष्णु पुराण के एक स्थल के ऐसे उद्धरण भी हैं जिनमें सामवेद के साथ कुछ अपवित्रता को संयुक्त किया गया है (तुलना कीजिये पृष्ठ १५ पर उद्धृत मार्कण्डेय पुराण जिसमें चारों वेदों को अलग-अलग मात्रा में त्रिगुणों से युक्त बताया गया है)। वायु, पद्म, मत्स्य और ब्रह्म-वैवर्त पुराणों, महाभारत और रामायण के कुछ ऐसे स्थलों का भी उद्धरण दिया गया है जो वेदों का अवमूल्यन करते हुये पुराण इतिहास को यदि वेदों से श्रेष्ठ नहीं तो उनके समकक्ष स्थान प्रदान करते हैं। तदुपरान्त मुण्डक उपनिषद् के एक स्थल का उद्धरण दिया गया है जिसमें वेद तथा उसके अंगों को आत्मज्ञान जैसी 'श्रेष्ठ-विद्या' की तुलना में एक 'हीन-विद्या' कहा गया है। इसके बाद भगवद्गीता, छान्दोग्य उपनिषद्, और भागवत पुराण के कुछ ऐसे स्थलों का उद्धरण है जिनमें परमात्मा के ज्ञान की तुलना में वेद के कर्मकाण्डीय और बहुदेवतवादी अंशों का अवमूल्यन किया गया है।

पाँचवें खण्ड (पृ० ४२–५६) में विष्णु, वायु और भागवत पुराणों के अनुसार वेदव्यास तथा उनके शिष्यों द्वारा द्वापर युग में वेदों के विभाजन का वर्णन किया गया है। इसके बाद एक भिन्न विवरण दिया गया है जिसमें भागवत पुराण के ही एक अन्य तथा महाभारत के एक स्थल के अनुसार राजा पुरूरवस् द्वारा त्रेता युग में वेदों के विभाजन का उल्लेख है (यद्यपि महाभारत का यह स्थल पुरूरवस् के सम्बन्ध में मौन है)।

छठवें खण्ड (पृ० ५६–६४) में वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य के सम्प्रदायों द्वारा गृहीत यजुर्वेद के शाखा-भेदों से सम्बद्ध विष्णु और वायु पुराणों, तथा शतपथ ब्राह्मण के स्थलों का उल्लेख है। यहीं इस विषय पर, तथा ऋक् और सामवेदों के परस्पर सम्बन्ध पर प्रोफेसर वेबर के कुछ विचारों का भी उद्धरण है जिसमें उन्होंने कुछ अन्य मूल उद्धरण के आधार पर अन्य वेदों के प्रति अथर्वनों, और ऋग्वेद के प्रति छान्दोग्यों के आक्षेपों का उदाहरण दिया है।

खण्ड ७ (पृ० ६४–७७) में ऋग्वेद तथा तैत्तिरीय यजुर्वेद के भाष्यकार सायण और माधव की कृतियों से उद्धरण दिये गये हैं जिनमें इन दोनों ही भाष्यकारों ने वेद के गुणों की परिभाषा देते हुये उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न मत-सम्प्रदाय के लोगों की आपत्तियों को प्रस्तुत करने तथा मन्त्र और ब्राह्मण से मिल कर बने होने के रूप में वेद की परिभाषा देने के पश्चात् सायण (पृ० ६५–७४) ने यह स्थापना की है कि वेद पौरुषेय अथवा किसी व्यक्ति की कृतियों नहीं (तुलना कीजिये पृ० ११४ पर दिया गया इनका एक अन्य उद्धरण), वरन् इसका प्रमाण्य स्वय इसके वाक्य, इसकी स्वयं सिद्ध प्रकृति, स्मृतियों (अर्थात् प्रसिद्ध ऋषियों की अवैदिक रचनायें) तथा लोक-प्रसिद्धि पर आधारित है। तदुपरान्त सायण ने वेद के विरुद्ध दुर्बोधता, संदिग्धता, निरथकता, परस्पर विरोध, तथा अर्थहीनता-सम्बन्धी कुछ आपत्तियों का प्रतिवाद किया है। माधव (पृ० ७७) ने वेद की एक मात्र ऐसी कृति के रूप में परिभाषा की है, जो भावी सुख-प्राप्ति के अलौकिक माध्यम का उद्घाटन करती है। उनकी यह व्याख्या है कि तीन उच्च वर्ण के केवल पुरुष ही वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, और यह भी कि जहाँ तक वेद नित्य है इसका प्रामाण्य भी निर्दोष है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि यह वेद को सर्वथा नित्य नहीं मानते। इनका कथन है कि प्रथम सृष्टि के समय ब्रह्मा ने जब इसका सृजन किया था उसी समय से इसे नित्य मानना चाहिये, यद्यपि ब्रह्मा के निर्दोष होने के कारण उनकी कृति के रूप में वेद भी स्वयं सिद्ध है।

खण्ड ८ (पृ० ७७–११७) में मीमासा और ब्रह्म (वेदान्त) सूत्रों के रचयिता जैमिनि तथा वादरायण के वेद के नित्यत्व सम्बन्धी विचार है। जैमिनि का कथन है कि 'शब्द' नित्य हैं; 'शब्द' और उनके 'अर्थ' का सम्बन्ध भी काल्पनिक अथवा परम्परागत नही वरन् नित्य है; और फलतः वेद अदृष्यार्थ के सम्बन्ध में भी निर्दोष सूचना प्रदान करते हैं। इन्होंने अपने इस दृष्टिकोण का नैयायिकों के विरुद्ध तथा उनकी आपत्तियों का उत्तर देते हुये प्रतिपादन किया है। आपका यह भी कथन है कि कुछ ऋषियों के आधार पर रक्खे गये वह नाम भी जिनसे वेद के विभिन्न भागों को जाना जाता है, यह प्रमाणित नहीं करते कि वही-वही ऋषि वेद के उन-उन भागों के प्रणेता थे। उनसे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि सम्बद्ध ऋषियों ने उन भागों का अध्ययन और प्रतिपादन किया था, जब

कि वेद में आने वाला कोई भी नाम किसी पार्थिव व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे पदार्थ का द्योतक है जिसका अस्तित्व नित्य है। तदुपरान्त वेद की पुरुषेतर उत्पत्ति की पुष्टि के लिये न्यायमाला विस्तर (मीमांसा दर्शन के संक्षिप्त विवरण से युक्त) और वेदार्थ प्रकाश (तैत्तिरीय यजुर्वेद पर भाष्य) से दो उद्धरण दिये गये है। इन दोनों ही स्थलों (पृ० ६४ और बाद) के तर्क एक ही विषय से सम्बद्ध हैं और इनमें ऐसा कुछ भी नहीं जिसकी पहले प्रस्तुत मीमांसा-दर्शन के साराशों में कल्पना न कर ली गई हो। इनके इस तर्क के सम्बन्ध में कि वेद के किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं है, मैंने यहाँ यह देखा है कि आपत्तिकर्ताओं की इस मान्यता का कि सूक्तों के उच्चारक ऋषि ही उनके प्रणेता भी रहे होंगे, भारतीय लेखकों ने यह कहते हुये प्रतिवाद किया है कि ऋषिगण पहले से ही वर्तमान वेद के केवल द्रष्टा मात्र थे। जैमिनी के सूत्रों से उद्धृत कुछ मतों की मीमांसा-दर्शन के उस साराश ने भी पुष्टि होती है जिसे मैंने सर्वदर्शन संग्रह से उद्धृत किया है। इसका लेखक, सर्वप्रथम, मीमांसकों द्वारा वेद को कर्त्ता-रहित मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिकों की इन आपत्तियों का उल्लेख करता है : (१) इस प्रकार की किसी भी परम्परा का गत प्रलय के समय अवश्य उच्छेद हो गया होगा; (२) यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि कभी भी किसी ने कर्त्ता का स्मरण नहीं किया; (३) वेद के वाक्यों की प्रकृति भी अन्य साधारण वाक्यों के ही समान है ; (४) गुरु-शिष्य की परम्परा द्वारा संचरित होने की वर्तमान पद्धति के आधार पर निकाले गये इस निष्कर्ष का कि यही पद्धति चिरकाल से चली आ रही है, इसलिये प्रतिवाद हो जाता है कि अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है; (५) स्वयं वेद के ही एक स्थल पर वेद के कर्त्ता का उल्लेख है; (६) शब्द नित्य नहीं है, और यदि हम पूर्वश्रुत होने के कारण ही अक्षरों को उसी रूप में पहचान लेते हैं तो भी इससे अक्षरों की नित्यता तथा समानता सिद्ध नहीं होती, इससे केवल इतना ही तात्पर्य है कि इन इन अक्षरों को पूर्वश्रुत अन्य अक्षरों के समान वर्णों का होने के रूप में ग्रहण करते हैं; (७) यद्यपि परमेश्वर अशरीरी है, तथापि वेद इत्यादि को प्रगट करने के लिये उसने शरीर धारण किया हो सकता है। तदुपरान्त लेखक इन आपत्तियों के विरुद्ध मीमांसकों के प्रतिवाद को इस प्रकार व्यक्त करता है : इस पौरुषेयत्व से क्या तात्पर्य है ? यदि वेद को पौरुषेय मान लें तो हम उसके प्रामाण्य को (क) अनुमान मात्र पर आधारित नहीं मान सकते, क्योंकि अन्य दोषपूर्ण ग्रन्थ भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हैं। यह कहना भी पर्याप्त नहीं कि वेद का प्रामाण्य

उसके सत्य-कथन पर आधारित है : क्योंकि वेद को एक ऐसा ग्रन्थ कहा गया है जो उस बात को प्रमाणित करता है जिसको अन्य किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं किया जा सकता। और यदि परमेश्वर शरीर धारण भी करे तो इस सीमित अवस्था में उसे अलौकिक ज्ञान उपलब्ध नही हो सकता। यह तथ्य कि वेद की विभिन्न शाखाओं के नाम कुछ विशेष ऋषियों के नाम के आधार पर रक्खे गये हैं. इससे अधिक और कुछ सिद्ध नहीं करता कि इन ऋषियों ने इन शाखाओं का अध्ययन मात्र किया था, अतः इस कारण वेद के नित्यत्व पर शका नहीं की जा सकती—उस नित्यत्व पर जो अक्षर को पहचानने के आधार पर सिद्ध है। ये अक्षर सर्वथा वही अक्षर होते हैं जिन्हें हम पहले सुन चुके हैं, क्योंकि न तो यही दिखाने के लिये कोई प्रमाण है कि 'ग' कार आदि अक्षर बार-बार उच्चरित होने पर हर बार भिन्न होते है, और न इसके लिये ही कि ये एक जातिवाचक पद हैं। एक ही अक्षर में लक्षित होनेवाला अन्तर उसका उच्चारण करनेवाले व्यक्तियों की विशेषताओं का ही परिणाम होता है, अतः उसके नित्य स्वरूप को प्रभावित नहीं करता। इसके बाद इसी सामान्य दृष्टिकोण के सम्बन्ध में और तर्क प्रस्तुत करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वेद कर्ता रहित और स्वयं प्रामाण्य है—इस निष्कर्ष का इस रूप में प्रतिपादन किया गया है, जैसे स्वयं इसी लेखक ने ही इसकी सफलतापूर्वक स्थापना की हो।

प्रलय काल से वेद पर पडनेवाले प्रभाव से सम्बद्ध समस्या पर पतञ्जलि के महाभाष्य तथा उसके टीकाकारों के कुछ उन उद्धरणों द्वारा प्रकाश डाला गया है जिनका मानव-कल्प सूत्र की अपनी भूमिका में प्रो० गोल्डस्टूकर ने उल्लेख किया है, और जिसे ही मैंने पृ० १०३ और बाद पर अंशतः उद्धृत भी किया है। पतञ्जलि ने यह स्वीकार किया है कि यद्यपि वेद का अर्थ नित्य है, तथापि उसका अक्षर-विन्यास सदैव एक समान नहीं रहा है—यह काठकादि विभिन्न शाखा-भेदों से स्पष्ट हो जाता है। अक्षर विन्यास के इस अन्तर के कारण के सम्बन्ध में स्वय पतञ्जलि ने कुछ नही कहा है; किन्तु उनके टीकाकार कैय्यट का कथन है कि जगत् के महाप्रलय के समय अक्षरों का क्रम अस्त-व्यस्त हो गया, और ऋषियों ने अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा उन्हें पुनः व्यवस्थित किया (यद्यपि इसमें शाखा-भेद आ गये)। मनु के भाष्यकार कुल्लूक (देखिये पृ० ८) का कथन है कि प्रलय काल में वेद ब्रह्मा की स्मृति में सुरक्षित रहे, और कल्पारम्भ में पुनः

प्रकट हुये; किन्तु उसी या परिवर्तित रूप में इस सम्बन्ध में ये कुछ भी नहीं कहते। इस द्वितीय बात को ब्रह्मसूत्र १. ३, ३० (जिसे मैंने परिशिष्ट में उद्धृत किया है) पर शङ्कर के भाष्य में भी असमाधानित ही छोड़ दिया गया हैं। पृ० १०१ और बाद में कुछ टिप्पणियाँ इस बात से सम्बद्ध हैं कि पूर्व-मीमांसा देवता के अस्तित्व को स्वीकार करता है अथवा नहीं।

पृष्ठ १०६–११४ पर दिये गये ब्रह्मसूत्रों के शाङ्करभाष्य के उद्धरण में शङ्कर ने, जो वेद के प्रामाण्य को शब्द के नित्यत्व पर आधारित करने में स्वयं ब्रह्म-सूत्रकार तथा जैमिनि से सहमत हैं, इस आपत्ति का प्रतिवाद करना आवश्यक समझा है कि यतः वेद में उल्लिखित देवताओं की उत्पत्ति को कालगत माना गया है, अतः इन देवों को व्यक्त करनेवाले शब्द नित्य नहीं हो सकते, वरन् उनका भी अपने वाच्यार्थ के साथ ही सृजन हुआ होगा, क्योंकि नित्य शब्दों का अनित्य विषयों से नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। शङ्कर ने इस आपत्ति का (जैमिनि के इस कथन की उपेक्षा करते हुये कि वेद में किसी भी अनित्य विषय का उल्लेख नहीं है) यह कहते हुए प्रतिवाद किया है कि शब्दों का नित्य सम्बन्ध किसी पदार्थ विशेष से नहीं वरन् उस जाति से होता है जिसके अन्तर्गत वह पदार्थ आता है, और इन्द्रादि देवताओं को वेद केवल जातिवाचक ही सिद्ध करता है। तदुपान्त ब्रह्मसूत्र १. ३, २८ तथा श्रुति और स्मृतियों के विभिन्न उद्धरणों के आधार पर शङ्कर का यह कथन है कि देवों तथा जगत् की (यद्यपि किसी उपादन कारण से उत्पन्न हुये होने के आशय में नहीं) सामान्यतः स्फोट के रूप में वेद के शब्द (देखिये पृ० ८ और २०) से ही उत्पत्ति हुई है। इस अन्तिम शब्द (स्फोट) की व्याख्या नीचे की गई है। वेद के शब्दों तथा उनके वाच्यार्थों के नित्य सम्बन्ध विषयक उपरोक्त समस्या पर आगे एक और स्थल पर विचार किया गया है जिसे मैंने परिशिष्ट (पृ. ३२०) में उद्धृत किया है। इस उद्धरण में इस आपत्ति का उत्तर दिया गया है कि वेद के शब्दों के वाच्यार्थ नित्य नहीं हो सकते क्योंकि (मध्यवर्ती नहीं वरन्) महाप्रलय के समय सबका सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। उत्तर में यह समाधान प्रस्तुत किया गया है कि परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मा इत्यादि गत लौकिक अवस्थाओं की स्मृति सुरक्षित रखते हैं तथा प्रत्येक कल्पारम्भ में प्रत्येक वस्तु की ठीक उसी प्रकार सृष्टि हो जाती है जैसी पूर्व कल्प में थी। तदुपरान्त (पृ० ११४) पर मैंने ऋग्वेद के भाष्यकार सायण के एक स्थल का उद्धरण दिया है जिसमें उन्होंने ब्रह्मसूत्र के एक अन्य

(१. १, ३ : पृ० ११५ पर उद्धृत) स्थल का उल्लेख करते हुए कहा है कि ब्रह्मा ही वेद के स्रोत हैं और जिसकी शङ्कर ने ब्रह्मा की सर्वज्ञता सिद्ध करने के प्रमाण के रूप में व्याख्या की है। सायण ने इस स्थल को केवल वेद के अपौरुषेयत्व की स्थापना करने के अर्थ में ही ग्रहण किया है, उसके नित्यत्व को प्रमाणित करने के अर्थ में नहीं। आपके अनुसार (तथा माधव के अनुसार भी) इसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि वेद भी उसी अर्थ में नित्य है जिस अथ में आकाश : अर्थात् इसका नित्यत्व प्रत्येक सृष्टि से लेकर प्रलय के बीच की अवधि तक ही सीमित है।

वेद की नित्यता का समर्थन करने वाले मीमासकों के मत, तथा ऊपर प्रतिपादित वेदान्त के सिद्धान्तों के विपरीत न्याय सूत्र के प्रणेता गोतम शब्द के नित्यत्व को अस्वीकार (खण्ड ६ : पृ० ११७-१२७) करते है। सदोषत्व, विरोध तथा पुनरुक्ति के आक्षेपों से वेद को मुक्त करते हुए आपने लौकिक विषयों से सम्बद्ध वैदिक उक्तियों की, प्रभावशीलता तथा अनुभव के द्वारा सिद्ध होने के आधार पर, और आप्त-प्रामाण्य के आधार पर वेद के प्रामाण्य की स्थापना की है। गोतम के सूत्रों से प्रत्यक्षतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ईश्वर, जिसे आपने वेद का कर्त्ता माना है, भी एक आप्त व्यक्ति है। यदि आपने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है तो इससे प्रगट होता है कि आपने ऋषियों को ही वेद का कर्त्ता माना होगा। फिर भी, वैशेषिक सूत्रकार, तर्क-संग्रह के लेखक, तथा साथ ही साथ, कुसुमाञ्जलिकार ने भी स्पष्ट रूप से ईश्वर को ही वेद का रचयिता बताया है (पृ० १२७-१४१)। कुसुमाञ्जलि के प्रणेता उदयन (पृ० १३७-१४१) इस मत का प्रतिवाद करते हैं कि अविच्छिन्न परम्परा के आधार पर वेद के नित्यत्व को सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि आपका कथन है कि उस प्रलय के समय यह परम्परा अवश्य विच्छिन्न हो गई होगी जो वर्त्तमान सृष्टि के पूर्व हुआ था। अतः (जैसी कि आपके भाष्यकार ने व्याख्या की है) वेद के एक नित्य और सर्वज्ञ कर्त्ता का अनुमान करते हुए इनका कथन है कि वेद पौरुषेय हैं, वेद के ही अनेक स्थल इसकी पुष्टि करते हैं, तथा वेद की विभिन्न शाखाओं से संयुक्त नाम उन ऋषियों के नामों से गृहीत हुये हैं जिनका सर्गारम्भ के समय ईश्वर ने स्वरूप ग्रहण किया था। पृ० १३४ और बाद पर मैंने वैशेषिक सूत्र तथा उसके भाष्य के कुछ अंशों का यह दिखाने के लिये उद्धरण दिया है कि अलौकिक ज्ञान अथवा ऋषियों के आप्तत्व के सम्बन्ध में इन लेखकों की क्या धारणा थी।

साख्यसूत्रकार कपिल (पृ० १४१–१४६) वेद के नित्यत्व को अस्वीकार करने में न्याय और वैशेषिक सूत्रकारों से सहमत हैं, किन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ये वेद के पौरुषेयत्व को अस्वीकृत करने में गोतम और कणाद से असहमत हैं, क्योंकि इसका सृजन करने वाला कोई भी व्यक्ति (जैसी कि इनके भाष्यकार ने व्याख्या की है, कोई ईश्वर) नहीं था। इन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि सर्वज्ञ होते हुये भी मुक्त प्राणियों में प्रमुख विष्णु ने अपनी राग-विहीनता के कारण वेद का सृजन नहीं किया होगा, और अन्य कोई व्यक्ति भी सर्वज्ञता के अभाव में इस कार्य को नहीं कर सका होगा। और यदि आदि पुरुष ने ही वेद का उच्चारण किया तो भी इसे उसकी कृति नहीं कह सकते, क्योंकि ये अचेतन रूप से उसके श्वास से ही प्रगट हुये थे। वेद को आत्माभिव्यक्ति की शक्ति से युक्त मानने में तो कपिल जैमिनी के साथ सहमत, किन्तु एक चेतन उच्चारक के निर्दोष ज्ञान पर इसके प्रामाण्य को आधारित करने में वैशेषिकों से असहमत हैं। तदुपरान्त ये स्फोट (शब्द का एक परिवर्तित रूप जिसका मीमासकों ने प्रतिपादन और एक मात्र, अविभाज्य, व्यक्तिगत अक्षरों से भिन्न, शब्दों के रूप में वर्त्तमान, और एक पूर्णता का निर्माण करने वाले के रूप में इसकी परिभाषा की है) जैसे किसी पदार्थ के अस्तित्व तथा शब्द के नित्यत्व का प्रतिवाद करते हैं।

दसवें खण्ड (पृ० १४६–१८७) में वेदान्त सूत्रों तथा उनके भाष्यकारों के उद्धरणों (पृ० १४८–१५३) के आधार पर मैंने यह दिखाया है कि (क) उपनिषदों के एक ही स्थल की व्याख्याओं में उत्तर-मीमासा (वेदान्त) के प्रणेता और व्याख्याकारों का पूर्व-मीमांसाकार जैमिनि के साथ अक्सर मतभेद है। इसी प्रकार के एक विभेद को बाद में, (ख) वेदान्त और साख्यसूत्रों तथा भाष्यों के उद्धरणों के आधार पर और विस्तार से सिद्ध किया गया है जिससे क्रमशः इन दो सम्प्रदायों के अनुयायियों की व्याख्या-पद्धति पर प्रकाश पडता है। पृ० १८३ और बाद पर यह दिखाने के लिये एक उद्धरण दिया गया है कि (ग) उस वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों के सम्बन्ध में भी यही उक्ति सत्य है जिन्होंने वेदान्तिक व्याख्याओं को स्पष्टतः अस्वीकृत कर दिया है। और सबके अन्त में (घ) मैंने शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र से यह दिखाने के लिए कुछ उद्धरण (पृ० १८५) दिये हैं कि वेद के आशय के सम्बन्ध में इस सूत्रकार तथा वेदान्त के दृष्टि-कोणों में बहुत अधिक विभेद है। पृ० १७६–१८३ पर मैंने उपनिषदों के सिद्धान्तों तथा विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों के साथ उनके सम्बन्ध के विषय

पर डा० ई० रूअर और प्रो० मैक्स मूलर की कुछ टिप्पणियों का उद्धरण दिया है।

इस खण्ड में प्रस्तुत तथ्यों द्वारा हमें (१) परम्परा द्वारा पवित्र और निर्दोष होने के रूप में प्राप्त पूर्वकाल की अव्यवस्थित और बहुधा असंगत श्रुतियों की सर्वथा अपने मतानुकूल व्याख्या तथा एक निश्चित और सगत सिद्धान्त से युक्त होने के रूप में व्यक्त करने की सभी मत-सम्प्रदायवादी दार्शनिकों में लक्षित होने वाली समान प्रवृत्ति; तथा साथ ही साथ, (२) उस मतभेद का उदाहरण मिलता है जो ऐसी श्रुतियों के आशय के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदाय के लेखकों में मिलता है जो समान दृढ़ता के साथ इन्हें ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना करने वाला मानते हैं जो परस्पर विरोधी और असंगत हैं।

ग्यारहवें खण्ड (पृ० १८७–२१६) में न्यायमाला-विस्तर, और मनु के टीकाकार कुल्लूक के कुछ स्थलों का यह दिखाने के लिये उद्धरण दिया गया है कि दार्शनिक लेखकों ने एक ओर वेद तथा दूसरी ओर स्मृतियाँ (जिनके अन्तर्गत दर्शन, मनुस्मृति, पुराण, और इतिहास इत्यादि को भी सम्मिलित किया गया है) कही जाने वाली सभी अन्य भारतीय धर्म-ग्रन्थों के बीच स्पष्ट विभाजन-रेखा खींची है। इनमें से प्रथम (वेद) को स्वतंत्र और निर्दोष माना गया है जबकि अन्य को (सिद्धान्ततः) उसी अश तक प्रामाणिक कहा गया है जिस अंश तक वे वेद पर आधारित अथवा उसके अनुरूप हैं। फिर भी, इस विभेद का प्रत्यक्ष प्रभाव इस तथ्य से बहुत कम हो जाता है कि प्राचीन ऋषियों को, जो स्मृतियों के लेखक थे, जैसे मनु आदि, पवित्र माना गया है और माधव तथा शंकर ने इन्हें देवों के साक्षात्कार और मनुष्यों को अनुपलब्ध दिव्य रहस्यों के संबंध में प्राप्त स्पष्ट आन्तरिक प्रज्ञा के आधार पर अब लुप्त श्रुतियों का दर्शन करने वाला कहा है (पृ०१८७–१९२)। फिर भी, शकर (जैसा कि पृ० १९२–१९६ पर दिखाया गया है) सभी प्राचीन लोगों को इस प्रकार की सत्य सम्बंधी निर्दोष अन्तर्दृष्टि से युक्त न मानते हुए अपनी समस्त बौद्धिक कुशलता द्वारा प्रामाण्य के रूप में कपिल क अधिकार का (जिसे यद्यपि उपनिषदों ने स्पष्ट रूप से माना है) इसलिये प्रतिवाद करते हैं कि वे उनके वेदान्तिक माप-दण्ड के अनुसार आस्तिक नहीं है। फिर भी, कपिल के अपने अवमूल्यन में शंकर भागवत पुराण (पृ० २००) से असहमत हैं। तदुपरान्त मैंने यह दिखाया है (पृ० १९४–२०४) कि यद्यपि प्राचीनकाल में विभिन्न

दर्शन सम्प्रदायो के प्रणेता सभी विरोधी पद्धतियो के विपरीत निश्चित रूप से अपने-अपने मतों को ही सत्य होने के रूप में प्रतिपादित करते हैं, तथापि आधुनिक समय में वेदान्त की श्रेष्ठ आस्तिकता को ही सामान्य मान्यता प्रदान की गई है; जब कि मधुसूदन सरस्वती आदि जैसे लोगों ने अन्य पद्धतियों को, समस्त विभेदों के विपरीत भी वेदान्तिक सिद्धान्तों की पुष्टि करने वाला ही बताया है। साख्यसूत्र के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी वस्तुतः इसी दृष्टिकोण का अनुसरण किया है, जो (पृ० २०४–२११) यह मानते हैं कि नास्तिक होते हुए भी कपिल के मत की वेदान्त तथा अन्य आस्तिक दर्शन-सम्प्रदायों के साथ असंगति नही है, क्योंकि इसके द्वारा ईश्वर की अस्वीकृति केवल व्यावहारिक अथवा नियत्रक है जिसका प्रयोजन मनुष्यों को एक नित्य और पूर्ण ईश्वर की अत्यधिक साधना से दूर रखना है, क्योंकि इसके कारण उनके पदार्थ और आत्मा के विभेद के अध्ययन मे व्यवधान पड सकता है। मोक्ष प्राप्त करने के महान् माध्यम के रूप में मनुष्यों को इस विभेद की शिक्षा देना साख्य दर्शन के दो प्रमुख उद्देश्यो में से एक है, जो इसका सबल पक्ष है और यही यह प्रामाणिक भी है; जब कि नास्तिकता को इसका एक क्षीण पक्ष माना गया है और इस विषय पर इसका कोई प्रामाण्य भी नही है। विज्ञान भिक्षु यह भी कहते हैं कि यह मानने योग्य है कि पापियों को ज्ञान प्राप्ति से रहित रखने के लिये आस्तिक पद्धतियाँ भी ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकती हैं जो अंशतः वेद-विरुद्ध हों; और यद्यपि इन अशों में ये सदोष होंगी तथापि उन अशों में उनका प्रामाण्य बना रहेगा जो श्रुति और स्मृति के अनुकूल हैं। तदुपरान्त इन्होंने पद्मपुराण के एक स्थल का उदाहरण दिया है जिसमें शिव अपनी पत्नी पार्वती से यह कहते हैं कि वैशेषिक, न्याय, साख्य और पूर्व-मीमासा के दर्शन तथा वेदात का माया वाद तामस-युक्त पद्धतियाँ हैं जिसके कारण ये सब न्यूनाधिक मात्रा में अप्रामाणिक हैं। फिर भी, जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने कहा है, समस्त आस्तिक पद्धतियाँ अपने-अपने विषयों पर प्रामाण्य और निर्दोष हैं। और आत्मा की एकता विषयक साख्य और वेदात के बीच मतभेद के सम्बन्ध में इनका निष्कर्ष यह है कि प्रथम (साख्य) प्रामाण्य रहित नहीं है, क्योंकि आत्मा की प्रत्यक्ष अनेकरूपता को वेदान्त में भी स्वीकार किया गया है, और साख्य द्वारा प्रतिपादित विभेदात्मक ज्ञान मोक्ष का साधन है। इस प्रकार इन दोनों परस्पर भिन्न सिद्धान्तों में से यदि एक को व्यावहारिक (अथवा नियन्त्रक) और दूसरे को वास्तविक

(अथवा बोधातिरिक्त) मान लिया जाय तो ये परस्पर विरोधी नहीं रहेंगे। ग्यारहवें खण्ड के अन्त में (पृ० २१२-२१६) यह दिखाया गया है कि भारतीय भाष्यकारों द्वारा अपौरुपेय वेद तथा उसके कल्पसूत्र आदि पौरुपेय उपाङ्गों और स्मृतियों के बीच किया गया विभेद मेरे द्वारा उद्धृत कुछ अन्य स्थलों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। बृहदारण्यक और मुण्डक उपनिषद् (पृ० १२, ३५) विभिन्न प्रकार के समस्त शास्त्रों (चारों वेदों सहित) को एक ही वर्ग के अन्तर्गत रखते प्रतीत होते है। बृहदारण्यक उपनिषद् इन सब को संकीर्ण रूप से ब्रह्म का श्वास मानता है, जबकि मुण्डक उपनिषद् में इन सब को (उपनिषदों के अतिरिक्त) ब्रह्मविद्या अथवा 'श्रेष्ठविद्या' के विपरीत 'हीनविद्या' माना गया है। मुण्डक उपनिषद् की ही भाँति छान्दोग्य उपनिषद् (पृ० ३७ और बाद में उद्धृत) में भी चारों वेदों को अनेक प्रकार के शास्त्रों (जिनका लौकिक ज्ञान की सीमा से बाहर गये विना ही नारद ने अध्ययन किया था) के साथ एक ही वर्ग के अन्तर्गत रखते हुये कहीं भी यह नहीं कहा है कि वेद इन अन्य से किसी प्रकार श्रेष्ठ हैं। फिर भी, वेदों तथा अन्य शास्त्रों के बीच अत्यधिक अन्तर मानने के आधुनिक सिद्धान्तो के अनुरूप ही यतः शङ्कर यह स्वीकार नही कर सके हैं कि अन्य शास्त्रों की भी वेद के समान ही उत्पत्ति हुई हो सकती है, अतः उन्होंने बृहदारण्यक उपनिषद् के उक्त स्थल के अपने भाष्य में यह दिखाने का प्रयास किया है कि अन्य शास्त्र, जिन्हें वहाँ वेदों के साथ-साथ परम पुरुष के निःश्वास से उत्पन्न बताया गया है, वास्तव में ब्राह्मणों के ही अंश थे। जिन समस्त कृतियों की गणना कराई गई है उनमें से सबके लिये यही व्याख्या कदाचित् ही उपयुक्त हो सकती हैं, और मुण्डक तथा छान्दोग्य उपनिषदों के अन्य स्थलों की प्रकृति के द्वारा इस तर्क की शक्ति और क्षीण हो जाती है। साथ ही इस प्रकार के किसी विभेद का (पृ० ३२-३५ और ११३ पर उद्धृत) इतिहास और पुराण के वक्तव्य से भी प्रतिवाद होता है।

बारहवें खण्ड (पृ० २१६-२२५) में वेद का समर्थन करने वाले दार्शनिक सम्प्रदायों तथा विभिन्न भाष्यकारों के तर्कों का सिंहावलोकन करते हुये इन पर कुछ टिप्पणी की गई है। मेरे विचारों का उद्देश्य यह दिखाना है कि इस विषय से सम्बद्ध तर्क या तो अनिर्णायक हैं, अथवा जिस बात को सिद्ध करना है उसे ही मान लेते हैं। साथ ही यह भी कि स्वयं सूक्तों के विषय-वस्तु द्वारा यह सिद्ध होता है कि ऋषिगण ही

उनके प्रणेता थे, तथा वेद में अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो कालगत है। जैसा कि हम देख चुके हैं (ऊपर पृ० १२), शङ्कर ने भी इसे स्वीकार किया है।

द्वितीय अध्याय (पृ० २२६–३०३) में वैदिक सूक्तों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋषियों के मतों को प्रस्तुत किया गया है। इसका उद्देश्य विस्तार से यह दिखाना है कि, यद्यपि कम से कम कुछ ऋषियों ने धार्मिक भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति में अपने को देवों से प्रेरित माना है, तथापि इसके साथ ही साथ उन्होंने सूक्तों को या तो स्वय अपनी अथवा (सम्भवतः) अपने पूर्वजों की ही कृतियाँ कहा है, और अपने तथा उनके वीच नवीन और प्राचीन होने के रूप में विभेद करते हुये अपने कृतित्व का ऐसे शब्दों में वर्णन किया है जो इस वास्तविकता की चेतन अनुभूति पर ही आधारित है। इस अध्याय के पहले, दूसरे, तथा तीसरे खण्डों (पृ० २२७–२५८) में ऋग्वेद के ऐसे स्थलों का संग्रह किया गया है जिनमें (१) प्राचीन और नवीन के रूप में ऋषियों का, तथा (२) प्राचीन और अपेक्षाकृत नवीन के रूप में सूक्तों का विभेद किया गया है; तथा (३) जिनमें ऋषियों ने अपने को सूक्तों का कर्त्ता, रचयिता अथवा उत्पन्न कर्त्ता वताया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों का भी उद्धरण दिया गया है जिनमें इस प्रकार के कर्तृत्व की भावना यद्यपि व्यक्त नहीं, तथापि निहित अवश्य प्रतीत होती है। चौथे खण्ड (पृ० २५८–३००) में इसी वेद से अनेक अन्य स्थलों का उद्धरण दिया गया है जिनमें (१) प्राचीन ऋषियों को अलौकिक प्रकृति या ज्ञान से युक्त वताया गया है; और (२) यह विचार व्यक्त किया गया है कि ऋषियों की प्रशस्तियों और कृत्यों का सामान्य रूप से देवों ने, अथवा विशेषरूप से, वाग्देवी ने, अथवा वैदिक देवमण्डल के किसी अन्य देवता या देव वर्ग ने ही ससूचन अथवा निर्देशन किया था। प्राचीन भारतीय ऋषियों के स्वय अपनी प्रेरणा सम्वन्धी जिन विचारों का मैंने उद्धरण दिया है, उनका उदाहरण देने तथा उन्हें और अधिक वोधगम्य और सम्भाव्य वनाने के लिये मैंने इसी खण्ड (पृ० २८३–२८६) में हेसियड और होमर के अनेक उद्धरण देकर यह दिखाया है कि आरम्भिक यूनानी चारणों का भी अपने सम्वन्ध में ऐसा ही विश्वास था। तदुपरान्त (पृ० २८६–२६०) में यूनान तथा भारत के धार्मिक इतिहासों में वाद में लक्षित होने वाले उल्लेखनीय विभेद के विषय पर लौटा हूँ। इसके वाद मैंने संक्षिप्त रूप

से (पृ०२८६–२६०) इस बात का अनुसन्धान किया है कि एक ओर सूक्तों को स्वयं अपनी कृतियाँ मानने तथा, दूसरी ओर, उनके देव-प्रेरित होने के ऋषियों के प्रत्यक्षतः परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। इसके बाद (पृ० २६१–२६६) ऋग्वेद से कुछ अन्य उद्धरण दिये गये हैं जिनमें सूक्तों को एक रहस्यात्मक, अभिचारीय, अथवा अलौकिक प्रभावशीलता से युक्त बताया गया है। इनके बाद (पृ० २६७–३००) इसी वेद के कुछ और उद्धरण हैं जिनमें उनके कर्त्ताओं ने अपने अपने अज्ञान को व्यक्त किया है; और इसी सन्दर्भ में वेदों तथा सार्वभौमिक ज्ञान प्रदान करने की उनकी क्षमता के सम्बन्ध में इन विनम्र स्वीकारोक्तियों तथा बाद के धर्मशास्त्रियों की दर्पपूर्ण आधिकारिकताओं के बीच के विरोध को स्पष्ट किया गया है। अपनी प्रेरणा के सम्बन्ध में स्वयं ऋषियों के विचारों तथा बाद के धर्मशास्त्रियों के मतों में अत्यधिक विभेद है; क्योंकि जहाँ ऋषियों ने देवों को, जो केवल सृजित प्राणी ही माने गये हैं, दिव्य प्रकाश का स्रोत माना है, वहीं बाद के धर्मशास्त्रियों ने या तो वेद को नित्य कहा है, अथवा नित्य ब्रह्म अथवा ईश्वर को उनका कर्त्ता माना है। पाँचवें और अन्तिम खण्ड (पृ० ३००–३०३) में श्वेताश्वतर, मुण्डक और छान्दोग्य उपनिषदों के कुछ उद्धरण दिये गये हैं जो लेखकों द्वारा अपने पूर्वगामियों के प्रेरणा-सम्बन्धी मतों को व्यक्त करते हैं। साथ ही, जैसा कि पृ० ३२–३५ पर उद्धृत स्थलों से स्पष्ट है, इतिहास और पुराण के लेखकों की भी इसी प्रकार की उक्तियों का उल्लेख किया गया है।

अपनी समस्त अपूर्णताओं के विपरीत भी प्रस्तुत ग्रन्थ सम्भवतः कुछ अंशों तक न केवल भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिये ही वरन् संन्यासियों और दार्शनिकों के लिये भी मनोरंजक सिद्ध होगा क्योंकि इसमें ऐसे धर्मशास्त्रीय विचारों की दिशा का उदाहरण मिलेगा जो योरोपीय विद्यार्थी के सामान्य निरीक्षण से अत्यन्त दूर है—एक ऐसी दिशा का, जो विवेच्य विषय में ही निहित गुणों से सर्वथा स्वतंत्र भी, मेरे विचार से, अनेक रूपों में उन धार्मिक पद्धतियों के इतिहास में, जिनसे हम सर्वाधिक परिचित हैं, लक्षित होने वाली प्रवृत्तियों के साथ उल्लेखनीय समानान्तरता व्यक्त करती है। दोनों ही दशाओं में हम देखते है कि उत्कट भावनाओं, सरल आस्थाओं और अस्फुट विचारों के एक पूर्वग काल के पश्चात् आलोचना और कल्पना का एक ऐसा समय आया जब विगत पीढ़ियों

द्वारा प्रदत्त अस्थिर विषयों का तुलनात्मक अध्ययन और वर्गीकरण करते हुये उनमें सामञ्जस्य स्थापित किया गया, तथा उनको विकसित करते हुये अनेक पाण्डित्यपूर्ण पद्धतियों के रूप मे उनकी व्याख्या की गई।

प्रथम संस्करण की भूमिका में मैंने इस प्रकार कहा था : 'ऋग्वेद से उद्धृत स्थलों के सम्बन्ध में भी मैंने एम० लैंग्लोई के फ्रेन्च अनुवाद से वैसे ही सहायता प्राप्त की है जैसी मैंने द्वितीय भाग की भूमिका में स्वीकार की है। कुछ वैदिक स्थलों के लिए मे वॉटलिङ्क और रॉथ के कोश का भी ऋणी हूँ।'

प्रथम तथा वर्तमान संस्करण की तुलना से यह स्पष्ट होगा कि इसमें पर्याप्त परिवर्तन और सवर्द्धन किया गया है। पहले जो उद्धरण परिशिष्ट में दिये गये थे उन्हें अब ग्रन्थ के मूल अश में उपयुक्त स्थलो पर स्थानान्तरित कर दिया गया है, और साथ ही, अनेक अन्य स्थलों को भी जोड दिया गया है। इस प्रकार जोडे गये प्रमुख स्थलो को प्रथम चार और नवें (पृ० १२४–१३५), दसवें (जो सर्वथा नवीन है). ग्यारहवें (पृ० १६३ आर वाद) खण्डो, तथा परिशिष्ट में देखा जा सकता है।

इस कृति के विभिन्न अशो से सम्बद्ध सहायता के लिये मैं अनेक विद्वान् मित्रों का आभारी हूँ और इसे मैने पाद–टिप्पणियों में यथा स्थान स्वीकार किया है। प्रोफेसर गोल्डस्टूकर तथा कोवेल भी मेरे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होने ग्रन्थ के मूल भाग अथवा परिशिष्ट में उद्धृत पाण्डित्यपूर्ण या दार्शनिक स्थलों के मेरे अनुवाद के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन—ऐसे सशोधन जिन्हें मैंने अपने अनुवाद में ग्रहण कर लिया है—तथा कुछ अन्य टिप्पणियाँ और परामर्श दिये हैं जिन्हें पाद टिप्पणियों या परिशिष्ट में देखा जा सकता है। इस कृति के आरम्भिक अशों में अपने अनुवाद के कुछ संशोधनो, तथा साथ ही साथ, द्वितीय अध्याय मे उद्धृत ऋग्वेद के अनेक स्थलों की व्याख्या के लिये मैं प्रोफेसर ऑफरेख्त का भी आभारी हूँ।

एडिनबर्ग
नवम्बर, १८६८

जे० म्यूइर

विषयसूची

पृष्ठ

मूल संस्कृत उद्धरण

तृतीय भाग

अध्याय १

ऋग्वेदिक सूक्तों के संग्रह के ठीक पूर्व अथवा उसके पश्चात् के भारतीय ग्रन्थकारों के, वेदों की उत्पत्ति, विभाजन, प्रेरणास्रोत और आधिकारिकता सम्बन्धी विचार।

प्रस्तुत कृति[1] के गत भागों में मैंने वेद अथवा श्रुति के नाम से प्रचलित प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का एक सामान्य विवरण प्रस्तुत किया है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इन कृतियों को, जो कि हिन्दुओं के प्राचीनतम साहित्य का निर्माण करती है, विस्तृत आशय में दो वर्गों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है. (१) मन्त्र अथवा सूक्त, जिनमें देवों की स्तुतियाँ और प्रख्याति, और उनके आशीर्वाद का आवाहन किया गया है; (२) ब्राह्मण-ग्रन्थ, जिनके अन्तर्गत (क) सामाजिक प्रार्थना सम्बन्धी वह स्थापनायें जिनमें उक्त सूक्तों की सांस्कारिक व्यावहारिकता का उद्घाटन, विभिन्न यज्ञ-संस्कारों का निर्धारण, और इनके विभिन्न रूपों की उत्पत्ति तथा गुह्यार्थों को व्यक्त किया गया है, और (ख) आरण्यक[2] तथा उपनिषद् (जिन्हें वेदान्त, अर्थात् वेदों का अंतिम अंश भी कहा गया है), जिनमें कुछ अंशों तक तो ब्राह्मणों के कुछ प्राचीन स्थलों जैसे ही गुण हैं, किन्तु कुछ अंशों तक ऐसे ईश्वरशास्त्रीय रहस्योद्घाटन भी जिनमें अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धालु भारतीय ऋषियों की प्रज्ञा द्वारा क्रमशः विकसित आध्यात्मिक स्पृहायें सुरक्षित हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सूक्त ही वेदों के मूल, और कुछ दृष्टियों से सर्वाधिक अनिवार्य, भाग का निर्माण करते हैं। ब्राह्मणों की उत्पत्ति सूक्तों से ही हुई और उपासना के हेतु यह सूक्तों के ही अत्यनुवर्ती हैं; जब कि उपनिषदों

---

[1] देखिये भाग १। प्रोफेसर मैक्स मूलर की हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर भी देखिये।

[2] अधिक ठीक-ठीक विवरण के लिये देखिये मैक्स मूलर: ऐ० स० लि०, पृ० ३१३ और बाद, जिसके अध्ययन से यह प्रकट होगा कि कुछ आरण्यक ही ब्राह्मणो के अंशो का निर्माण करते हैं, और उपनिषदो मे से दो, एक सहिता के अन्तर्गत आ गये हैं।

में ऐसे रहस्यवादी और कल्पनात्मक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है, जिन्हें, यद्यपि कुछ सीमा तक सूक्तों और ब्राह्मणों के प्राचीन अंशों में भी देखा जा सकता है, तथापि यह अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व और सर्वथा महत्त्वपूर्ण रूप धारण कर चुके हैं।

जो पाठक सूक्तों की प्रकृति तथा उनमें निहित पुराकथाशास्त्र के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये मैं यहाँ केवल निम्न ग्रन्थकारों की कृतियों की ओर संकेत मात्र कर देने तक अपने को सीमित रक्खूँगा : ऋग्वेद के आरम्भिक स्थलों का स्वर्गीय प्रोफेसर एच० एच० विलसन का अनुवाद, और अनेक ग्रन्थों पर लिखी गई उनकी भूमिकायें; प्रोफेसर मैक्स मूलर का हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, और रायल एशियाटिक सोसायटी में मेरे दो लेख जिनका शीर्षक (का हिन्दी अनुवाद) 'ऋग्वेद के जगत्सृष्टिमीमांसा और पुराकथाशास्त्रीय विषयवस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में अध्ययन' है। प्रस्तुत कृति के चतुर्थ भाग में मैं इस वाद के विषय पर पुनः लौटा हूँ, जहाँ मैंने विभिन्न उपास्य विषय-वस्तुओं से सम्बन्धित ऋषियों की धारणाओं के साथ, बाद के काल की, चाहे पुराकथा-शास्त्रीय अथवा ईश्वरशास्त्रीय, रचनाओं में आनेवाले और उन्हीं नामों का प्रतिनिधित्व करनेवाले देवों की धारणा के साथ तुलना की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मेरा प्रस्तावित उद्देश्य वेदों की उत्पत्ति और आधिका-रिकता-सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दू लेखकों के विचारों का कुछ विवरण प्रस्तुत करना है। इसी दृष्टि से मैंने कुछ बाद के सूक्तों, वैदिक काल के मध्य और बाद के भारतीय ग्रन्थों (ब्राह्मणों और उपनिषदों), और वैदिकोत्तर काल के लोकोचित अथवा वैज्ञानिक ग्रन्थों (पुराण, इतिहास, मनुस्मृति, विभिन्न दर्शन-सूत्र और उनके भाष्य, तथा वेदों के भाष्य) से ऐसे स्थलों का संग्रह किया है जिनमें मैं इस विषय का सन्दर्भ देख सका। साथ ही मैं इन स्थलों पर व्यक्त विचारों के साथ इस विषय पर अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन सूक्तों के लेखकों के उन विचारों की तुलना करना चाहता हूँ, जो उनकी स्वयं अपनी रचनाओं के अनेक स्थलों से निष्कृष्ट हो सकते हैं।

वेदों के उत्पत्ति-सम्बन्धी जो पौराणिक विवरण दिये गये हैं वह परस्पर असंगत है। कुछ स्थलों पर इन्हें प्रजापति द्वारा अग्नि, वायु और सूर्य, अथवा अन्य किसी पद्धति से सृजित बताया गया है। अन्य ग्रन्थों में इन्हें ब्रह्मा द्वारा अपने विभिन्न मुखों से, अथवा गायत्री के हस्तक्षेप से, अथवा देवी

सरस्वती से, अथवा किसी अन्य प्रकार से ही उत्पन्न बताया गया है। नीचे हम ऐसे ही विभिन्न स्थलों का उद्धरण देंगे।

खंड १—पुरुष-सूक्त, अथर्ववेद, ब्राह्मणों, उपनिषदों, और मनुस्मृति के अनुसार वेदों की उत्पत्ति।

पुरुष-सूक्त :—इस सूक्त (ऋग्वेद १०. ९०, जिसे भाग १ में उद्धृत किया जा चुका है) के नवम मन्त्र में तीनों वेदों को एक पौराणिक 'पुरुष' द्वारा उत्पन्न बताया गया है :

> तस्माद् यज्ञात् सर्व-हुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
> छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत ॥

अर्थात् 'उस सर्वात्मक पुरुष के यज्ञ से ऋच् और सामान मन्त्रों की उत्पत्ति हुई : उसी से विभिन्न छन्द उत्पन्न हुये : और उसी से यजुष् की भी उत्पत्ति हुई।'[3]

ऋग्वेद के सूक्तों में केवल यही एक मात्र स्थल है, जहाँ वेदों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

अथर्ववेद के निम्नलिखित स्थल इसी विषय से सम्बद्ध हैं :

१०. ७, १४—यत्र ऋषयः प्रथमजाः ऋचः साम यजुर् मही। एकर्षिर् यस्मिन्न आर्पितः स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः ॥

... .२० यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर् यस्माद् अपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः।

'जिसमें आदिकालीन ऋषिगण, ऋच्, सामन्, और यजुष्, पृथ्वी, और

---

[3] 'वेद' शब्द, चाहे हम उसे किसी भी अर्थ मे ग्रहण करें, ऋग्वेद, ८ १९, ५ : 'य. समिधा यः आहुती यो वेदेन ददाश मर्त्यो अग्नये। यो नमसा स्वध्वरः। ६ : तस्य इद् अर्वन्तो रंहयन्ते आशवस् तस्य द्युम्नितम यशः। न तम् अंहो देव कृतं कुतश् चन न मर्त्य-कृतं नशत।' मे आता है, अर्थात् 'जो मनुष्य यज्ञ मे आस्था रखता है, समिधा, आहुतियो, सस्कारो के ज्ञान (?), और भक्ति के साथ अग्नि की सेवा करता है उसके अश्व (६) द्रुतगति वाले होते हैं; वह सर्वाधिक यशस्वी होता है और किसी भी दैवी अथवा मानवीय विपत्ति से ग्रसित नही होता।'

एकर्षि निहित हैं, उस स्कम्भ को कहो।......२०—उस स्कम्भ के विषय में कहो जिससे उन्होंने ऋगवेद के मंत्रों का निर्माण किया, जिससे उन्होंने यजुर्वेद को बनाया और साम जिसके लोम हैं, तथा अथर्वन् और अङ्गिरस् के मंत्र जिसके मुख।'

१३. ४, ३८ : 'स वै ऋग्भ्यो अजायत तस्माद् ऋचो अजायन्त।' अर्थात् "वह (प्रत्यक्षत. इन्द्र, देखिए मन्त्र ४४) ऋक् मन्त्रों से उत्पन्न हुआ : ऋक्-मंत्र उससे उत्पन्न हुये।"

१६. ५४, ३ : कालाद् ऋचः समभवन् यजुः कालाद् अजायत।' अर्थात् "काल (समय) से ऋक्-मंत्र उत्पन्न हुये : यजुष् भी काल से उत्पन्न हुआ।"[४]

इसी वेद के निम्नलिखित उद्धरणों को भी यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है :

४. ३५, ६ : यस्मात् पकाद् अमृत सम्वभूव यो गायत्र्याः अधिपतिर् बभूव। यस्मिन् वेदाः निहिता. विश्वरूपास् तेनौदनेनाति तरामि मृत्युम्।

अर्थात् "जिस ओदन के पाकयुक्त होने पर अमृत उत्पन्न हुआ, जो गायत्री का अधिपति हुआ, और जिसमें विश्वरूप वेद निहित हैं, मैं उस ओदन के द्वारा मृत्यु से तरता हूँ।"

७. ५४, १ : ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः। २. ऋचं साम यद् अप्राक्षम् हविर् ओजो यजुर् वलम्। एप मा तस्माद् मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते। अर्थात् "हम उस ऋग्वेद और सामवेद की पूजा करते हैं जिनके आधार पर मनुष्य-गण धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करते हैं, जो सभा में प्रकाशमान होते हैं, और देवों को यज्ञभाग पहुँचाते हैं। १॥ यतः मैंने ऋक् और सामवेद से हवि और ओज की, तथा यजुर्वेद से शक्ति की याचना की, अत: हे शक्ति के अधिपति (इन्द्र) इस प्रकार निवेदित वेद मेरी हिंसा न करें।"

---

[४] देखिये ज० ए० सो०, १८६५, पृ० ३८१, पर मेरा इस सम्पूर्ण सूक्त का अनुवाद। विष्णु पुराण (१. २, १३) का कथन है कि : 'तद् एव सर्वम् एवैतद् व्यक्ताव्यक्त-स्वरूपवत्। तथा पुरुष-रूपेण काल-रूपेण च स्थितम्।' अर्थात् 'यह ब्रह्म ही समस्त विश्व है, जो व्यक्त और अव्यक्त दोनो रूपो मे वर्तमान है, यही पुरुष-रूप तथा काल-रूप मे भी स्थित है।'

दूसरा स्थल शतपथ ब्राह्मण, ११. ५, ८, १ और बाद, से उद्धृत किया जा रहा है, यथा : प्रजापतिर् वै इदम् अग्रे आसीद् एकः एव। सोऽकामयत् स्याम् प्रजायेय इति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। तस्माच् छ्रान्तात् तेपानात् त्रयो लोकाः असृज्यन्त पृथिव्य् अन्तरिक्ष द्यौः। स इमांस् त्रीण् लोकान् अभितताप। तेभ्यस् तप्तेभ्यस् त्रीणि ज्योतींष्य् अजायन्त अग्निर् योऽयम् पवते सूर्यः। स इमानि त्रीणि ज्योतींष्य् अभितताप। तेभ्यस् तप्तेभ्यस् त्रयो वेदाः अजायन्त अग्नेर् ऋग्वेदो वायोर् यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः। स इमांस् त्रीन् वेदान् अभितताप। तेभ्यस् तप्तेभ्यस् त्रीणि शुक्राण्य् अजायन्त भूर् इत्य् ऋग्वेदाद् भुवः इति यजुर्वेदात् स्वर् इति सामवेदात्। तद् ऋग्वेदेनैव होत्रम् अकुर्वत यजुर्वेदेन आध्वर्यवं सामवेदेन उद्गीथम्। यद् एव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वम् उच्चक्राम।

"आरम्भ में अकेले प्रजापति का ही एक मात्र अस्तित्व था, वही समस्त विश्व था। उसने इच्छा की कि 'मैं प्रजनन् करूँ।' उसने भक्तिपूर्वक श्रम और तपस्या की। जब उसने इस प्रकार श्रम और तपस्या की तो उससे तीन लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष, और आकाश—की रचना हुई। उसने इन तीनों लोकों को ताप से युक्त किया। इस प्रकार तप्त होने पर इनसे तीन प्रकाशों—अग्नि, वह जो पवित्र करता है (अर्थात् 'पवन' अथवा 'वायु'),[५] और सूर्य—की उत्पत्ति हुई। उसने इन प्रकाशों को भी ताप से युक्त किया। इस प्रकार तप्त होने पर इनसे तीन वेदों की उत्पत्ति हुई—अग्नि से ऋग्वेद की, वायु से यजुर्वेद की, और सूर्य से सामवेद की। उसने इन तीनों वेदों को ताप से युक्त किया। इस प्रकार तप्त होने पर इनसे तीन तेजपूर्ण तत्वों की उत्पत्ति हुई—भूः से ऋग्वेद की, भुवः से यजुर्वेद की, और स्वर् से सामवेद की। अतः उन्होंने ऋग्वेद से 'होतृ', यजुर्वेद से 'अध्वर्यु', और सामवेद से 'उद्गातृ' के कार्य किये, जब कि 'ब्रह्मन्' के कार्य की त्रिविद्या (अर्थात् संयुक्त रूप से तीनों वेदों से) के तेज से उत्पत्ति हुई।"

छान्दोग्य उपनिषद :—इसी के समान एक अन्य स्थल (जिसे द्वितीय भाग में उद्धृत किया जा चुका है) छान्दोग्य उपनिषद् (४. १७. १–३) (डा० रूअर का संस्करण पृ० २८८) में भी आता है :

---

[५] देखिये शतपथ ब्राह्मण ६ १, २, ११ ... 'अयम् एव स वायुर् योऽयम् पवते', अर्थात् 'यह वह वायु ही है जो पवित्र करता है।'

"प्रजापतिर् लोकान् अभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहद् अग्निम् पृथिव्याः वायुम् अन्तरिक्षाद् आदित्यं दिवः। १ ॥ स एतास् तिस्रो देवता अभ्यतपत्। तासां तप्यमानानां रसान् प्रावृहद् अग्नेर् ऋचो वायोर् यजूंषि साम आदित्यात्। २ ॥ स एतां त्रयीं विद्याम् अभ्यतपत्। तस्यास तप्यमानायाः रसान् प्रावृहद् भूर् इति ऋग्भ्यो भुवर् इति यजुर्भ्यः स्वर् इति सामभ्यः। ३ ॥

"प्रजापति ने लोकों को तप्त किया। उनके इस प्रकार तप्त हो जाने पर उसने उनके सार-रूप रसों को, अर्थात् पृथिवी से अग्नि को, अन्तरिक्ष से वायु को, और आकाश से सूर्य को निकाला। उसने तब इन तीन देवों को तप्त किया। इनके इस प्रकार तप्त हो जाने पर उसने इनके सार-रूप रसों को, अर्थात् अग्नि से ऋचाओं को, वायु से यजुष् को, तथा सूर्य से सामनों को निकाला। तब उसने इस त्रयी-विद्या को तप्त किया। इनके इस प्रकार तप्त हो जाने पर उसने इनके सार-रूप रसों को, अर्थात ऋचाओं से 'भू' को, यजुष् से 'भुव' को, और सामन् से 'स्वर्' को निकाला।"[६]

मनु:—सृष्टि-रचना सम्बन्धी मनुस्मृति (१. २१—२३) के निम्नलिखित विवरण में भी तीनों वेदों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई बताई गई है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह विचार ब्राह्मणों से ही लिया गया है :

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश् च निर्ममे। २१ ॥ कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः। साध्यानां च गण सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्। २२ ॥ अग्नि-वायु-रविभ्यस् तु त्रयम् ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञ-सिद्ध्यर्थम् ऋग्-यजुः-साम-लक्षणम्। २३ ॥

"सृष्टि के आरम्भ में उसने (ब्रह्मा) ही वेद[७] के शब्दों के अनुसार सब (प्राणियों) के अनेक नाम और कर्म तथा उनकी पृथक्-पृथक् अवस्थायें बनाईं। २१ ॥ उस ब्रह्मा ने देवताओं और समस्त जीवों की, तथा सूक्ष्म साध्य-

---

[६] ऐतरेय (५. ३२-३४) और कौषीतकि ब्राह्मणो मे भी इसी विषय से सम्बद्ध स्थल मिलते हैं। इस प्रथम ग्रन्थ के स्थल डा० हॉग द्वारा किये गये इसके अंग्रेजी, तथा द्वितीय के इन्डिशे स्टूडियन (२. ३०३ और वाद) मे वेबर के जर्मन अनुवाद मे देखे जा सकते हैं।

[७] कुल्लूक ने इसकी इस अर्थ मे व्याख्या की है - 'वेद-शब्देभ्य. एव अवगम्य', अर्थात 'वेद के शब्दो द्वारा उन्हे समझ कर।'

गणों की सृष्टि की, और सनातन यज्ञों को बनाया। २२॥ यज्ञादि सम्पन्न करने के लिए उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, और सूर्य से दोहन करके उन सनातन त्रि-वेदों को प्रकट किया, जिन्हें ऋच्, यजुष्, और सामन् कहते हैं। २३॥"

भाष्यकार कुल्लूक भट्ट ने इस स्थल पर इन शब्दों में टीका की है :

'सनातन नित्यम्। वेदापौरुषेयत्व-पक्षो मनोर् अभिमत.। पूर्व-कल्पे ये वेदास् ते एव परमात्म-मूर्त्तेर् ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्य्-आरूढाः। तान् एव कल्पादाव् अग्नि-वायु-रविभ्यः आचकर्ष। श्रौतश् च अयम् अर्थो न शण्कनीयः। तथाच श्रुतिः। 'अग्नेर् ऋग्वेदो वायोर् यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः' इति॥

" 'सनातन' शब्द का अर्थ 'चिरन्तन' अथवा 'नित्य' है। मनु ने भी वेदों के अपौरुषेय होने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। जो वेद पूर्व कल्प में वर्तमान थे वही परमात्मा में लीन सर्वज्ञ ब्रह्मा की स्मृति में सुरक्षित रहे, और वर्तमान कल्प के आरम्भ में उन्हीं वेदों को ब्रह्मा ने अग्नि, वायु तथा सूर्य से प्रकट किया : इस सिद्धान्त पर, जो वेदों पर आधारित है, शङ्का नहीं की जाती, क्योंकि वेदों का ही कथन है कि 'ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से, और सामवेद सूर्य से प्रकट हुआ।' "

मनुस्मृति के एक अन्य भाष्यकार, मेधातिथि ने यह कहते हुए कि 'ऋग्वेद का आरम्भ अग्नि को समर्पित सूक्त से और यजुर्वेद का एक ऐसे सूक्त से जो वायु को समर्पित है' (कोल० मिस० पृ० १. ११, नोट), इस स्थल की अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत व्याख्या की है।

उपरोद्धृत मनु के श्लोकों (१. २१–२३) के ही सन्दर्भ में, शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् के पूर्वोद्धृत स्थलों की समानान्तरता को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए, निम्नलिखित श्लोकों को भी उद्धृत किया जा सकता है :

मनु० २. ७६ : अकारं चाप्य् उकारं च मकारं च प्रजापतिः। वेद-त्रयाद् निरदुहद् भूर् भुवः स्वर् इतीति च॥ ७७. त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्य. पादम् पादम् अदूदुहत्। 'तद्' इत्य् ऋचोऽस्याः साविऽयाः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ... ८१. ओंकार-पूर्विकास् तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्यया.। त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥

"प्रजापति ने तीनों वेदों से ही दोहन करके 'अकार', 'उकार', और मकार' को, तथा 'भूः', 'भुवः' और 'स्वर्' को भी प्रकट किया। ७७. इसी परम-

श्रेष्ठ प्रजापति ने तीनों वेदों में से प्रत्येक से क्रमशः ही 'तत्'[८] से आरम्भ होने वाले 'सावित्री' (अथवा 'गायत्री') पाठ के तीन पादों का दोहन किया।... ८१. ओंकार सहित तीन महान् और अनश्वर व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वर्); और तीन पादोंवाले गायत्री को ब्रह्मा का मुख मानना चाहिये।"

शतपथ ब्राह्मण के निम्नोद्धृत दूसरे स्थल (६. १, १, ८–११) पर सर्वप्रथम सामान्य रूप से प्रजापति द्वारा तीनों वेदों की सृष्टि का, और उसके बाद, कुछ असङ्गत रूप से जलों से, वेदों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है[९] :

'सोऽयम् पुरुष. प्रजापतिर् अकामयत 'भूयान् स्याम् प्रजायेय' इति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। श्रान्तस् तेपानो ब्रह्म एव प्रथमम् असृजत त्रयीम् एव विद्याम्। सा एव अस्मै प्रतिष्ठाऽभवत्। तस्माद् आहुर् 'ब्रह्म अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा' इति। तस्माद् अनूच्य प्रतितिष्ठति। प्रतिष्ठा ह्य् एषा यद् ब्रह्म। तस्याम् प्रतिष्ठायाम् प्रतिष्ठितोऽतप्यत॥ ६. सोऽपोऽसृजत वाचः एव लोकात्। वाग् एव अस्य साऽसृज्यत। सा इदं सर्वम् आप्नोद् यद् इदं किञ्च। यद् आप्नोत् तस्माद् आपः। यद् अवृणोत् तस्माद् वाः॥ १०. सोऽकामयत 'आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय' इति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सह अपः प्राविशत्। तत' आण्डं समवर्त्तत। तद् अभ्यमृशत्। 'अस्त्व्' इत्य् 'अस्तु भूयोऽस्त्व्' इत्य् एव तद् अब्रवीत्। ततो ब्रह्म एव प्रथमम् असृज्यत त्रय्य् एव विद्या। तस्माद् आहुर् 'ब्रह्म अस्य सर्वस्य प्रथमजम्' इति। अपि हि तस्मात् पुरुषाद् ब्रह्म एव पूर्वम् असृज्यत तद् अस्य तद् मुखम् एव असृज्यत। तस्माद् अनूचानम् आहुर् 'अग्नि-कल्प'' इति। मुख ह्य् एतद् अग्नेर् यद् ब्रह्म।

"उस पुरुष प्रजापति ने इच्छा की कि 'मैं सृष्टि-रचना करूँ।' उसने भक्ति पूर्वक श्रम किया, उसने तप किया। इस प्रकार श्रम और तप द्वारा उसने सर्वप्रथम पवित्र त्रयी-विद्या अर्थात् वैदिक विज्ञान का सृजन किया। यह उसके लिये आधार बन गया। इसीलिये मनुष्य ऐसा कहते हैं कि 'पवित्र विद्या ही विश्व का आधार है।' अत. वेदाध्ययन करने से मनुष्य को एक आधार-भूमि प्राप्त हो जाती है; क्योंकि यह पवित्र विद्या ही उसका आधार होता है। इसी के आधार पर उसने (प्रजापति ने) तपस्या की।

---

[८] यह मन्त्र (ऋग्वेद ३ ६२, १०) आगे उद्धृत किया गया है।

[९] गत सन्दर्भ के साथ यह स्थल प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ भाग मे उद्धृत किया गया है।

९. उसने 'वाच्' से उसके संसार स्वरूप जलों की रचना की। वाच् उसका हुआ : उसकी रचना हुई। वह उन सभी में व्याप्त हो गया जिनका अस्तित्व था। यतः वह सर्वत्र व्याप्त (आप्नोत्) हुआ, अतः जलों को 'आपः' कहा गया। यतः उसने सबको आच्छादित (अवृणोत्) कर लिया, अतः उसे 'वार्' कहा गया। १०. उसने कामना की कि 'इन जलों से मेरी सन्ततिवृद्धि हो'। त्रिगुणात्मक वैदिक-विज्ञान सहित उसने जलों में प्रवेश किया। उससे एक अण्डे की उत्पत्ति हुई। उसमें उसने प्राण का संचार किया; और कहा 'उसका अस्तित्व हो, उसका पुनः अस्तित्व हो।' इसी से सर्वप्रथम पवित्र विद्या, त्रिगुणात्मक वैदिक विज्ञान का सृजन हुआ। इसीलिये मनुष्य यह कहते हैं कि 'इस विश्व में पवित्र विद्या ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुई। साथ ही, यह पवित्र विद्या ही थी जो उस सम्मुख पुरुष से सृजित हुई और इसीलिए इसकी उसके मुख के रूप में रचना हुई। इसीलिये किसी वेद-विद् व्यक्ति के लिये यह कहा जाता है कि, 'वह अग्नि के समान है, क्योंकि यह पवित्र विद्या अग्नि का मुख है'।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण (२. ३, १०, १) के निम्नोद्धृत स्थल का संक्षेप में यह कथन है कि वेदों की सृष्टि सोम के पश्चात् हुई :

प्रजापतिः सोमं राजानम् असृजत। त त्रयो वेदाः अन्व् असृज्यन्त।

"प्रजापति ने राजा सोम की रचना की, उसके बाद तीन वेदों की सृष्टि हुई।"

एक अन्य स्थल (३. ३, २, १) पर यही ब्राह्मण वेदों को प्रजापति से निष्कृष्ट बताता है (प्राजापत्यो वेदः)।

शतपथ ब्राह्मण:—शतपथ ब्राह्मण के निम्नोद्धृत स्थल (१४. ५, ४, १०=बृहदारण्यक उपनिषद्, रुअर का संस्करण, पृ० ४५५, और आपके अनुवाद का ही पृ० १७९) के अनुसार वेद तथा अन्य शास्त्र भी, ब्रह्म के निश्वास हैं :

स यथा आर्द्रैधाग्नेर् अभ्याहितात् पृथग् धूमाः विनिश्चरन्ति एवं वै अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्य् अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निश्वसितानि।

"जिस प्रकार भीगी लकड़ी द्वारा जलायी गयी अग्नि से विभिन्न प्रकार का धूआँ उठता है, उसी प्रकार इस महान भूत (ब्रह्म) के श्वास से ऋग्वेद,

यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसादि, (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्यायें, उपनिषद्, श्लोक, विभिन्न प्रकार की व्याख्यायें, उत्पन्न होती हैं—अर्थात् यह सब उसके निश्वास हैं।"

यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि इस स्थल पर वेदों को सूत्रों इत्यादि जैसी कुछ अन्य कृतियों के समकक्ष रक्खा गया है, जब कि (जैसा हम आगे देखेंगे) बाद के लेखकों ने इनका इन कृतियों से विभेद किया है। इन लेखकों ने वेदों (जिनके अन्तर्गत ब्राह्मण और उपनिषद् भी आ जाते हैं) को अपौरुषेय और त्रुटि-रहित माना है, जब कि अन्य प्रकार की उक्त कृतियों को पौरुषेय और केवल मानवों की ऐसी रचनायें माना है जिनका स्वतन्त्र रूप से कोई प्रमाण नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (१. २, ५) में ऐसा कथन है कि प्रजापति (जिसे मृत्यु के साथ समीकृत कहा गया है) ने 'वाच्' को उत्पन्न किया और आत्मा के साथ उसके द्वारा उन समस्त पदार्थों को उत्पन्न किया जिनके अन्तर्गत वेद भी आ जाते हैं :

स तया वाचा तेन आत्मना इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्।

"उस वाच् और आत्मा से उसने उन सबको रचा, जिनके अन्तर्गत ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु, सब आ जाते हैं"।

और शतपथ ब्राह्मण १४. ४, ३, १२ (तु० की० बृहदारण्यक उपनिषद् १. ५, ५) में ऐसा कथन है :

त्रयो वेदाः एते एव। वाग् एव ऋग्वेदो मनो यजुर्-वेदः प्राणः सामवेदः।

"तीनों वेदों को इन वस्तुओं से समीकृत किया जा सकता है : वाणी, मन और प्राण। वाणी ऋग्वेद, मन यजुर्वेद, और प्राण सामवेद है।"

शतपथ ब्राह्मण (७. ५, २, ५२) के निम्नोद्धृत स्थल पर वेदों की उत्पत्ति का एक सर्वथा भिन्न वर्णन मिलता है :

"समुद्रे त्वा सदने सादयामि" इति। मनो वै समुद्रः। मनसो वै समुद्राद् वाचाऽभ्र्या देवास् त्रयी विद्यां निरखनन्। तद् एष श्लोकोऽभ्युक्तः 'ये (यत् ?) समुद्राद् निरखनन् देवास् तीक्ष्णाभिर् अभ्रिभिः। सुदेवो अद्य तद् विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुर्' इति। मनः समुद्रो वाक्

तीक्ष्णाऽभ्रिस् त्रयी विद्या निर्वपणम् । एतद् एष श्लोकोऽभ्युक्त । मनसि तां सादयति ।

"'मैं तुम्हारे सदन को समुद्र में स्थित करता हूँ' ।[१०] मन ही समुद्र है। वाग्-रूपी कुदाली द्वारा देवों ने मन रूपी समुद्र से त्रयी विद्या का उत्खनन किया। इसलिये यहाँ इस श्लोक का उच्चारण किया गया है: 'आज उस उज्ज्वल देवता को यह जानना चाहिये कि उन्होंने उस हवि को कहाँ रखा था जिसका देवों ने तीक्ष्ण कुदालियों से उत्खनन किया। मन ही समुद्र है; वाक् ही तीक्ष्ण कुदाली है; और त्रयी विद्या हवि है। इसी के सन्दर्भ में उक्त श्लोक का उच्चारण किया गया है। वह उसे मन में स्थित करता है।"

एक दूसरा स्थल तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. ३९, १) से लिया गया है जिसमें वेदों को 'प्रजापति की दाढ़ी का बाल' कहा गया है (प्रजापतेर् वै एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः)। फिर भी, इसके उगने की पद्धति को पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है।

इसी ब्राह्मण के एक अन्य (२. ८, ८, ५) स्थल पर 'वाच्' को वेदों की माता कहा गया है:

वाग् अक्षरम् प्रथमजा ऋतस्य वेदानाम् माता अमृतस्य नाभिः। सा नो जुषाणा उप यज्ञम् आगाद् अवन्ती देवी सुहवा मे अस्तु। याम् ऋषयो मंत्र-कृतो मनीषिणः अन्वैछन् देवास् तपसा श्रमेण।

"वाणी (वाच्) एक अनश्वर पदार्थ है जो 'ऋत' से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। यही वेदों की माता और अमृत की नाभि है। हम लोगों पर प्रसन्न होकर वह यज्ञ के पास आयी। रक्षा करनेवाली यह देवी मेरे आवाहन को सुनने के लिये तत्पर रहे—यह देवी जिसे मंत्रों की रचना करनेवाले मनीषियों तथा देवों ने तपस्या और श्रमपूर्वक की गई भक्ति से प्राप्त किया।"

---

[१०] इस मन्त्र की, जो कि वाजसनेयि संहिता १३. ५३ से लिया गया है, निम्नलिखित व्याख्या के लिये मैं प्रोफेसर ऑफरेख्त का आभारी हूँ। यह शब्द पवित्राग्नि को स्थित करने के लिये अग्नि चैत्य के निर्माण के समय ईंटो को सम्बोधित किये गये हैं। यत ईंटो को अलग अलग 'अपस्या' कहा गया है (जिसका अर्थ 'प्रभावशाली' है, किन्तु जिसे त्रुटिपूर्वक 'अप्' से व्युत्पन्न मान लिया गया है) अतः उन्हे इस प्रकार सम्बोधित किया गया है मानो उन्हे जल के विभिन्न भागो पर रखा जा रहा हो।

खंड २—विष्णु, भागवत और मार्कण्डेय पुराणों, हरिवंश, तथा महाभारत के अनुसार वेदों की उत्पत्ति; वेदों का शाश्वतत्व; इनके सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की उक्तियाँ।

विष्णु और भागवत पुराणों में वेदों की उत्पत्ति के विषय में एक सर्वथा भिन्न परम्परा मिलती है जहाँ यह कथन है कि चतुरानन ब्रह्मा ने अपने विभिन्न मुखों से इनकी रचना की। विष्णु पुराण (१ ५, ५४-५७) में यह कथन है :

गायत्रं च ऋचश् चैव त्रिवृत्-साम-रथन्तरम्। अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमाद् मुखात्। यजूंषि त्रैष्टुभं छन्दः स्तोमं पञ्चदशं तथा। बृहत् साम तथोक्थ्यं च दक्षिणाद् असृजद् मुखात्। सामानि जगती-छन्द' स्तोम सप्तदशं तथा। वैरूपम् अतिरात्र च पश्चिमाद् असृजद् मुखात्। एकविंशम् अथर्वाणम् आप्तोर्यामाणम् एव च। अनुष्टुभ स वैराजम् उत्तराद् असृजद् मुखात्।

"अपने पूर्वमुख से ब्रह्मा ने गायत्री, ऋक्, त्रिवृत् सोम, रथन्तर और अग्निष्टोम यज्ञों को निर्मित किया। दक्षिण मुख से यजुः, त्रैष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत्साम तथा उक्थ की रचना की। पश्चिम मुख से साम, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप, और अतिरात को उत्पन्न किया। तथा उत्तरमुख से इन्हों ने एकविंशतिस्तोम, अथर्ववेद, अप्तोर्यामान्, अनुष्टुप् छन्द और विराज को सृष्टि की।"

इसी प्रकार थोड़े विभेद के साथ भागवत पुराण (३. १२, ३४. ३७) में यह कथन है •

कदाचिद् ध्यायतः स्रष्टुर् वेदाः आसंश् चतुर्मुखात्। कथं स्रक्ष्याम्य् अहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा। ····ऋग्-यजुः-सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर् मुखैः। शस्त्रम् इज्यां स्तुति-स्तोमम् प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्।

"एक बार ब्रह्मा जी यह सोच रहे थे कि, 'मैं पूर्व की भाँति सुव्यवस्थित रूप मे सब लोकों की रचना किस प्रकार करूं ?' उसी समय उनके चार मुखों से चार वेद प्रगट हुये।·····ब्रह्मा ने अपने पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर के मुखों से क्रमश. ऋक्, यजु., साम और अथर्वन् की रचना की, तथा इसी क्रम से शस्त्र, इज्या, स्तुति-स्तोम तथा प्रायश्चित्त को भी रचा।"

और ४५वें श्लोक में यह कथन है कि उनके (ब्रह्मा के) रोमों से

उष्णिक्, त्वचा से गायत्री, मांस से त्रिष्टुप्, स्नायु से अनुष्टुप्, और अस्थियों से जगती छन्द उत्पन्न हुये (तस्योष्णिग् आसील् लोमेभ्यो गायात्री च त्वचो विभोः। त्रिष्टुप् मांसात् स्नुतोऽनुष्टुप् जगत्य् अस्थनः प्रजापतेः)।

इसी विषय पर मार्कण्डेय पुराण (९९. १–७) में यह कथन मिलता है :

तस्माद् अण्डाद् विभिन्नात् तु ब्रह्मणोऽव्यक्त-जन्मनः। ऋचो बभूव. प्रथमम् प्रथमाद् वदनाद् मुने। २. जवा-पुष्प-निभाः सद्यस् तेजो रूपान्त-संहताः। पृथक् पृथग् विभिन्नाश् च रजो-रूप-वहास् ततः। ३. यजूंषि दक्षिणाद् वक्त्राद् अनिरुद्धानि काञ्चनम्। यादृग्वर्ण तथा-वर्णान्य् असंहति-धराणि च। ४ पश्चिमं यद् विभोर् वक्त्रम् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। आविर्भूतानि सामानि ततश् छन्दांसि तान्य् अथ। ५. आथर्वणम् अशेषं च भृङ्गाञ्जन-चय-प्रभम्। घोराघोर स्वरूपं तद् आभिचारिक शान्ति-कम्। ६. उत्तरात् प्रकटीभूत वदनात् तस्य वेधस। सुख-सत्त्व-तमः-प्रायं सौम्यासौम्य-स्वरूपवत्। ७. ऋचो रजो गुणाः सत्त्व यजुषां च गुणो मुने। तमो-गुणानि सामानि तमः-सत्त्वम् अथर्वसु।

"जब उस अण्ड के भिन्न होने से अव्यक्त-जन्मा ब्रह्मा उत्पन्न हुये (मनु १. ९, १२), तब उनके पूर्व मुख से ऋग्वेद प्रगट हुआ जो जपा-पुष्प की भाति तेजरूप, अन्त-संहत, परस्पर भिन्न, तथा रजोगुण से युक्त था। उनके दक्षिण मुख से कचन-वर्ण यजुर्वेद अनिरुद्ध भाव से वहिंगत हुआ। परमश्रेष्ठ ब्रह्मा के पश्चिम मुख से सामन् तथा छन्द उत्पन्न हुये। वेधस् (ब्रह्मा) के उत्तर मुख से उच्चाटनादि अभिचारीय मन्त्रों से युक्त, शान्तिकारक, घोर रूप, भौंरे और अञ्जन के समूह के समान कृष्णवर्ण, सुख, सत्व और तमो बहुल, सौम्य और असौम्य रूपी, अशेष अथर्वण प्रगट हुआ। समस्त ऋक् रजोगुण-युक्त, समस्त यजुः सतोगुण-युक्त, समस्त साम तमोगुण-युक्त, और समस्त अथर्व सत्व तथा तमोगुणात्मक है।"

हरिवंश—हरिवंश के प्रथम अध्याय के ३९वें और ४०वें श्लोक में ब्रह्मा द्वारा वेदों की सृष्टि का जो संक्षिप्त विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :

ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञ-सिद्धये। साध्यास् तैर् अयजन् देवान् इत्य् एवम् अनुशुश्रुम।

"फिर ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋक्, यजुः, और साम का निर्माण किया। तदनन्तर उन्होंने साध्य नामक प्राचीन देवताओं को प्रगट किया, ऐसा हमने सुना है।"

हरिवंश के ही एक अन्य स्थल पर इसी घटना का निम्नलिखित वर्णन मिलता है :

ततोऽसृजद् वै त्रिपदाम् गायत्रीं वेद-मातरम् । अकरोच् चैव चतुरो वेदान् गायत्रि-सम्भवान् (हरिवंश—३. १४, २५)

"लोकों की रचना करने के पश्चात् ब्रह्मा ने 'वेदमाता, त्रिपदा गायत्री की सृष्टि की, और फिर उन्होंने गायत्री से प्रगट हुये चारों वेदों का संकलन किया।" [11]

इसी ग्रन्थ में कुछ और आगे इसी स्थल को निम्नोद्धृत रहस्यात्मक रूप से विकसित किया गया है :

समाहित-मना ब्रह्मा मोक्ष-प्राप्तेन हेतुना । चन्द्र-मण्डल-संस्थानाज ज्योतिस्-तेजो महत् तदा । प्रविश्य हृदय क्षिप्रं गायत्र्याः नयनान्तरं । गर्भस्य सम्भवो यश् च चतुर्धा पुरुषात्मकः । ब्रह्म-तेजोमयोऽव्यक्तः शाश्वतोऽथ ध्रुवोऽव्ययः । न चेन्द्रियगुणैर् युक्तो युक्तस् तेजो-गुणेन च । चन्द्रांशु-विमल-प्रख्यो भ्राजिष्णुर् वर्ण-संस्थित' । नेत्राभ्यां जनयद् देवः ऋग्-वेदं यजुषा सह । सामवेदं च जिह्वाग्राद् अथर्वाण च मूर्द्धत' । जात-मात्रास् तु ते वेदाह् क्षेत्रं विन्दन्ति तत्त्वतः । तेन वेदत्वम् आपन्ना यस्माद् विन्दन्ति तत् पदम् । ते सृजन्ति तदा वेदाः ब्रह्म पूर्व सनातनम् । पुरुषं दिव्य-रूपाभ स्वैः स्वैर् भावैर् मनो-भवै. (हरिवंश पु० ३. १७, ४४–५०)

"संसार के मोक्ष के लिये ब्रह्मा ने चान्द्रमण्डल से उद्भूत तेजरूप धारण करके ध्यानमग्न होकर गायत्री के नेत्रों के बीच से उसके हृदय में प्रवेश किया। तद्उपरान्त उससे (गायत्री से) चतुरूप पुरुष उत्पन्न हुआ जो ब्रह्मा के समान तेजपूर्ण, अव्यक्त, शाश्वत, कूटस्थ और अव्यय, तथा तेजोगुण से युक्त था। उसकी कान्ति चन्द्रमा की किरणों के समान विमल और उज्ज्वल थी, और वह लोहित शुक्ल आदि वर्णों में स्थित था। उस देवता ने अपने नेत्रों से ऋग्वेद और यजुर्वेद को, जिह्वा के अग्रभाग से सामवेद को, और मूर्धा से अथर्ववेद को प्रगट किया। प्रगट होते ही यह वेद अपने अपने क्षेत्र का तत्वतः वेदन (उपलब्धि) करने लगे, इसलिये इन्हें 'वेद' संज्ञा प्राप्त हुई। ये उस ब्रह्म पद का

---

[11] यही शब्द (गायत्री वेद मातरम्) महाभारत (३ २००, ८३) मे भी मिलते हैं, और ऊपर उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्थल पर वाच् के लिये भी यही व्यवहृत हुये हैं।

वेदन (लाभ) करते हैं इसलिये भी वेद कहलाते हैं। तदुपरान्त यह वेद उस दिव्य, पुरुष-रूप, सनातन ब्रह्म को अपने-अपने मानसिक भावों के अनुसार उत्पन्न करते हैं।"

मैं इसी ग्रन्थ के एक बाद के अंश से दूसरा स्थल (३. ३६, ७–११) उद्धृत करता हूँ। जब वह परमात्मा विश्व की सृष्टि करने के लिये प्रवृत्त हुआ तो उसके मुख से हिरण्यगर्भ अथवा प्रजापति उत्पन्न हुये। इस परमात्मा ने प्रजापति से अपना विभाजन करने के लिये कहा, किन्तु उन्हें अपना विभाजन करने की पद्धति के विषय में महान संशय था। तदुपरान्त आगे का विवरण इस प्रकार है :

इति चिन्तयतस् तस्य "ओम" इत्य् एवोत्थितः स्वरः। स भूमाव् अन्तरिक्षे च नाके च कृतवान् स्वनम्। तं चैवाभ्यसतस् तस्य मनः-सारमयम् पुनः। हृदयाद् देव-देवस्य वषट्कारः समुत्थितः। भूम्यन्तरीक्ष-नाकानाम् भूयः स्वरात्मकाः पराः। महास्मृतिमयाः पुण्याः महाव्याहृतयोऽभवन्। छन्दसाम् प्रवरा देवी चतुर्विंशाक्षराऽभवत्। तत्-पदं संस्मरन् दिव्यम् सावित्रीम् अकरोत् प्रभुः। ऋक्-सामाथर्व-यजुषश् चतुरो भगवान् प्रभुः। चकार निखिलान् वेदान् ब्रह्म-युक्तेन कर्मणा।

"जब वह इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे तो उनके मुख से ॐ स्वर उच्चरित हुआ जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के बीच प्रतिध्वनित हुआ। इस प्रकार ॐ का जप करते हुये देवाधिदेव (प्रजापति) के हृदय से पुनः उनके मन का सारभूत 'वषट्कार' उत्पन्न हुआ। तदुपरान्त भूमि, अन्तरिक्ष, और स्वर्ग से ध्वनि के रूप में वह तीन पवित्र महाव्याहृतियाँ (भूः, भुवः, स्वर्) प्रकट हुईं जो महास्मृतिमयी हैं। तदनन्तर छन्दों में श्रेष्ठ देवी गायत्री उत्पन्न हुईं जो २४ अक्षरों से युक्त हैं। ब्रह्मा ने उस पद का स्मरण करके दिव्य सावित्री-मन्त्र को प्रगट किया। फिर प्रतिभाशाली भगवान् प्रजापति ने ब्रह्म-युक्त कर्म के द्वारा ऋक्, साम, अथर्व, यजुः नामक चारों वेदों का पूर्णतया प्रादुर्भाव किया।" (देखिये भागवत पुराण, १२. ६, ३७ और बाद, भी जिसे आगे के पृष्ठों में उद्धृत किया गया है)।

महाभारत :—महाभारत के एक स्थल पर ऐसा कथन है कि सरस्वती और वेदों का अच्युत (विष्णु) ने अपने मन से सृजन किया : सरस्वती च वेदांश् च मनसः ससृजेऽच्युतः (६. ६७, ६)। एक अन्य स्थल (१२. ३४०, ५६) पर, उपरोद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण, महाभारत (३. २००, ८३), और हरिवंश के विचारों के अनुरूप ही सरस्वती को वेदों की माता कहा गया है :

वेदानाम् मातरं पश्य मत्-स्थाम् देवीं सरस्वतीं।

"वेदों की माता सरस्वती मेरे भीतर विराजमान हैं उनका दर्शन करूँ।"

मनु :—प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत मनुस्मृति (१२. ४९–५०) के अनुसार अन्य व्यक्तियों और पदार्थों के साथ-साथ वेद भी सत्वगुण की द्वितीय गति हैं; जब कि ब्रह्मा को सत्वगुण की प्रथम गति के रूप में वेदों से श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इस स्थल पर कुल्लूक ने वेद शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है : वेदाभिमानिन्यश् च देवताः विग्रहवत्य· इतिहास-प्रसिद्धाः, अर्थात् "वेदों की अध्यक्षता करनेवाले वेदाभिमानियों तथा देवताओं की इतिहास में प्रसिद्धि है।"

खंड ३—ब्राह्मणों तथा अन्य कृतियों के ऐसे स्थल जिनमें वेदों को समस्त भूतों का स्रोत और अनन्त तथा शाश्वत कहा गया है।

इस प्रकार का सर्वप्रथम स्थल मैं शतपथ ब्राह्मण (१०. ४, २, २१–२३ से उद्धृत कर रहा हूँ :

अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत्। स त्रय्याम् एव विद्यायां सर्वाणि भूतान्य् अपश्यत्। अत्र हि सर्वेषां छन्दसां आत्मा सर्वेषां स्तोमाना सर्वेषाम् प्राणानां सर्वेषां देवानाम्। एतद् वै अस्ति। एतद् ह्य् अमृतम्। यद् ह्य् अमृतम् तद् ह्य् अस्ति। एतद् उ तद् यद् मर्त्यम्। २२. स ऐक्षत प्रजापतिः "त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि। हन्त त्रयीम् एव विद्याम् आत्मानम् अभिसंस्करवै" इति। २३. स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहती-सहस्राण्य् एतावत्यो ह ऋचो याः प्रजापति-सृष्टास् तास् त्रिंशत्तमे व्यूहे पङ्क्तिष्व् अतिष्ठन्त। ताः यत् त्रिंशत्तमे व्यूहेऽतिष्ठन्त तस्मात् त्रिंशद् मासस्य रात्रयः। अथ यत् पङ्क्तिषु तस्मात् पाङ्क्· प्रजापतिः। ताः अष्टाशतं शतानि पङ्क्त्योऽभवन्।

"तब उसने समस्त भूतों का अवलोकन किया। उसके बाद उसने समस्त भूतों का त्रयी विद्या में दर्शन किया, क्योंकि समस्त छन्दों, समस्त स्तोमों, समस्त प्राणों और समस्त देवों की आत्मा इसी में निहित है। इसका ही वास्तविक अस्तित्व है।[12] यही अमृत है : क्योंकि जो अमृत होता है वास्तव

[12] 'सर्वदा विद्यते', भाष्यकार।

में उसी का अस्तित्व होता है। यही वह है जो मर्त्य भी है।[13] प्रजापति ने यह इच्छा की : 'समस्त भूत त्रयी विद्या में ही हैं' : अतः मुझे त्रयी विद्या के रूप में ही अपनी आत्मा का शोधन करना चाहिये। उसने ऋग्वेद के श्लोकों को व्यवस्थित किया। प्रजापति द्वारा सृजित बारह सहस्र 'बृहतियाँ' तथा इतने ही ऋक् मन्त्र तीसवें वर्ग में पङ्क्ति-बद्ध प्रतिष्ठित हुये। यतः वे तीसवें वर्ग में प्रतिष्ठित हुये अतः एक मास में तीस रात्रियाँ होती हैं। यत. वे पङ्क्तिबद्ध प्रतिष्ठित हुये अतः प्रजापति को पाङ्क्त कहते हैं। इनसे अट्ठारह सौ पङ्क्तियाँ हुईं।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १२, ९, १) से उद्धृत एक दूसरे स्थल पर तीनों वेदों को क्रमशः मूर्त्ति, गति, और तेज, कहा गया है :

ऋग्भ्यो जाताम् सर्वशो मूर्त्तिम् आहुः सर्वा गतिर् याजुषी हैव शश्वत्। सर्वं तेजः साम-रूप्यं ह शश्वत्।

"उनका कहना है कि समस्त मूर्त्तियाँ ऋक् मन्त्रों से उत्पन्न हुईं; गति सदैव यजुः से सम्बद्ध होती है, और समस्त तेज सामरूप होता है।"

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि मनु (१. २१) ने समस्त भूतों के नाम, कार्य, और स्थिति को वेद के शब्दों से निर्मित माना है। विष्णु पुराण (१. ५, ६४–६५) में भी इसी प्रकार का कथन है :

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रवर्त्तनं। वेद-शब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः। ऋषीणां नामधेयानि यथा वेद-श्रुतानि वै। यथा नियोग-योग्यानि सर्वेषाम् अपि सोऽकरोत्।

"आरम्भ में उसने देवों तथा अन्य भूतों के नाम, रूप, और कार्यों का वेद के शब्दों से ही निर्माण किया। उसने वेदों के अनुसार और उनके अपने-अपने पदों के उपयुक्त समस्त ऋषियों का नामकरण किया।"

महाभारत (१२. २३२, २४–२६) में भी इसी विचार की पुनरावृत्ति मिलती है :

ऋषयस् तपसा वेदान् अध्यैषन्त दिवानिशम्। अन्-आदि-निधना

---

[13] इस पर भाष्यकार इस प्रकार टीका करते हैं : 'यच् च मर्त्यम् मरण-धर्मकम् मनुष्यादि तद् अप्य् एतत् त्रयी-भूतम् एव। अतो मर्त्यामृतात्मकं सर्व जगद् अत्रान्तर्भूतम्।' अर्थात्, 'जो मर्त्य है, जैसे मानव जाति इत्यादि, वह भी त्रयी विद्या है। अत त्रयी विद्या के अन्तर्गत मर्त्य और अमर्त्य दोनो ही आ जाते हैं।

विद्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः। ऋषीणाम् नामधेयानि याश् च वेदेषु सृष्टयः। नानारूपं च भूतानाम् कर्मणा च प्रवर्त्तयन् (प्रवर्त्तनम्?) वेद-शब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।

"तप के प्रभाव से महर्षियों ने दिन-रात वेदों का अध्ययन किया। आरम्भ में आदि-अन्त से रहित विद्या[१४] रूपी वाणी का ब्रह्मा ने सर्वप्रथम उच्चारण किया: उसी से समस्त क्रियायें उत्पन्न हुईं। ऋषियों के नाम, वेदोक्त सृष्टि-क्रम के अनुसार रचे हुये सभी पदार्थों के नाम, और प्राणियों के विविध रूप तथा उनके कर्मों के विधान की, आदिकाल में, प्रजापति ने वेदोक्त शब्दों के अनुसार ही रचना की।"

ऋक् संहिता और तैत्तिरीय संहिता के अपने अपने भाष्यों में सायण और माधव का मङ्गलाचरण इस प्रकार है:

यस्य निश्श्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्या तीर्थम् महेश्वरम्।

"मैं उस विद्यातीर्थ महेश्वर की वन्दना करता हूँ जिनका श्वास ही वेद है, और जिन्होंने वेदों से अखिल जगत की रचना की है।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण (३. १०, ११, ३) का निम्नलिखित स्थल वेदों को विस्तार में अनन्त मानता है:

भरद्वाजो ह त्रिभिर् आयुर्भिर् ब्रह्मचर्य्यम् उवास। तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानम् इन्द्र उपव्रज्य उवाच। 'भरद्वाज यत् ते चतुर्थम् आयुर् दद्यां किम् एतेन कुर्य्याः' इति। 'ब्रह्मचर्य्यम् एव एनेन चरेयम्' इति ह उवाच॥ ४. त ह त्रीन् गिरि-रूपान् अविज्ञातान् इव दर्शयाञ्चकार। तेषां ह एकैकस्माद् मुष्टिम् आददे। स ह उवाच 'भरद्वाज' इत्य् आमन्त्र्य। 'वेदाः वै एते। अनन्ताः वै वेदाः। एतद् वै एतैस् त्रिभिर् आयुर्भिर् अन्ववोचथाः। अथ ते इतरद् अननूक्तम् एव। एहि इमं विद्धि। अत्र वै सर्व-विद्या' इति। ५ तस्मै ह एतम् अग्निम् सावित्रम् उवाच। तं स विदित्वा अमृतो भूत्वा स्वर्गं लोकम् इयाय आदित्यस्य सायुज्यम्।

[१४] तैत्तिरीय संहिता के अपने भाष्य अथवा वेदार्थ प्रकाश मे, जिसका मैं आगे उद्धरण दूँगा, माधवचार्य ने इस पंक्ति को उद्धृत करते हुये 'विद्या' के स्थान पर 'नित्या' पाठ माना है। सम्भव है उन्होंने उस पंक्ति को किसी अन्य ग्रन्थ से लिया हो।

अमृतो ह एव भूत्वा स्वर्गं लोकम् एत्य् आदित्यस्य सायुज्यम् यः एवं वेद। एषा उ एव त्रयी विद्या। ६. यावन्तं ह वै त्रय्या विद्यया लोकं जयति तावन्तम् लोकं जयति यः एव वेद।

"भरद्वाज अपनी तीन आयुर्यों तक ब्रह्मचर्य अवस्था में रहे। जब वह वृद्ध और जीर्ण हो कर शयन कर रहे थे तब इन्द्र उनके पास आकर बोले: 'हे भरद्वाज यदि मैं तुम्हें चतुर्थ जीवन प्रदान करूँ तो तुम उसका क्या करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं ब्रह्मचर्य जीवन ही व्यतीत करूँगा।' इन्द्र ने उन्हें तीन पर्वत रूपी पदार्थ दिखाये जो अज्ञात थे। उनमें से प्रत्येक से उन्होंने एक-एक मुट्ठी पदार्थ लेकर भरद्वाज को सम्बोधित करते हुये कहा, 'यह वेद हैं। वेद अनन्त हैं और तुमने अपने तीन जीवनों में जो कुछ अध्ययन किया है वह यही है। किन्तु कुछ अन्य बात भी ऐसी है जिसका तुमने अध्ययन नहीं किया; अतः अब उसको सीखो। यही सर्व विद्या है।' उन्होंने भरद्वाज को यह अग्नि-सावित्र बताया। इसे जानकर भरद्वाज अमर होकर सूर्य के साथ सायुज्य प्राप्त करने के लिये स्वर्ग लोक चले गये। यही त्रयी विद्या है जो ऐसा जानता है वह उतने विशाल लोकों को विजित कर लेता है जिन्हें वह त्रयी विद्या से प्राप्त करता है।"

तैत्तिरीय संहिता (७. ३, १, ४) का एक स्थल स्थिति को कुछ भिन्न रूप से प्रस्तुत करता है:

अथ ब्रह्मा (ब्रह्म-वादिनो ?) वदन्ति परिमिताः वै ऋचः परिमितानि सामानि परिमितानि यजूंषि अथ तस्य एव अन्तो नास्ति यद् ब्रह्म।

"ब्रह्मवादी ऐसा कहते हैं कि 'ऋक् परिमित है, साम परिमित है, यजुः भी सीमित है, किन्तु ब्रह्मविद्या का कोई अन्त नहीं।"

विष्णु पुराण:—विष्णु पुराण के तृतीय अंश के छठवें अध्याय के अन्त में वेदों की चिरन्तनता के सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्ति मिलती है:

इति शाखाः प्रसंख्याताः शाखा-भेदास् तथैव च। कर्त्तारश् चैव शाखानाम् भेद-हेतुस् तथोदितः। सर्व-मन्वन्तरेष्व् एव शाखा-भेदाः समाः स्मृताः। प्राजापत्या श्रुतिर् नित्या तद्-विकल्पास् त्व् इमे द्विज।

"इस प्रकार मैंने तुमसे वेदों की शाखा, शाखाओं के भेद, उनके रचयिताओं, तथा शाखा भेदों के कारणों का वर्णन किया। समस्त मन्वन्तरों में इसी प्रकार एक समान शाखा भेद रहते हैं। हे द्विज! प्रजापति ब्रह्मा से प्रगट होने वाली श्रुति तो नित्य है, और ये उसके विकल्प मात्र हैं।"

इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर विष्णु को वेदों के साथ समीकृत किया गया है।

स ऋङ्-मयः स साममयः स चात्मा स यजुर्मयः। ऋग्-यजुः-साम-सारात्मा स एवात्मा शारीरिणाम्। स भिद्यते वेदमयः स वेदं करोति भेदैर् बहुभिः सशाखम्। शाखा प्रणेता स समस्त-शाखाः ज्ञान स्वरूपो भगवान् अनन्तः (विष्णु पु० ३. ३, ३०–३१)।

"वह सर्वात्मा ऋङ्मय, साममय, और यजुर्मय है। ऋक्, यजु, साम के सार से निर्मित वह समस्त शरीरधारियों की आत्मा है। वेदों ही से निर्मित वह विभक्त है और वही वेद और उसकी शाखाओं का निर्माणकर्त्ता है। समस्त शाखाओं का रचयिता होते हुये वह असङ्ग भगवान् उनकी सम्पूर्णता तथा ज्ञान स्वरूप है।"

खण्ड ४–वेदों की प्रशस्ति करनेवाले शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति के स्थल, तथा साथ ही साथ, मनु और अन्य लेखकों की कुछ भिन्न उक्तियाँ।

वेदाध्ययन सम्बन्धी निम्नलिखित स्तुति शतपथ ब्राह्मण (११. ५, ६, १ और बाद) से ली गई है :

पञ्च एव महायज्ञाः। तान्य् एव महासत्राणि भूत-यज्ञो मनुष्य-यज्ञः पितृ-यज्ञो देव-यज्ञो ब्रह्म-यज्ञः इति। २. अहर् अहर् भूतेभ्यो बलिं हरेत्। तथा एतम् भूत-यज्ञं समाप्नोति। अहर् अहर् दद्याद् आ उद-पात्रात् तथा एतम् मनुष्य-यज्ञ समाप्नोति। अहर् अहः स्वधाकुर्याद् आ उद-पात्रात् तथा एतं पितृ-यज्ञ समाप्नोति। अहर् अहः स्वाहाकुर्याद् आ काष्ठात् तथा एत देव-यज्ञं समाप्नोति। ३. अथ ब्रह्म-यज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्म-यज्ञः। तस्य वै एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वाग् एव जुहूर् मनः उपभृच् चक्षुर् ध्रुवा मेधा स्रुवः सत्यम् अवभृथः स्वर्गो लोकः उदयनम्। यावन्त ह वै इमाम् पृथिवीं वित्तेन पूर्णां दद लोकं जयति त्रिस् तावन्त जयति भूयांसं च अक्षय्यं यः एवं च विद्वान् अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। ४. पय-आहुतयो ह वै एताः देवानां यद् ऋचः। स य. एवं विद्वान् ऋचोऽहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते पय-आहुतिभिर् एव तद् देवांस् तर्पयति। ते एनं तृप्तास् तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिः। घृतः कुल्याः

पितृन् स्वधा अभिवहन्ति। ५. आज्याहुतयो ह वै एताः देवानां यद् यजूंषि। स यः एवं विद्वान् यजूंष्य अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते आज्यहुतिभिर् एव तद् देवांस् तर्पयति ते एनम् तृप्तास तर्पयन्ति योग-क्षेमेण इत्यादि। ६. सोमाहुतयो ह वै एताः देवानां यत् सामानि। स यः एवं विद्वान् सामान्य् अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते सोमाहुतिभिर् एव तद् देवांस् तर्पयति इत्यादि। ७. मेद-आहुतयो ह वै देवानां यद् अथर्वाङ्गिरसः। स यः एवं विद्वान् अथर्वाङ्गिरसोऽहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते मेद-आहुतिभिर एव तद् देवांस् तर्पयति इत्यादि। ८. मध्व्-आहुतयो ह वै एताः देवानां यद् अनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यम् इतिहास-पुराणं गाथा नाराशंस्यः। स यः एवं विद्वान् इत्यादि। ९. तस्य वै एतस्य ब्रह्म-यज्ञस्य चत्वारो वषट्काराः यद् वातो वाति यद् विद्योतते यत् स्तनयति यद् अवस्फूर्जति। तस्माद् एवं विद्वान् वाते वाति विद्योतमाने स्तनयत्य् अवस्फूर्जत्य् अधीयीत एव वषट्काराणाम् अच्छंवट्काराय। अति ह वै पुनर् मृत्युम् मुच्यते गच्छति ब्रह्मणः सात्मताम्। स चेद् अपि प्रबलम् इव न शक्नुयाद् अप्य् एकं देव-पदम् अधीयीत एव तथा भूतेभ्यो न हीयते। (शतब्रा० ११. ५, ६, १–९)॥ अथ अतः स्वाध्याय-प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय-प्रवचने भवतः। युक्तमनाह् भवत्य् अपराधीनोऽहर् अहर् अर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परम-चिकित्सकः आत्मनो भवति। इन्द्रिय-संयमश् च एकारामता च प्रज्ञा-वृद्धिर् यशो लोक-पक्तिः। प्रज्ञा वर्द्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणम् अभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यम् प्रतिरूप-चर्य्या यशो लोक-पक्तिम्। लोकः पच्यमानश् चतुर्भिर् धर्मैर् ब्राह्मणम् भुनक्त्य् अर्चया च दानेन च अज्येयतया च अवध्यतया च। २. ये ह वै के च श्रमाः इमे द्यावा-पृथिवी अन्तरेण स्वाध्यायो ह एव तेषाम् परमता काष्ठा यः एवम् विद्वान् स्वाध्यायम् अधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽधेतव्यः। ३. यद् यद् ह वै अयं छन्दसः स्वाध्यायम् अधीते तेन तेन ह एव अस्य यज्ञ-क्रतुना इष्टम् भवति यः एवं विद्वान् स्वाध्यायम् अधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽधेतव्यः। ४. यदि ह वै अप्य् अभ्यक्तः अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायम् अधीते आ ह एव स नखाग्रेभ्यस् तप्यते यः एव विद्वान् स्वाध्यायम् अधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽधेतव्यः। ५. मधु ह वै ऋचो घृतं ह सामान्य् अमृतं यजूंषि। यद् ह वै अयं वाकोवाक्यम् अधीते क्षीरौदनमांसौदनौ ह एव तौ। ६. मधुना ह वै एष देवांस् तर्पयति यः एवं विद्वान् ऋचोऽहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते। ते एनं तृप्तास् तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर् भोगैः। ७. घृतेन ह

वै एष देवांस् तर्पयति यः एव विद्वान् सामान्य् अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते। ते एनं तृप्ताः इत्यादि। ८. अमृतेन ह वै एप देवांस् तर्पयति यः एवम् विद्वान् यजूष्य् अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीते। ते एन तृप्ताः इत्यादि। ९. क्षीरौदन-मांसौदनाभ्यां ह वै एप देवास् तर्पयति य' एव विद्वान् वाकोवाक्यम् इतिहास-पुराणम् इत्य् अहर् अहः स्वाध्यायम् अधीयते। ते एनं तृप्ताः इत्यादि। १०. यन्ति वै आपः। एत्य् आदित्यः। एति चन्द्रमाः। यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वै न इयुर् न कुर्युर् एव ह एव तद् अहर् ब्राह्मणो भवति यद् अहः स्वाध्याय न अधीते। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। तस्माद् अप्य् ऋचं वा यजुर् वा साम वा गाथा वा कुव्यां वा अभिव्याहरेद् व्रतस्य अव्यवच्छेदाय (शतब्रा० ११. ५, ७, १–१०)।

"केवल पाँच प्रकार के ही महायज्ञ हुआ करते हैं, और इनके अन्तर्गत यह महासत्र आते हैं : भूतयज्ञ,[15] मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ। प्रतिदिन भूतों को बलि देनी चाहिये; इस प्रकार भूतयज्ञ सम्पन्न होता है। प्रतिदिन जल से पूर्णपात्र द्वारा अर्घ्य देना चाहिए; इस प्रकार मनुष्ययज्ञ सम्पन्न होता है। प्रतिदिन पितरों को स्वधा द्वारा हवि देते हुये जल चढ़ाना चाहिये, इस प्रकार पितृ-यज्ञ सम्पन्न होता है।[16] प्रतिदिन काष्ठ द्वारा स्वाहा करते हुये देवयज्ञ सम्पन्न होता है। इसके बाद ब्रह्मयज्ञ आता है। स्वाध्याय[17] को ही ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। इस ब्रह्मयज्ञ में वाच् ही जुहू, मन उपभृत्, नेत्र ध्रुवा, मेधा स्रुव,[18] सत्य अवभृथ, और स्वर्ग ही उदयन (परिणाम) होता है। जो इसे जानते हुये नित्य वेदाध्ययन करता है वह विद्वान् व्यक्ति, वित्त से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी को दान करने से जितना महान लोक कोई व्यक्ति अर्जित कर सकता है, उससे तिगुना महान

---

[15] जैसा कि मैंने प्रो० ऑफरेख्त से जाना है इस यज्ञ के अन्तर्गत पक्षियो इत्यादि के लिये अन्न का दाना बिखेरना आता है। अन्य प्रकार के यज्ञो के लिये देखिये कोल० मिस० ए० १ पृ० १५०, १५३, १८२ और बाद, २०३ और बाद।

[16] इसकी व्याख्या स्वरूप प्रो० ऑफरेख्त ने कात्यायनश्रौतसूत्र ४ १, १०, और मनुस्मृति ३ २१०, २१४, २१८, का सन्दर्भ दिया है।

[17] 'स्वाध्याय स्व-शाखाध्यनम्' भाष्यकार।

[18] यह सभी शब्द यज्ञ के समय प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के काष्ठ-पात्रो के द्योतक हैं।

और अक्षय लोक प्राप्त कर लेता है। ऋग्वेद की ऋचाये देवों के लिये दूध की आहुतियाँ हैं। इसे जानते हुये जो इन ऋचाओं का अध्ययन करता है वह देवों को दुग्ध-आहुतियों द्वारा सन्तुष्ट करता है; और सन्तुष्ट होकर देव-गण उस व्यक्ति को सम्पत्ति, प्राण, रेतस् , योगक्षेम और श्रेष्ठ पुण्यों से सन्तुष्ट कर देते हैं, और पितरों को स्वधा-हवि के रूप में घृत तथा मधु की धारा वहने लगती है। यजुर्वेद के मन्त्र देवों के लिये घृत की आहुतियाँ होते हैं; यह जानकर जो प्रतिदिन इन मन्त्रों का पाठ करता है, वह देवों को घृत-आहुतियों द्वारा सन्तुष्ट करता है और देव-गण भी सन्तुष्ट होकर उसे उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। साम-मन्त्र देवों के लिये सोम की आहुति होते हैं; जो इसे जानकर इन मन्त्रों का प्रतिदिन पाठ करता है वह देवों को सोम-आहुतियों द्वारा संतुष्ट करता है; और देव-गण भी संतुष्ट होकर उसे उक्त रूप से संतुष्ट करते हैं। अथर्वन् और अङ्गिरस् के मत्र देवों के लिये मेद की आहुतियाँ है। जो इसे जानकर प्रतिदिन इन मंत्रों का पाठ करता है वह देवों को मेदाहुतियों द्वारा सन्तुष्ट करता है; और देव-गण सन्तुष्ट होकर उसे उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। अनुशासनात्मक व्याकरणादि, न्याय-मीमांसा इत्यादि विद्यायें, तर्कशास्त्र, इतिहास, पुराण, गाथा और नराशंस देवों के लिये मधु की आहुतियाँ हैं। जो ऐसा जानते हुये इनका अध्ययन करता है, वह देवों को मधु की हवि से सन्तुष्ट करता है; और देव-गण भी सन्तुष्ट होकर उसे उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। उस ब्रह्म-यज्ञ के चार वषट्कार होते हैं: जब वायु वहती है, जब विद्युत चमकती है, जब गर्जन होता है, अथवा जब विद्युत-पात होता है; जो इसे जानते हुये इस प्रकार अध्ययन करता है कि इन वषट्कारों का विघ्न न पड़े, वह पुनर्मृत्यु से छुटकारा पाकर ब्रह्म सायुज्य प्राप्त करता है। यदि वह प्रवल शक्ति से अध्ययन करने में समर्थ न हो तो उसे देवों से सम्वन्धित एक पद का ही अध्ययन करना चाहिये; इस प्रकार वह अन्य भूतों से रहित नहीं होता (शतपथ ब्राह्मण ११. ५, ६, १–९)[१९]।"

"अब स्वाध्याय की प्रशंसा आती है। स्वाध्याय और प्रवचन प्रिय होते हैं। जो इनका व्यवहार करता है, वह युक्तमन हो जाता है। अपराधीन होकर वह प्रतिदिन अपने अभीष्टों को प्राप्त कर लेता है, सुख से सोता है और अपना परम चिकित्सक बन जाता है। इन्द्रिय-संयम, मन की

[१९] पञ्च महायज्ञ के विस्तृत विवरण के लिये देखिये पारस्कर गृह्यसूत्र २. ९। अनुवादक।

एकाग्रता, प्रज्ञावृद्धि, यश, और लोक-शिक्षण की शक्ति (स्वाध्याय के परिणाम होते हैं)। प्रज्ञावृद्धि ब्राह्मणों को, ब्राह्मणत्व, उपयुक्त आचार, यश और लोगों को शिक्षित करने की शक्ति जैसे चतुर्धर्मों से सम्पन्न कर देती है। इस प्रकार शिक्षित होकर मनुष्य-गण ब्राह्मणों को वह चार विशेषाधिकार प्रदान कर देते हैं जिनके अन्तर्गत भक्ति प्राप्त करना, दान लेना, अज्येयता और अवध्यता आते हैं। आकाश और पृथ्वी के बीच ज्ञात श्रम की समस्त पद्धतियों में स्वध्याय का उस व्यक्ति के लिये सर्वोच्च स्थान है जो इस तथ्य को जानते हुये अध्ययन करता है। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये। जब-जब मनुष्य वैदिक सूक्तों का अध्ययन करता है तब उन प्रत्येक अवसरों पर मानों वह सम्पूर्ण यज्ञ सम्पन्न करता है; किन्तु जो इस तथ्य को जानते हुये अध्ययन करता है (उसे ही यह फल प्राप्त होता है)। अतः स्वाध्याय करना चाहिये। सुगन्धित पदार्थों से युक्त, आभूषणों से अलकृत, भोजन से तृप्त, और सुखदायी शय्या पर शयन करके भी जब मनुष्य वेदाध्ययन करता है तो भी वह अपने नखाग्र तक में अनुभूत होनेवाली तपस्या सम्पन्न करता है,[२०] किन्तु जो इस तथ्य को जानते हुये वेदाध्ययन करता है उसे ही यह फल प्राप्त होता है। अतः वेदाध्ययन करना चाहिये। ऋग्वेद मधु है, सामवेद घृत है, यजुर्वेद अमृत है। जब मनुष्य तर्कशास्त्र (वाकोवाक्य) और (पुराणादि) का अध्ययन करता है तो यह दोनों प्रकार की कृतियाँ क्षीरौदन और मांसौदन होती है। जो इसे जानते हुये प्रतिदिन ऋग्वेद का अध्ययन करता है वह देवों को मधु से सन्तुष्ट करता है; और सन्तुष्ट होने पर देव-गण उसे समस्त इच्छित पदार्थों और समस्त सुखों से सन्तुष्ट कर कर देते हैं। जो इसे जानते हुये प्रतिदिन सामवेद का अध्ययन करता है वह देवों को घृत से सन्तुष्ट करता है; और सन्तुष्ट होकर देव-गण भी उसे

---

[२०] वेवर (इन्डिशे स्टूडियन, १० पृ० ११२) ने इस पक्ति का निम्नलिखित प्रकार से एक भिन्न अनुवाद किया है : 'वह पवित्राग्नि से अपने नखाग्रो को भस्म कर देता है'। इसी लेख के आगे के पृष्ठो मे यह वताया गया है कि तैत्तिरीय आरण्यक मे उल्लिखित नाक मौद्गल्य नामक आचार्य के अनुसार वेदो का अध्ययन-अध्यापन ही वास्तविक तप है (स्वाध्याय-प्रवचने एव तद् हि तप.)। स्वयं इस आरण्यक (७ ८) में यह वताया गया है कि अध्ययन और अध्यापन के साथ सदैव ऋतम्, सत्यम्, तपस्, दम, शम, आदि सस्कार और अग्निहोत्र इत्यादि यज्ञ भी करना चाहिये। देखिये इन्डिशे स्टूडियन, २, २१४ और १० ११३।

उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। जो इसे जानते हुये प्रतिदिन यजुर्वेद का अध्ययन करता है वह देवों को अमृत से सन्तुष्ट करता है, और वह भी सन्तुष्ट होकर उसे उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। जो इसे जानते हुये प्रतिदिन तर्कशास्त्र और पौराणिक कथाओं का अध्ययन करता है वह देवों को दुग्ध और मांसौदनों से सन्तुष्ट करता है; और देव-गण भी सन्तुष्ट होकर उसे उक्त रूप से सन्तुष्ट करते हैं। जल गतिशील हैं, सूर्य गतिशील है, चन्द्रमा गतिशील हैं, नक्षत्र भी गतिशील हैं। जो ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय नहीं करता वह उस दिन वैसा ही बन जाता है जैसा उक्त सूर्य और नक्षत्रादि अपनी गति का परित्याग कर देने पर हो जायेंगे। अतः स्वाध्याय करना चाहिये। अतः मनुष्य को अपनी हवि के रूप में ऋग्वेद अथवा सामवेद अथवा यजुर्वेद अथवा गाथा अथवा कुम्या का एक श्लोक समर्पित करना चाहिये जिससे उसके व्यवहारों में व्यवधान न पड़े।"

वेदों के सन्दर्भ में मनु निम्नलिखित आदरसूचक भावना व्यक्त करते है :

पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश् चक्षुः सनातनम्। अशक्यं चाप्रमेयं च वेद-शास्त्रम् इति स्थितिः। या वेद-बाह्याः स्मृतयो याश् च काश्च कुदृष्टयः।[21] सर्वास् ता निष्फलाः प्रेत्य तमो-निष्ठाः हि ताः स्मृतः। उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्य् अतोऽन्यानि कानिचित्। तन्य् अर्वाक्-कालिकतया[22] निष्फलान्य् अनृतानि च। चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश् चत्वारश् चाश्रमाः पृथक्। भूतम् भवद् भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। शब्दः स्पर्शश् च रूपं च रसो गन्धश् च पञ्चमः। वेदाद् एव प्रसिद्-ध्यन्ति प्रसूति-गुण-कर्मतः। बिभर्ति[23] सर्व-भूतानि वेद-शास्त्रं सनातनम्। तस्माद् एतत् परम् मन्ये यज् जन्तोर् अस्य साधनम्। सैनापत्यं

[21] "दृष्टार्थ-वाक्यानि 'चैत्यवन्दनात्स्वर्गो भवति' इत्यादीनि यानि च असत्तर्क-मूलानि देवतापूर्वादिनिराकरणात्मकानि वेद-विरुद्धानि चार्वाकदर्शनानि।" अर्थात् 'दृष्ट जगत् के अनुभवो के आधार पर निकाले गये ऐसे निष्कर्ष जैसे 'चैत्य' की वन्दना करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, मिथ्या तर्क पर आधारित, ईश्वर के अस्तित्व, तथा धार्मिक कृत्यो के प्रभाव न मानने वाले तथा चार्वाक आदि के वेद विरुद्ध सिद्धान्त।' कुल्लूक

[22] "इदानीन्तनरवत्", अर्थात् 'अपनी अर्वाचीनता के कारण', कुल्लूक।

[23] "हविर् अग्नौ हूयते। सोऽग्निर् आदित्यम् उपसर्पति। तत्सूर्यो रश्मिभिर् वर्षति। तेनान्नं भवति। अथ इह भूतानाम् उत्पत्ति-स्थितिश्चेति हविर्जायते" इति ब्राह्मणम्। अर्थात् 'हवि की अग्नि मे आहुति दे दी जाती है, अग्नि सूर्य मे

च राज्यं च दण्ड-नेतृत्वम् एव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेद-शास्त्र-विद् अर्हति। यथा जातबलो वह्निर् दहत्य् आर्द्रान् अपि द्रुमान्। तथा दहति वेद-ज्ञः कर्मजं दोषम् आत्मनः। वेद-शास्त्रार्थ-तत्त्व-ज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते (मनुस्मृति १२. ९४-१०२)

"पितरों, देवों, और मनुष्यों का सनातन नेत्र वेद ही है; यह अपौरुषेय और अप्रमेय है, ऐसी शास्त्रों की व्यवस्था है। जो स्मृतियाँ वेद-बाह्य हैं और जो कुदृष्टियाँ (चार्वाकादि कृत शास्त्र) है, वे सब परलोक में निष्फल हैं, क्योंकि उन्हें तमः प्रधान कहा गया है। वेदबाह्य जो शास्त्र रचे जाते तथा नष्ट होते हैं, वे सब अपनी अर्वाचीनता के कारण निष्फल तथा असत्य होते है। पृथक्-पृथक् चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, और भूत, भविष्य तथा वर्तमान, यह सब वेदों से ही प्रसिद्ध होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और पाँचवाँ गन्ध, ये सब गुण निमित्तक वैदिक कर्महेतुक होने से वेदों से ही प्रसिद्ध होते हैं। सनातन वेदशास्त्र समस्त भूतों को धारण करते हैं, अतः मैं जीव का उत्तम पुरुषार्थ-साधन वेद को मानता हूँ। वेद-ज्ञाता मनुष्य ही सेनापतित्व, राज्य, दण्ड और न्याय, तथा सम्पूर्ण लोकों के स्वामित्व के योग्य होता है। जिस प्रकार प्रबल अग्नि गीले वृक्षों को भी जला देती है उसी प्रकार वेदज्ञाता मनुष्य अपने निषिद्ध कर्मों को भी नष्ट कर देता है। वेदशास्त्र के वास्तविक अर्थ को जानने वाला किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी लोक में ब्रह्म-भाव के लिये समर्थ होता है।"

इसी प्रकार के कुछ अन्य स्थलों का नीचे उद्धरण दिया जा रहा है, जो मनुस्मृति में सर्वत्र बिखरे मिलते हैं :

श्रुतिस् तु वेदो विज्ञेयो धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्व् अमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ। ११. योऽवमन्येत ते मूले हेतु-शास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर् बहिष्कार्य्यो नास्तिको वेद-निन्दकः। . . १३. धर्मं जिज्ञासमानानाम् प्रमाणम् परमं श्रुतिः (मनुस्मृति २. १०-१३)

"वेदों को श्रुति, तथा धर्मशास्त्र को स्मृति जानना चाहिये इनके विषय प्रतिकूल तर्क के योग्य नहीं हैं, क्योंकि इनसे ही धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है।

पहुँच जाते हैं, सूर्य अपनी रश्मियों से वर्षा कराता है, तब अन्न की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार हवि इस पृथ्वी पर भूतो की उत्पत्ति और स्थिति का कारण होती है' ऐसा एक ब्राह्मण का कथन है।" कुल्लूक

जो मनुष्य तर्कशास्त्र[२४] के आधार पर इनका अपमान करता है वह सज्जनों के द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाने के योग्य होता है।......धर्म के जिज्ञासुओं के लिये वेद ही मुख्य प्रमाण है।"

निम्न स्थल पर ब्रह्म-ज्ञान की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया है, यद्यपि इसमें वैदिकजप आदि का भी उल्लेख है :

ध्यानिकं सर्वम् एवैतद् यद् एतद् अभिशब्दितम्। न ह्य् अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रिया-फलम् उपाश्नुते। अधियज्ञम् ब्रह्म जपेद् आधिदैविकम् एव च। आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्। इदं शरणम् अज्ञानाम् इदम् एव विजानताम्। इदम् अन्विच्छतां स्वर्गम् इदम् आनन्त्यम् इच्छताम् (मनुस्मृति ६ ८२-८४)

"जो कुछ पूर्व श्लोक में कहा गया है, वह परमात्मा में ध्यान से ही होता है। अध्यात्म-ज्ञान से शून्य ध्यान का फल कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता। यज्ञ तथा देव के प्रतिपादक वेद-मन्त्र का, जीव के स्वरूप के प्रतिपादक वेद-मन्त्र का और ब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त में वर्णित मन्त्र का जप करे। वेदार्थ को न जानने वालों के लिये यही वेद शरण हैं और वेदार्थ जानने वालों के लिये भी यही शरण हैं; मोक्ष और चिरत्व की आकांक्षा करने वालों के लिये भी वेद ही शरण हैं।"

निम्नलिखित स्थल पर धार्मिक कृत्यों का फल प्राप्त करने के लिये पवित्र जीवन की आवश्यकता पर ज़ोर दिये जाने के कारण एक नैतिकता की भावना व्यक्त होती है :

वेदास् त्यागश् च यज्ञाश् च नियमाश् च तपांसि च। न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् (मनुस्मृति २. ९७)

"दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य की, वेदाध्ययन, दान, यज्ञ, नियम और तपस्यायें कभी सिद्ध नहीं होतीं।"

निम्नलिखित पक्तियों से जो आभास मिलता है वह नैतिकता के बहुत अनुकूल नहीं है :

---

[२४] फिर भी इसका मनुस्मृति के ही १२वे अध्याय के १०६वे श्लोक के साथ अध्ययन करना चाहिये जो इस प्रकार है : 'आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस् तर्केनानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नापरः।' अर्थात् 'जो मनुष्य ऋषिदृष्ट वेद तथा तन्मूलक स्मृति शास्त्रो को वेदानुकूल तर्क से विचारता है वही धर्मज्ञ है, दूसरा नही।

हत्वा लोकान् अपीमांस् त्रीन् अश्नन्न् अपि यतस्ततः। ऋग्वेदं धारयन् विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन। ऋक्संहितां त्रिर् अभ्यस्य यजुषां वा समाहितः। साम्ना वा स-रहस्यानां सर्व-पापैः प्रमुच्यते। यथा महाह्रदम् प्राप्य क्षिप्तम् लोष्टं विनश्यति। तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति (मनुस्मृति ११. २६१—२६३)

"इन तीनों लोकों की हत्या तथा जहाँ-तहाँ भोजन करनेवाला ब्राह्मण भी ऋग्वेद को धारण करने पर किसी दोष में लिप्त नहीं होता। ऋग्वेद को, अथवा यजुर्वेद को, अथवा उपनिषद् सहित सामवेद को समाहित-चित्त होकर तीन बार अभ्यास करके वह सब पापों से छूट जाता है। जिस प्रकार महान जलाशय में गिरा हुआ मिट्टी का ढेला जल का स्पर्श करते ही पिघल जाता है उसी प्रकार 'त्रिवृत' वेद में सब पाप डूब जाते हैं।"

उपरोद्धृत स्थलों पर वेदों के प्रति पवित्रता की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखते हुये, गत पृष्ठों में मारकण्डेय पुराण (९९. १—७) में वर्णित वेदों की विशिष्टता, तथा साथ ही साथ, निम्नोद्धृत श्लोकों में से द्वितीय में सामवेद के लिये व्यवहृत उपाधि निःसन्देह महत्वपूर्ण है :

साम-ध्वनाव् ऋग्-यजुषी नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाऽप्य् अन्तम् आरण्यकम् अधीत्य च। ऋग्वेदो देव-दैवत्यो यजुर्वेदस् तु मानुषः। सामवेदः स्मृतः पित्र्यस् तस्मात् तस्याशुचिर् ध्वनिः (मनुस्मृति ४. १२३—१२४)

"सामवेद की ध्वनि सुनाई पड़ते रहने पर, अथवा उपनिषद् या आरण्यक का अध्ययन समाप्त करने पर ऋग्वेद अथवा यजुर्वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिये। ऋग्वेद के देव-गण, यजुर्वेद के मनुष्य-गण और सामवेद के पितृ-गण देवता हैं, अतः सामवेद की ध्वनि अपवित्र है।"

फिर भी भाष्यकार कुल्लूक सामवेद की ध्वनि को वास्तव में 'अपवित्र' नहीं मानते। उनका कथन है कि 'इसमें केवल अपवित्रता की समानता मात्र है' (तस्मात् तस्य अशुचिर् इव ध्वनिः। न त्व् अशुचिर् एव)। इनकी इस उक्ति में, अनेक धर्मशास्त्रियों की ही भाँति, भाष्य किये जानेवाले मूल ग्रन्थों के उन सभी स्थलों के उपेक्षा की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है जो पूर्णत्व के उनके अपने सिद्धान्त के विपरीत प्रतीत होते हैं। यतः कुल्लूक के काल का मत वेदों को शाश्वत और दिव्य मानता था, अतः उन्होंने भी वेदों अथवा उनके किसी भी अंश में अपवित्रता अथवा कोई दोष मानना असम्भव समझा। कोई भी ऐसी उक्ति, चाहे वह उच्चतम आचार्यों की ही क्यों न हो, यदि इस

मत का प्रतिवाद करती थी तो उसकी व्याख्या उपेक्षणीय मानी जाती थी। मैं यह बताने की स्थिति में नहीं हूँ कि अपवित्रता की यह धारणा सामवेद से किस प्रकार सयुक्त हुई।[२५] इन स्थलों का स्रोत सम्भवतः कुछ ऐसी वैदिक परम्परायें हो सकती हैं जो सामवेद के विरुद्ध थीं, किन्तु प्राचीन ग्रंथों में इनके उल्लेख के कारण इन्हें उन धर्मशास्त्रों में भी सम्मिलित कर लिये जाने के योग्य समझा गया जो निश्चित रूप से विभिन्न स्रोतों से सकलित किये गये हैं, और जिनमें परस्पर संगति भी लक्षित नहीं होती।

विष्णु पुराण :—विष्णु पुराण के निम्नोद्धृत स्थल के अन्तिम अंशों में भी सामवेद को, यद्यपि एक भिन्न आधार पर, अपवित्र कहा गया है :

या तु शक्तिः परा विष्णोर् ऋग्-यजुः-साम-संज्ञिता। सैषा त्रयी तपत्य् अंहो जगतश् च हिनस्ति यत्। सैव विष्णुः स्थितः स्थित्यां जगतः पालनोद्यतः। ऋग्-यजुः-साम-भूतोऽन्तः सवितुर् द्विज तिष्ठति। मासि मासि रविर् यो यस् तत्र तत्र हि सा परा। त्रयीमयी विष्णु-शक्तिर् अवस्थानं करोति वै। ऋचस् तपन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्नेऽथ यजूंष्य् अथ। बृहद्रथन्तरादीनि सामान्य् अह्नः क्षये रवौ। अङ्गम् एषा त्रयी विष्णोर् ऋग्-यजुः-साम-संज्ञिता। विष्णु-शक्तिर् अवस्थानम् मासा-दित्ये करोति सा। न केवलं रवौ शक्तिर् वैष्णवी सा त्रयीमयी। ब्रह्माऽथ पुरुषो रुद्रस् त्रयम् एतत् त्रयीमयम्। सर्गादाव् ऋङ्मयो ब्रह्मा स्थितौ विष्णुर् यजुर्मयः। रुद्रः साममयोऽन्ताय तस्मात् तस्याशुचिर् ध्वनिः (विष्णु पु० २. ११, ७–१२)।

"भगवान विष्णु की सर्वशक्तिमयी जो ऋक्, यजुः, और साम नामक पराशक्ति है वही वेदत्रयी सूर्य को ताप प्रदान करती है और ससार के समस्त पापों को नष्ट कर देती है। जगत की स्थिति और पालन के लिये ऋक्, यजुः, और सामरूप विष्णु सूर्य के भीतर निवास करते हैं। प्रत्येक मास में जो जो

---

[२५] ऋग्वेद मे देव-कर्म, यजुर्वेद मे मनुष्य-कर्म, तथा सामवेद मे पितृ-कर्म करने की विधियाँ प्राय कही गयी हैं। पितृ-कर्म करने के पश्चात् जल से आचमन कर शुद्ध होने का वचन शास्त्रो मे मिलता है। अतः पितृ-कर्मोपदेश परक सामवेद की ध्वनि को अपवित्र-सा किन्तु वस्तुत अपवित्र नही माना गया है। इस प्रकार सामवेद की ध्वनि के अपवित्रता के समान होने के कारण ही उस समय ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अध्ययन का निषेध किया गया है। सामवेद वास्तव मे अपवित्र नही है। स्वय भगवान् कृष्ण ने 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (गीता १० २२) कहकर सामवेद को सब वेदो मे श्रेष्ठ बताया है। अनुवादक

सूर्य होता है उसी उसी में वह वेदत्रयी रूपिणी विष्णु की पराशक्ति निवास करती है। पूर्वाह्न में ऋक, मध्याह्न में यजुः, तथा सायंकाल में बृहद्रथन्तरादि साम-श्रुतियाँ सूर्य की स्तुति करती हैं। यह ऋक्-यजुः-साम-रूपिणी वेदत्रयी ही भगवान विष्णु का अङ्ग है; और विष्णु की यह शक्ति सर्वदा आदित्य में रहती है। किन्तु केवल यह त्रयीमयी वैष्णवीशक्ति मात्र ही सूर्य में स्थित नहीं वरन् ब्रह्मा, विष्णु (पुरुष) और रुद्र भी त्रयीमय हैं। सर्ग के आदि में ब्रह्मा ऋङ्मय हैं, उसकी स्थिति के समय विष्णु यजुर्मय हैं तथा अन्तकाल में रुद्र साममय हैं; इसीलिये सामगान की ध्वनि अपवित्र मानी गयी है।"[२६]

वायु पुराण :—अन्यान्य ऐसे ग्रन्थों में भी, जिन्हें नास्तिक नहीं कहा जा सकता, अनेक स्थल मिलते हैं जहां वेदों के प्रति वह आदर नहीं प्रदर्शित किया गया है जो मनुस्मृति में मिलता है। इस प्रकार, वायु पुराण सृष्टिक्रम में वेदों की अपेक्षा पुराणों को प्राथमिकता देता है।

प्रथमं सर्व-शास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास् तस्य विनिस्सृताः (वायुपु० १. ६०—६१)

"सर्वप्रथम ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के पूर्व पुराणों का उच्चारण किया था। उसके अनन्तर वेद उनके मुख से प्रगट हुये।"

इसी प्रकार पद्मपुराण में यह कथन मिलता है ·

पुराणम् सर्व-शास्त्राणाम् प्रथमम् ब्रह्मणा स्मृतम्। त्रि-वर्गसाधनम् पुण्यं शत-कोटि-प्रविस्तरम्। निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण केशवः। ब्रह्मणस् तु समादेशाद् वेदान् अहृतवान् असौ। अङ्गानि चतुरो वेदान् पुराण-न्याय-विस्तरा (न् ?) मीमांसा (म् ?) धर्म-शास्त्रं च परि-गृह्याथ साम्प्रतम्। मत्स्य-रूपेण च पुनः कल्पादाव् उदकान्तरे। अशेषम् एतत् कथितम् इत्यादि।

"ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के पूर्व उन पुराणों का उच्चारण किया जिन्हें त्रिवर्ग की सिद्धि करानेवाला, पवित्र, और विस्तार में शत-कोटि श्लोकों वाला कहा गया है। जब लोक भस्म हो गये तब अश्व रूपी केशव (कृष्ण) ने ब्रह्मा का आदेश मानते हुये वेदों का उद्धार किया। पुराण, न्यायशास्त्र, मीमांसा और धर्मशास्त्र, आदि चतुर्वेदाङ्गों सहित वेदों को लेकर उन्होंने कल्पारम्भ के समय मत्स्य के रूप में जलों के बीच पुनः प्रकट किया।"

---

[२६] रुद्र के नाशकारी होने के कारण उनका नाम अपवित्र माना गया है, अतः सामगान के समय ऋक् तथा यजुर्वेद के अध्ययन का निषेध किया गया है। अनुवादक।

मत्स्य पुराण (३. २-५) में पुराणों को न केवल सृष्टि की दृष्टि से ही प्राथमिकता दी गई है वरन् उन्हें शाश्वतत्व और वाच् के साथ समीकरण जैसे उन गुणों से भी युक्त बताया है जो सामान्य रूप से केवल वेदों के ही गुण माने गये है।

रूपं दधार प्रथमम् अमराणम् पितामहः। आविर्भूतास् ततो वेदाः साङ्गोपाङ्ग-पद-क्रमाः। ३. पुराणं सर्व-शास्त्राणाम् प्रथमम् ब्रह्मणा स्मृतम्। नित्यं शब्दमयम् पुण्यम् शत-कोटि-प्रविस्तरम्। ४. अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास तस्य विनिस्सृताः। मीमांसा न्याय-विद्या च प्रमाणाष्टक-संयुता। ५. वेदाभ्यास-रतस्यास्य प्रजा-कामस्य मानसाः। मनसा पूर्व-सृष्टाः वै जाताः ये तेन मानसाः।

"अमरों में सर्वप्रथम पितामह (ब्रह्मा) ने रूप धारण किया : तदनन्तर अङ्गो, उपाङ्गों, और विभिन्न प्रकार के पद-क्रमों के साथ वेद अविर्भूत हुये। शाश्वत, शब्दमय, पवित्र, और विस्तार में शत-कोटि श्लोकों वाले वह पुराण ही समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम थे जिनका ब्रह्मा ने उच्चारण किया : और इनके बाद उनके मुख, से वेद, मीमांसा तथा अष्टप्रमाणों से युक्त न्यायशास्त्र प्रगट हुये। वेदाभ्यासी और प्रजा की कामना रखनेवाले उस ब्रह्मा से यह मानस-पुत्र उत्पन्न हुये, जिन्हें इसलिये ऐसा नाम दिया गया है कि यह सर्वप्रथम मन से ही उत्पन्न हुये थे।"

वायु पुराण के उसी खण्ड में, जिसका मैं ऊपर उद्धरण दे चुका हूँ, आगे यह कथन मिलता है :

यो विद्याच् चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः। न चेत् पुराणं संविद्याद् नैव स स्याद् विचक्षणः। इतिहास-पुराणाभ्यां वेदान् समुपबृंहयेत्। बिभेत्य् अल्प-श्रुताद् वेदो माम् अयं प्रहरिष्यति (वायु पुराण १. २००-२०१)।

"जो केवल चारों वेदों मात्र को उनके अङ्गों और उपनिषदों सहित जानता है, वह वास्तव में उस समय तक विद्वान् नहीं कहा जा सकता जब तक पुराणों को भी नहीं जान लेता। अतः मनुष्य को इतिहास और पुराण के साथ ही वेदों को पूर्ण मानना चाहिये। अल्पज्ञ व्यक्ति से वेद इसलिये भयभीत रहते हैं कि वह कहीं उनका अनुचित प्रयोग न करें।"

इन श्लोकों में से प्रथम को महाभारत के आदि पर्व (अध्याय २, श्लोक ३८२) में द्वितीय पंक्ति के प्रथमार्ध में इस विभेद के साथ दुहराया गया है : 'न चाख्यानम् इदं विद्यात्'। अर्थात् महाभारत का तात्पर्य यह है कि 'जब

तक व्यक्ति महाभारत से भी परिचित न हो तब तक उसे विद्वान् नहीं कहा जा सकता। वायु पुराण का द्वितीय श्लोक भी महाभारत (१. १, २६७) में मिलता है जहाँ निम्नलिखित पंक्तियाँ आती हैं :

कार्ष्णं वेदम् इमं विद्वान् श्रावयित्वाऽर्थम् अश्नुते (१. १. २६८)। एकतश् चतुरो वेदान् भारतं चैतद् एकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्। चतुर्भ्यः स-रहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्य् अधिकं यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतम् उच्यते (१. १. २७१-२७३)

"जो विद्वान् द्वैपायन द्वारा कहे हुये इस वेद को जानता है और इसे दूसरों को सुनाता है उसे मनोवांछित अर्थ की प्राप्ति होती है।"... "प्राचीनकाल में सब देवताओं ने इकट्ठा होकर तराजू के एक पलड़े पर चारों वेदों को और दूसरे पर 'भारत' को रखा। परन्तु जब रहस्य सहित चारों वेदों से यह भारी सिद्ध हुआ तभी से संसार में इसे महाभारत कहा जाने लगा।"

यहाँ अंशतः 'भार' के समान होने के रूप में 'भारत' शब्द पर श्लेष है।

आदिपर्व के निम्नलिखित तथा अनेक अन्य श्लोकों में इस महाकाव्य की आत्मप्रशंसा मिलती है :

इदं हि वेदैः सम्मितम् पवित्रम् अपि चोत्तमम्। श्राव्याणाम् उत्तमं चेदम् पुराणम् ऋषि-संस्तुतम् (महाभारत १. ६२, १६)।

"यह महाभारत वेदों के समकक्ष, पवित्र, अतिश्रेष्ठ, प्रवचनयोग्य, कृतियों में सर्वोत्तम, प्राचीन और ऋषियों द्वारा स्तुत्य है।"

विज्ञेयः स च वेदानाम् पारगो भारतम् पठन् (महाभारत १. ६२, ३२)।

"जो महाभारत का पाठ करता है उसे वेदों का पारङ्गत विद्वान् जानना चाहिये।"

महाभारत के अध्ययन द्वारा प्राप्त श्रेष्ठ फलों का स्वर्गारोहण पर्व (महाभारत १८. ५) में भी वर्णन मिलता है।

इसी प्रकार रामायण (१. १, ९८) अपने सम्बन्ध में यह कहता है कि, 'यह पवित्र और पुण्यकारी आख्यान वेदों के समान है'·

इदम् पवित्रम् आख्यानम् पुण्यं वेदैश् च सम्मितम्।

और भागवत पुराण (२ ८, २८) में इस प्रकार कहा गया है : 'प्राह भागवतं नाम पुराणम् ब्रह्म-सम्मितम्। ब्रह्मणे भगवत्-प्रोक्तम् ब्रह्मकल्पे उपागते'। अर्थात 'ब्रह्मरात ने उस भागवत पुराण को सुनाया जिसे ब्रह्मकल्प के आरम्भ में भगवान ने ब्रह्मा जी को सुनाया था और जो वेदों के समान है।'

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण :—ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (१. १, ४१-४२) ने अत्यन्त प्रगल्भता के साथ वेदों की अपेक्षा स्वयं अपनी श्रेष्ठता घोषित की है :

भगवन् यत् त्वया पृष्टं ज्ञातं सर्वम् अभीप्सितम्। सार-भूतं पुराणेषु ब्रह्म-वैवर्त्तम् उत्तमम्। पुराणोपपुराणानां वेदानाम् भ्रम-भञ्जनं।

"हे महामुनि आपने जिसके सम्बन्ध में मुझसे पूछा है और आप जिसके सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, वह पुराणों का सार-स्वरूप ब्रह्मवैवर्त्त पुराण मुझे ज्ञात है; यह पुराण अन्य पुराणों, उपपुराणों और वेदों की त्रुटियों का प्रतिवाद करनेवाला है।"

मुण्डक उपनिषद् के आरम्भ की निम्नोद्धृत पंक्तियों में भी वैदिक सूक्तों (यद्यपि निःसन्देह इनकी उत्पत्ति दिव्य मानी गई है)[२७] का सब दृष्टियों से अवमूल्यन करते हुये अन्य कृतियों के साथ-साथ हीन विद्याओं के अन्तर्गत रक्खा गया है। इसके विपरीत ब्रह्मविद्या को समस्त विद्याओं में सर्वोच्च स्थान देते हुये स्पष्ट रूप से ब्रह्मा को ही उसका प्रणेता बताया गया है :

ब्रह्मा देवानाम् प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्म-विद्यां सर्व-विद्या-प्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। २. अथर्वणे याम प्रवदेत ब्रह्मा अथर्वा ताम् पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्म-विद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्। ३. शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवद् उपपन्नः प्रपच्छ। कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातम् भवतीति। ४. तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्म-विदो वदन्ति परा चैवापरा च। ५. तत्रापरा "ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद. शिक्षा कल्पो व्याकरणं

[२७] वास्तव मे इसी उपनिषद् (२ १, ४-५) मे यह पंक्तियाँ मिलती हैं : 'अग्निर् मूर्धा चक्षुषी चन्द्र-सूर्यौ दिश. श्रोत्रे वाग् विवृताश् च वेदा.। वायु॰ प्राणो हृदय विश्व अस्य पद्भ्या पृथिवी ह्य् एष सर्वभूतान्तरात्मा।'' ''तस्माद् ऋच. साम यजूषि दीक्षा यज्ञाश् च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश् च। सवत्सर च यजमानश् च लोका सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य।' अर्थात्, 'अग्नि जिसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशाये जिसकी कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसका प्राण है, सारा विश्व जिसका हृदय है, और जिसके चरणो से ही पृथ्वी प्रगट हुयी है, वह वेद सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा है। उस पुरुष से ही ऋचाये, साम, यजु, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु, दक्षिण, सवत्सर, यजमान, लोक, और जहाँ तक चन्द्रमा पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है वे लोक उत्पन्न हुये हैं'।

निरुक्त छन्दो ज्योतिषम्" इति। अथ परा यया तद् अक्षरम् अधिगम्यते (मुण्डकोपनिषद् १. १, १-५)।

"विश्व का रचयिता और त्रिभुवन का रक्षक ब्रह्मा समस्त देवताओं में सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्वा को ब्रह्मा ने जिस विद्या का का उपदेश दिया था उसे उसने पूर्वकाल में अङ्गी को सिखाया। अङ्गी ने उसे भरद्वाज के पुत्र सत्यवह्य को बताया, तथा भरद्वाजपुत्र (सत्यवह्य) ने, इस प्रकार ज्येष्ठ से कनिष्ठ को प्राप्त होती हुई, उस विद्या को अङ्गिरा से बताया। महाशाल शौनक ने अङ्गिरस के पास जाकर विधिपूर्वक पूछा कि, 'भगवन्! किसको जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है'। (अङ्गिरस) ने उत्तर दिया, 'ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं—एक परा और दूसरी अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष, अपरा विद्यायें हैं, तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है।"[२८]

अलौकिक ब्रह्मविद्या की तुलना में वेदों के लौकिक अथवा सांसारिक अंशों का मूल्यन करनेवाले कुछ स्थलों का भी उद्धरण दे रहा हूँ।

प्रो० के० एम० बनर्जी के 'डायलॉग्स ऑन हिन्दू फिलॉसफी' में उद्धृत भगवद् गीता की निम्नोद्धृत पंक्तियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित कराया गया:

याम् इमाम् पुष्पिताम् वाचम् प्रवदन्त्य् अविपश्चितः। वेद-वाद-रताः पार्थ नान्यद् अस्तीति वादिनः। कामात्मानः स्वर्ग-पराः जन्म-कर्म-फल-प्रदाम्। क्रिया-विशेष-बहुलाम् भोगैश्वर्य-गतिम् प्रति। भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम् तयाऽहृत-चेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते। त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः (भगवद्गीता २ ४२-४६)।

[२८]तुलना कीजिये महाभारत का एक स्थल (१ १, २६५) जहाँ आरण्यको को वेदो से, तथा अमृत को औषधियो मे सर्वश्रेष्ठ बताया गया है (आरण्यक च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा)। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (१० ३, ५, १२) मे उपनिषदो को यजुर्वेद का सार कहा गया है (तस्य वै एतस्य यजुषो रस एव उपनिषत्)।

"वेदों के अर्थवाद में आसक्त, कर्मकाण्ड से भिन्न कोई ज्ञानकाण्ड नहीं ऐसा कहनेवाले, विषय वासनाओं में व्याप्त, और स्वर्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मानने वाले अज्ञानी लोग जो भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये विशेष कर्मों के विस्तार से युक्त इस पुष्पित पलास के समान रमणीय वाणी को बोलते रहते हैं उनसे उनका चित्त आवरण युक्त हो जाता है, तथा भोग और ऐश्वर्य में ही उनकी आसक्ति बढ़ जाती है। इसलिये उनमें आत्मतत्व का निश्चय करनेवाली बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। वेदों का विषय त्रिगुणों से सम्बन्धित है। अतः, हे अर्जुन! तुम अपने को इन त्रिगुणों से रहित करो।.....चारों ओर बहते हुए जल के बीच एक क्षुद्र जलाशय का जितना उपयोग हो सकता है, उतना ही ब्रह्मतत्व का साक्षात् करनेवाले ब्राह्मण के लिये वेदों का उपयोग है।"

छान्दोग्य उपनिषद् (७. १, १–५) का निम्न स्थल इसी विषय से सम्बद्ध है :

"अधीहि भगवः" इति ह उपससाद सनत्कुमारं नारदः। तं ह उवाच "यद् वेत्थ तेन मा उपसीद ततस् ते ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" इति। २. स ह उवाच "ऋग्वेदम् भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम् इतिहास-पुराणम् पञ्चमं वेदाना वेदम् पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यम् एकायनं देव-विद्याम् ब्रह्म-विद्याम् भूत-विद्या क्षत्र-विद्यां नक्षत्र-विद्यां सर्प-देव-जन-विद्याम् एतद् भगवोऽध्येमि। ३. सोऽहम् भगवो मन्त्र-विद् एवास्मि न आत्म-वित् श्रुत ह्य् एव मे भगवद्दृशेभ्यस् 'तरति शोकम् आत्म-विद्' इति सोऽहम् भगवः शोचामि तम् मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्व्' इति। तं ह उवाच "यद् वै किञ्च एतद् अध्यगीष्ठाः नाम एवैतत्। ४. नाम वै ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश् चतुर्थः इतिहास-पुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर् दैवो निधिर् वाकोवाक्यम् एकायनं देव-विद्या ब्रह्म-विद्या भूत-विद्या क्षत्र-विद्या नक्षत्र-विद्या सर्प-देव-जन-विद्या नाम एवैतद् नाम उपास्व" इति। ५. "स यो नाम ब्रह्म इत्य् उपास्ते यावद्-नाम्नो गतं तत्र अस्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्म इत्य् उपास्ते"। "अस्ति भगवो नाम्नो भूयः" इति। "नाम्नो वाव भूयोऽस्ति" इति। "तन् मे भगवान् ब्रवीत्व्" इति।

"सनत्कुमार के पास आकर नारद मुनि ने कहा, 'हे भगवन्! मुझे शिक्षा दीजिये।' उनको उत्तर मिला कि 'जो विद्या आप जानते हैं पहले उसे मुझे बतायें, तत्पश्चात् मैं आपको और अधिक उपदेश दूंगा।' नारद ने कहा, 'हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास और पुराण जो पञ्चमवेद कहे जाते हैं, श्राद्धकल्प, गणित, ज्योतिषशास्त्र, निधि-

शास्त्र, तर्कशास्त्र,[२९] नीतिशास्त्र, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षाकल्प, धनुर्वेद, भूत-विद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, इन सबको जानता हूँ। हे भगवन्! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूँ और आत्मविद् नहीं हूँ, किन्तु मैं आप जैसे ब्रह्म-ज्ञानियों से यह सुन चुका हूँ, कि आत्मज्ञानी व्यक्ति निश्चित रूप से दुःखों को पार कर जाता है। अतः हे भगवन्! मैं शोकग्रस्त हूँ और आप ही मुझे शोक के पार उतार दें।' सनत्कुमार ने उत्तर दिया, 'आपने जिस विद्या का अध्ययन किया है वह सब केवल नाममात्र है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम इतिहास-पुराण, तर्कशास्त्र, निरुक्त, शिक्षाकल्प, छन्द, भूततन्त्र, शास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पदेवजनविद्या, श्राद्धकल्प, गणित और फलित ज्योतिष, निधिविद्या, नीतिशास्त्र इत्यादि, सब विद्यायें केवल नाम हैं। अतः नाम की ही उपासना करें। जो नाम-ब्रह्म की इस प्रकार उपासना करता है, वह जहाँ तक नाम की गति है वहाँ तक स्वेच्छया गमन करता है। ऐसा फल उसे मिलता है जो नाम-ब्रह्म की उपासना करता है।' नारद ने पूछा, 'हे भगवन्! क्या नाम से भी कुछ श्रेष्ठ है?' उत्तर मिला, 'हाँ नामों से भी श्रेष्ठ एक वस्तु है'। नारद ने पुनः कहा, 'आप मुझे उसका उपदेश करें।''

इसी सन्दर्भ में देखिये आगे के पृष्ठों में उद्धृत भागवत पुराण (१. ४, २०, तथा ३. १२, ३९)।

शतपथ ब्राह्मण, १४. ७, १, २२ (=बृहदारण्यक उपनिषद् ४. ३, २२) का निम्न उद्धरण देखिये :

अत्र पिता अपिता भवति माता अमाता लोकाः अलोकाः देवा अदेवाः वेदा अवेदाः यज्ञाः अयज्ञाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूण-हा अभ्रूण-हा पौल्कसोऽपौल्कसश् चाण्डालोऽचाण्डालः श्रमणोऽश्रमणस् तापसोऽतापसो नन्वागतम् पुण्येन अनन्वागतम् पापेन[३०] तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति।

---

[२९] वाकोवाक्य=तर्कशास्त्र, सायण। इस शब्द का अन्यत्र 'वार्तालाप' (उक्ति-प्रत्युक्ति रूपम् प्रकरणम्) अर्थ किया गया है (देखिये शतपथ ब्राह्मण ११ ५, ६, ८ पर भाष्य)। उक्त स्थान पर विद्याओं की तालिका में प्रस्तुत शब्दों में से कुछ का आशय अस्पष्ट है, किन्तु सामान्य प्रवाह में इससे कोई व्यवधान नहीं पड़ता।

[३०] मैंने यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के पाठ को ग्रहण किया है। वेबर के शतपथ ब्राह्मण के संस्करण में 'अनन्वागत. पुण्येन अनन्वागत पापेन' पाठ है। फिर भी भाष्यकार ने 'अनन्वागत' शब्द को क्लीब माना है।

"इस (सुषुप्त) अवस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं, वेद अवेद हो जाते है, और यज्ञ अयज्ञ हो जाते है। यहाँ चोर अचोर हो जाता है, भ्रूण हत्या करनेवाला अभ्रूणहन् हो जाता है, पौल्कस अपौल्कस हो जाता है, तथा चाण्डाल अचाण्डाल, श्रमण अश्रमण, और तापस अतापस हो जाते हैं। उस समय यह पुरुष पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध हो जाता है, और हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है।"

'नन्वागत' और 'अनन्वागत' जैसे असामान्य शब्दों की शङ्कर द्वारा प्रस्तुत व्याख्या से सम्बद्ध बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य के कुछ अंश का उद्धरण दे रहा हूँ :

नन्वागतं न अन्वागतम् अनन्वागतम् असम्बद्धम् इत्य् एतत् पुण्येन शास्त्र-विहितेन कर्मणा तथा पापेन विहिताकरण-प्रतिषिद्ध-क्रिया-लक्षणेन।

"नन्वागत = न अन्वागत' और 'अनन्वागत = असम्बद्ध (वह पुण्य अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों से असम्बद्ध रहता है, तथा विहित को न करने और अविहित को करनेवाले के रूप में पाप से भी असम्बद्ध रहता है।")

इसी विषय पर भागवत पुराण (४. २९, ४२-४९) में महर्षि नारद ने इस प्रकार कहा है :

प्रजापति-पतिः साक्षाद् भगवान् गिरिशो मनुः। दक्षादयः प्रजाध्यक्षाः नैष्ठिकाः सनकादयः। मरीचिर् अत्र्य्-अङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। भृगुर् वशिष्ठः इत्य् एते मद्-अन्ताः ब्रह्मवादिनः। अद्यापि वाचस्पतयस् तपो-विद्या-समाधिभिः। पश्यन्तोऽप्य् न पश्यन्ति पश्यन्तम् परमेश्वरम्। शब्द-ब्रह्मणि दुष्पारे चरन्तः उरुविस्तरे। मन्त्र-लिङ्गैर् व्यवच्छिन्नम् भजन्तो न विदुः परम्। यदा यस्यानुगृह्णाति भगवान् आत्म-भावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठितां। तस्मात् कर्मसु बर्हिष्मन्न अज्ञानाद् अर्थ-काशिषु। माऽर्थ-दृष्टिं कृथाः श्रोत्र-स्पर्शिष्व् अस्पृष्ट-वस्तुषु। स्व-लोकं न विदुस् ते वै यत्र देवो जनार्दनः। आहुर् धूम्र-धियो वेदं स-कर्मकम् अ-तद्-विदः। आस्तीर्य दर्भैः प्राग्-अग्रैः कार्त्स्न्येन क्षिति-मण्डलम्। स्तब्धो बृहद्-वधाद् मानी कर्म नावैषि यत् परम्। तत् कर्म हरि-तोषं यत् सा विद्या तन्-मतिर् यया। (भागवत-पु० ४. २९, ४२-४९)।

"साक्षात् प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्मा, भगवान गिरीश (शिव), दक्ष तथा अन्य प्रजापतिगण, सनक तथा अन्य नैष्ठिक, मरीचि, अङ्गिरस्, पुलह,

क्रतु, भृगु, वसिष्ठ—यह सब ब्रह्मवादी ऋषि-गण, और अन्तिम में (नारद), समस्त विद्याओं के अधिपति होने तथा तप, विद्या, और समाधि के द्वारा देखते हुये भी उस परमेश्वर को अब तक न देख सके जो सब कुछ देखता है। शब्दब्रह्म (वेद) के विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण करते हुये जिसका पार पाना कठिन है, अनेक महानुभाव मन्त्रों मे बताये हुये उसके रूप और गुण के आधार पर उसकी उपासना करते हुये भी उसके रूप को नहीं जान पाते। जब वह भगवान किसी व्यक्ति पर कृपा करता है तो वह व्यक्ति लौकिक और वैदिक व्यवहारों का परित्याग करके ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। अतः, बर्हिष्मन ! तुम उन कर्मों में रत मत रहो, जो सुनने में प्रिय जान पड़ते हैं, और अज्ञान के कारण ऐसे प्रतीत होते हैं मानों परमार्थसाधक हों, जब कि वास्तव मे वह परमतत्व का स्पर्श भी नहीं करते। जो मलिन मति वेदों को कर्मपरक बताते हैं, वह वास्तव में उसका मर्म नहीं जानते। इसका कारण यह है कि वह अपने उस लोक से परिचित नहीं होते, जहाँ दिव्य जनार्दन विराजमान है। पूर्व की ओर अग्रभाग वाले कुशाओं से सम्पूर्ण भूमण्डल को आच्छादित करके अनेक पशुओं का वध करने से तुम अत्यन्त कर्माभिमानी और उद्धत हो गये हो; किन्तु तुम्हें वास्तविक कर्म या उपासना का ज्ञान नहीं है। कर्म वही है जिससे हरि प्रसन्न होते हैं, और विद्या वही है जिससे भगवान में चित्त लग सके।"

मैं इस स्थल के कुछ अंशों (श्लोक ४५, ४६) के भाष्य से नीचे उद्धरण दे रहा हूँ :

शब्द-ब्रह्मणि वेदे उरुर् विस्तारो यस्य अर्थतोऽपि पार-शून्ये तस्मिन् वर्त्तमानाः मन्त्राणां लिङ्गैर् वज्र-हस्तत्वादि-गुण-युक्त-विविध-देवताऽभिधान-सामर्थ्यैः परिच्छिन्नम् एव इन्द्रादि-रूपम् तत्-तत्-कर्माग्रहेण भजन्त परम् परमेश्वरं न विदुः। तर्हि अन्यः को नाम। कर्मादि आग्रहं हित्वा परमेश्वरम् एव भजेद् इत्य् अत आह "यदा यम् अनुगृह्णाति" अनुग्रहे हेतुः। आत्मनि भावितः सन् स तदा लोके लोक-व्यवहारे वेदे च कर्ममार्गे परिनिष्ठिताम् मतिं त्यजति।

"अत्यन्त विस्तृत और वास्तव में असीम ब्रह्मविद्या अथवा वेद में पारङ्गत जो व्यक्ति मन्त्रों में बताये हुये वज्र-हस्तत्वादि गुणों से युक्त इन्द्र इत्यादि के रूप में परमेश्वर की उपासना करता है, उसके सम्बन्ध में मैं यह कहता हूँ कि, 'कर्मों के आग्रह द्वारा परमेश्वर की उपासना करते हुये भी वह परमेश्वर को नहीं जानता'। अत. कौन सा दूसरा देवता है? इसीलिये 'जब वह किसी पर अनुग्रह करता है' इत्यादि शब्दों द्वारा यह कहा गया है कि कर्मों के समस्त आग्रहों का परित्याग करके केवल परमेश्वर की उपासना करना चाहिये। भगवान के

इस अनुग्रह का कारण इन शब्दों में व्यक्त किया गया है : 'आत्मनिष्ठ होकर लोक व्यवहारों और वेद विहितमार्गों का परित्याग कर देता है'।"

कठ उपनिषद् (२. २३) से उद्धृत निम्न स्थल भी बहुत कुछ इसी प्रकार की भावना से युक्त है :

नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यम् एवैष वृनुते तेन लभ्यस् तस्यैष आत्मा वृनुते तनूं स्वाम्।

"इस आत्मा की उपलब्धि प्रवचन से नहीं होती; और न यह मेधा अथवा श्रुतियों से ही उपलब्ध होता है। यह उसे ही उपलब्ध होता है जिसका यह वरण करता है। आत्मा उस व्यक्ति के शरीर का अपने आवास के रूप में वरण कर लेता है।"

भाष्यकार ने इस उद्धरण के प्रथम अंश की इस प्रकार व्याख्या की है :

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयम् आत्मा चथाप्य् उपायेन सुविज्ञेयः एव इत्य् आह नायम् आत्मा प्रवचनेन अनेक-वेद-स्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थ-धारणा-शक्त्या न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्यः इत्य् उच्यते।

"यद्यपि इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, तथापि उपयुक्त उपायों से इसे सरलतापूर्वक जाना जा सकता है। श्रुतिकार ने इसी तथ्य को बताने का प्रयास किया है। इस आत्मा को प्रवचन, अथवा अनेक वेदों को स्वीकार करने से जाना या प्राप्त नहीं किया जा सकता। और न इसे मेधा, ग्रन्थों के विषय-वस्तु को धारणा करने, अथवा अनेक श्रुतियों द्वारा ही जाना जा सकता है। वह किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है ? इसी को आगे बताया गया है।"

उक्त स्थल के शेषांश की भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत वेदान्तिक व्याख्या का अवलोकन यहाँ आवश्यक नहीं।[३१]

गतपृष्ठों में उद्धृत स्थलों पर, जो कि अपनी आध्यात्मिक आकांक्षाओं की दृष्टि से कृतिकारों के दो अलग-अलग वर्गों से सम्बद्ध हैं, परम ज्ञान में सहायक होने की अपेक्षा अवरोधक के रूप में ही वैदिक सूक्तों के अनेक देवतावाद का बहुत कुछ स्पष्ट और प्रभावशाली शब्दों में अवमूल्यन मिलता है। इनमें बहु-देवतवाद पर आधारित और स्वर्ग लोक की प्राप्ति के हेतु किये गये विविध सांस्कारिक कृत्यों अथवा कर्मकाण्डों का यदि अनादर नहीं किया गया है तो भी उनके प्रति उपेक्षा का भाव अवश्य प्रदर्शित किया गया है।

---

[३१] देखिये। प्रो० मूलर : ऐन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, प्रथम संस्करण, पृ० ३२०, और पृ० १०९।

खण्ड ५—विष्णु, वायु, और भागवत पुराणों, तथा महाभारत के अनुसार वेदों का विभाजन

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कुछ पुराणों में वेदों को ब्रह्मा के विभिन्न मुखों से उत्पन्न बताया गया है। यदि इनमें से प्रत्येक की इस प्रकार पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई है, तो यह निश्चित है कि अपनी उत्पत्ति के समय से ही इनका अस्तित्व भी स्पष्टतः पृथक्-पृथक् रहा होगा। फिर भी अन्यत्र यह कहा गया है कि मूलतः केवल एक ही वेद था, जिसे बाद में चार अंशों में विभक्त कर दिया गया।

इस प्रकार विष्णु पुराण में वेदों के विभाजन के सम्बन्ध में निम्नोद्धृत वर्णन मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि मूलतः चार भागों में केवल एक ही वेद था।

कृते युगे परं ज्ञानम् कपिलादि-स्वरूप-धृक्। ददाति सर्व-भूताना सर्व-भूत-हिते रतः। चक्रवर्त्ति-स्वरूपेण त्रेतायाम् अपि स प्रभुः। दुष्टाना निग्रह कुर्वन् परिपाति जगत्त्रयम्। वेदम् एक चतुर्-भेदं कृत्वा शाखा-शतैर् विभुः। करोति बहुलम् भूयो वेदव्यास-स्वरूप-धृक्। वेदांस् तु द्वापरे व्यस्य, इत्यादि (विष्णु पु० १. २, ५५-५८)।

"समस्त प्राणियों के कल्याण में तत्पर होकर कृतयुग में विष्णु कपिलादि रूप धारण करके प्राणियों को परमज्ञान का उपदेश करते हैं। त्रेता युग में वही प्रभु चक्रवर्ती भूपाल के रूप में दुष्टों का दमन करके तीनों लोकों की रक्षा करते हैं। तदनन्तर वह वेदव्यास का रूप धारण करके एक ही वेद को चार भागों में विभक्त करते हैं, और फिर सैकड़ों शाखाओं में बाँटकर उनका बहुत विस्तार कर देते हैं। इस प्रकार उन्होंने द्वापर में वेदों का विस्तार करके," इत्यादि।[32]

विष्णु पुराण के निम्नोद्धृत स्थल पर इसी विषय का और विस्तार से वर्णन किया गया है :

वेद-द्रुमस्य मैत्रेय शाखा-भेदैः सहस्रशः। न शक्यो विस्तरो वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्। द्वापरे द्वापरे विष्णुर् व्यासरूपी महामुने। वेदम् एकम् स बहुधा कुरुते जगतो हितः। वीर्यं तेजो बलं चाल्पम् मनुष्याणाम् अवेक्ष्य वै। हिताय सर्व-भूतानां वेद-भेदान् करोति सः। यया स

[32] इस विषय पर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत महाभारत के एक स्थल के कुछ अंशों की तुलना कीजिये।

कुरुते तन्वा वेदम् एकं पृथक् प्रभुः । वेदव्यासाभिधाना तु सा मूर्तिर् मधुविद्विषः । .....अष्टाविंशति-कृत्वो वै वेदाः व्यस्ताः महर्षिभिः । वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन् द्वापरेषु पुनः पुनः (विष्णु पु० ३. ३, ४-७. ९) ।

"हे मैत्रेय ! वेदरूप वृक्ष के सहस्रों शाखा-भेद हैं जिसके कारण उनका विस्तार से वर्णन असम्भव है; किन्तु उसे संक्षेप में सुनो । प्रत्येक द्वापर युग में व्यास के रूप में अवतीर्ण होकर विष्णु, जगत् के हित के लिये, एक वेद के अनेक भेद कर देते हैं । मनुष्यों के बल, वीर्य, और तेज की अल्पता को जानकर वे समस्त प्राणियों के हित के लिये वेदों का विभाजन करते है । वह वेदव्यास, जिसके रूप में प्रभु एक वेद के अनेक विभाग करते हैं, मधु (विष्णु) के शत्रु के प्रतिरूप हैं । .....इस वैवस्वत मन्वन्तर[33] के प्रत्येक द्वापर युग में महर्षियों ने अब तक अट्ठाइस बार वेदों का विभाजन किया है ।" तदुपरान्त इन महर्षियों की गणना कराई गई है, जिनमें से कृष्ण द्वैपायन[34] छब्बीसवें हैं ।

इसके बाद के अध्याय (विष्णु पुराण ३. ४, १ और बाद) के आरम्भिक अंशों में पुनः इसी विषय का विवेचन किया गया है :

आद्यो वेदश् चतुष्पादः शत-साहस्र-सम्मितः । ततो दश-गुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्व-कामधुक् । ततोऽत्र मत्-सुतो व्यासोऽष्टाविंशतितमेऽन्तरे । वेदम् एकम् चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः । यथा तु तेन वै व्यस्ताः वेदव्यासेन धीमता । वेदास् तथा समस्तैस् तैर् व्यस्ताः व्यासैस् तथा मया । तद् अनेनैव वेदानां शाखाभेदान् द्विजोत्तम । चतुर्युगेषु रचितान् समस्तेष्व् अवधारय । कृष्णद्वैपायनं व्यासम् विद्धि नारायणम् प्रभुम् । कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय महाभारत-कृद् भवेत् । तेन

---

[33] मन्वन्तरो के विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग देखिये ।

[34] लासन (इ० आ०, द्वितीय संस्करण, १. ७७७, नोट) ने यह टिप्पणी की है : "'व्यास' व्यवस्था को व्यक्त करता है और यही आशय आख्यानो का विवरण प्रस्तुत करनेवालो की स्मृति मे भी सुरक्षित है, जिन्होंने इस नाम से 'विव्यास' शब्द का निर्माण कर लिया है ।" यहाँ लासन का महाभारत के उन दो स्थलो से तात्पर्य है, जहाँ 'व्यास' की व्याख्या की गई है : 'विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास. इति स्मृत ' (महाभारत १ ६३, ८८), अर्थात् 'वेदो का विभाजन करने के कारण उन्हे व्यास कहते हैं ।' और 'यो व्यस्य वेदाश् चतुरस् तपसा भगवान् ऋषि । लोके व्यासत्वम् आपेदे कार्ष्ण्यंस् कृष्णत्वम् एव च,' (वही १ १०४, १५), अर्थात् 'कृष्णद्वैपायन व्यास ने तपस्या से वेदो का विभाजन करके व्यास और अपने कार्ष्णत्व से कृष्ण नाम प्राप्त किया ।'

व्यस्ताः यथा वेदाः मत्-पुत्रेण महात्मना। द्वापरे ह्य् अत्र मैत्रेय तद् मे शृणु यथार्थत'। ब्रह्मणा चोदितो व्यासो वेदान् व्यस्तुम् प्रचक्रमे। अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेद-पार-गान्। ऋग्वेद-श्रावकम् पैलं जग्राह स महामुनिः। वैशम्पायन-नामानं यजुर्वेदस्य चाग्रहीत्। जैमिनिं साम-वेदस्य तथैवाथर्ववेद-वित्। सुमन्तुस् तस्य शिष्योऽभूद् वेदव्यासस्य धीमतः। रोमहर्षण-नामानम् महाबुद्धिम् महामुनिम्। सूत जग्राह शिष्यं स इतिहास-पुराणयोः। (विष्णु पु० ३. ४, १-१०)।

"आदि वेद चार पादों और शत-सहस्र मन्त्रों से युक्त था। उसी से समस्त कामनाओं को प्रदान करनेवाले दस प्रकार के यज्ञों का प्रचार हुआ। तदनन्तर अट्ठाइसवें मन्वन्तर में मेरे पुत्र (यहाँ पराशर जी बोल रहे हैं) महान व्यास ने इस चतुष्पादयुक्त एक वेद के चार भाग किये। परम बुद्धिमान व्यास ने वेदों का जिस प्रकार विभाग किया है, ठीक उसी प्रकार अन्यान्य व्यासों ने तथा मैंने भी पहले किया था। अतः ऐसा जानो कि इनके द्वारा किये गये वेद के शाखा-भेद वैसे ही थे जैसे समस्त चतुर्युगों में। कृष्णद्वैपायन व्यास को तुम साक्षात् नारायण ही समझो क्योंकि नारायण के अतिरिक्त संसार में और कौन महाभारत का रचयिता हो सकता है? अब यथावत् इस बात को सुनो कि द्वापरयुग में मेरे महान पुत्र ने किस प्रकार वेदों का विभाजन किया था। जब ब्रह्मा जी की प्रेरणा से व्यास ने वेदों का विभाग करने का उपक्रम किया तब उन्होंने वेद का अन्त तक अध्ययन करने में समर्थ चार शिष्यों को लिया। उस महामुनि ने पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, और जैमिनि को सामवेद की शिक्षा दी, तथा सुमन्तु नामक शिष्य अथर्ववेद का ज्ञाता हुआ। उन्होंने इतिहास और पुराण के लिये शिष्य के रूप में सूत-जातीय महाबुद्धिमान् रोमहर्षण को ग्रहण किया।"[३५]

---

[३५] वाजसनेयि संहिता (वेबर संस्करण) मे,वेदो के विभाजन के सम्बन्ध मे महीधर ने यह विचार व्यक्त किया है ' 'तत्रादौ ब्रह्म-परम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्द-मतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्-कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्-यजुः-सामाथर्वाख्याश् चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायन-जैमिनि-सुमन्तुभ्यः क्रमाद् उपदिदेश ते च स्व-शिष्येभ्य । एवम् परम्परया सहस्र-शाखो वेदो जातः।' अर्थात् 'मन्दबुद्धि व्यक्तियो पर दया करके वेदव्यास ने उन वेदो को चार भागो मे विभाजित किया जो ब्रह्मा जी के समय से सनातन चले आ रहे हैं। व्यास ने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, और सुमन्तु को सिखाया, और इन लोगो ने पुन अपने शिष्यो को। इस प्रकार परम्परा द्वारा सहस्रशाखाओ वाले वेद उत्पन्न हुये।'

वायु पुराण :—इसी प्रकार, और प्रायः इन्हीं शब्दों में, वायु पुराण भी ापर युग में वेदों के विभाजन का वर्णन करता है। सर्वप्रथम वहाँ इस बात ा वर्णन है कि किस प्रकार प्रथम मन्वन्तर में स्वयम्भुव मनु ने विभाजन केया था, और तदुपरान्त यह बताया गया है कि किस प्रकार वर्त्तमान सातवे न्वन्तर में वैवस्वत मनु ने यह कार्य किया। व्यास ने भी नि.सन्देह द्वापर में ही यह विभाजन किया था, यद्यपि इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

नीचे इसी पुराण का उद्धरण दिया जा रहा है :

द्वापरे तु पुरावृत्ते मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे। ब्रह्मा मनुम् उवाचेदम् वेदं व्यस्य महामते। परिवृत्तं युगं तात स्वल्पवीर्याः द्विजातयः। संवृत्ताः युग-दोषेन सर्वं चैव यथाक्रमम्। भ्रष्ट-मानं युग-वशाद् अल्प-शिष्टं हि दृश्यते। दश-साहस्र-भागेन ह्य अवशिष्टम् कृताद् इदम्। वीर्यं तेजो बलं चाल्पं सर्वं चैव प्रणश्यति। वेदे वेदाः हि कार्य्याः स्युर् मा भूद् वेद-विनाशनं। वेदे नाशम् अनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति यज्ञे नष्टे देव-नाशस् ततः सर्वम् प्रणश्यति। आद्यो वेदश् चतुष्-पादो शत-साहस्र-सम्मितः। पुनर दश-गुणः कृत्स्नो यज्ञो वै सर्व-काम-धुक्। एवम् उक्तस् तथेत्य् उक्त्वा मनुर् लोक-हिते रतः। वेदम् एकम् चतुष्-पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः। ब्रह्मणो वचनात् तात लोकानां हित-काम्यया। तद् अहम् वर्त्तमानेन युष्माकम् वेद-कल्पनम्। मन्वन्तरेण वक्ष्यामि व्यतीता-नाम् प्रकल्पनम्। प्रत्यक्षेन परोक्षं वै तद् निबोधत सत्तमाः। अस्मिन् युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परन्तपः। "द्वैपायनः" इति ख्यातो विष्णोर् अंशद् प्रकीर्त्तितः। ब्रह्मणा चोदितः सोऽस्मिन् वेदं व्यस्तुम् प्रचक्रमे। अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेद-कारणात्। जैमिनिं च सुमन्तुं च वैशम्पायनम् एव च। पैलं तेषां चतुर्थं तु पञ्चमं लोमहर्षणम्। (वायु-पुराण ६०. २-१३)।

"पूर्ववर्ती स्वयम्भुव मन्वन्तर के द्वापर युग में ब्रह्मा ने मनु से कहा, 'हे महामते ! वेदों का विभाजन करो। युग का परिवर्त्तन हो जाने के कारण युग-दोषवश सब ब्राह्मणादि वर्णों का तेज और पराक्रम अल्प हो गया है, और इसी कारण युग के बाद दूसरे युग में क्रमश. अल्प होते होते उनके यह पराक्रमादि अत्यन्त अल्प परिणाम में शेष रह जाते हैं। केवल १० सहस्र मन्त्रों का वेदों का एक अश मात्र ही अब हम लोगों के पास कृतयुग से शेष रह रहा है; वीर्य, तेज, बल भी अत्यन्त अल्प हो गये है और यह सभी विनाशोन्मुख हैं। अतः एक वेद से अनेक वेदों का निर्माण करना चाहिये

जिससे वेद नष्ट न हो। वेदों का विनाश होने पर यज्ञ का विनाश हो जायगा, यज्ञों का विनाश होने पर देवों का विनाश हो जायगा और उसके बाद समस्त वस्तुओं का विनाश हो जायगा। पहले आदिवेद चारपादों तथा शतसहस्र मन्त्रों में पूर्ण कहा जाता था जब कि उसमें समस्त मनोरथों को पूर्ण करनेवाले दस-गुने यज्ञों का विधान था।' ब्रह्मा की ऐसी बातें सुनकर लोक-हित में रत भगवन् मनु ने 'ऐसा ही होगा' कहकर ब्रह्मा की आज्ञा-नुसार उस चतुष्पाद एक वेद का चार भागों में विभाजन किया।[३६] अत. मैं मन्वन्तर में वेदों के विभाजन का वर्णन करूँगा, जिससे हे द्विजसत्तम, तुम इसी प्रकार की उस अदृश्य व्यवस्था को समझ सकोगे जो गत मन्वन्तरों में की गई थी। इस युग में पराशर के परम तपस्वी पुत्र द्वैपायन व्यास हुये जिनकी विष्णु के अंश के रूप में प्रख्याति है। इस युग में ब्रह्मा की प्रेरणा से उन्होंने वेदों का विभाजन किया। इस कार्य के लिये उन्होंने अपने चार शिष्यों के रूप में जैमिनि, सुमन्तु, वैशम्पायन और पैल को, तथा इतिहास-पुराण के लिये पाँचवें, लोमहर्षण को ग्रहण किया।'

भागवतपुराण :—विष्णु पुराण के तृतीय अंश में, जहाँ विभिन्न मन्वन्तरों का वर्णन है, वेदों के विभाजन का भी विवरण मिलता है। भागवत पुराण के जिस स्कन्ध में मन्वन्तरों की गणना कराई गई है, वेदों के विभाजन का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु इसके प्रथम स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में यह वर्णन इस प्रकार मिलता :

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीय-युग-पर्यये। जातः पराशराद् योगी वासव्यां कलया हरेः। १५. स कदाचित् सरस्वत्याः उपस्पृश्य जलं शुचि। विविक्तः एकः आसीनः उदिते रवि-मण्डले। १६. परावर-ज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्त-रंहसा। युग-धर्म-व्यतिकरम् प्राप्तम् भुवि युगे युगे। १७. भौतिकानां च भावाना शक्ति-ह्रास च तत्-कृतम्। अश्रद्धधानान् निस्सत्वान् दुर्मेधान् ह्रसितायुषः। १८. दुर्भगांस् जनान् वीक्ष्य मुनिर् दिव्येन चक्षुषा। सर्ववर्णाश्रमाणां यद् दध्यौ हितम् अमोघ-दृक्। १९. चातुर्होत्रं कर्म शुद्धम् प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्। व्यदधाद् यज्ञ-सन्तत्यै वेदम् एकं चतुर्विधम्। २० ऋग्-यजुः-सामाथर्वाख्या. वेदाश् चत्वार उद्धृता। इतिहास-पुराण च पञ्चमो वेद उच्यते। २१. तत्रर्ग्-वेद-धरः पैलः सामगो जैमिनिः

[३६] महाभारत (१२. ३४९, ४२) मे यह कहा गया है कि वेदो का विभाजन स्वयम्भुव मन्वन्तर मे सरस्वती के पुत्र अपान्तरतमस् ने किया था (तेन भिन्नास् तदा वेदा मनो. स्वायम्भुवोऽन्तरे)।

कविः। वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषाम् उत। २२. अथर्वाङ्गिरसाम् आसीत् सुमन्तुर् दारुणो मुनिः। इतिहास-पुराणानाम् पिता मे रोमहर्षण। २३. ते एते ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्न् अनेकधा। शिष्यैः प्रशिष्यैस् तच्-छिष्यैर् वेदास् ते शाखिनोऽभवन्। २४. ते एव वेदाः दुर्मेधैर् धार्यन्ते पुरुषैर् यथा। एवं चकार भगवान् व्यासः कृपण-वत्सलः। २५. स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति-गोचरा। कर्म-श्रेयसी मूढानां श्रेयः एव भवेद् इह। इति भारतम् आख्यानं कृपया मुनिना कृतम्। (भागवतपु० १. ४, २४-२५)।

"इस वर्त्तमान चतुर्युगी के तृतीय युग, द्वापर में पराशर और वासव्या के के गर्भ से योगिराज व्यास का हरि के अश के रूप में जन्म हुआ। एक दिन वह सूर्योदय के समय सरस्वती के पवित्र जल का स्पर्श करके एकान्त स्थान पर बैठे हुये थे। उस समय भूत और भविष्य का ज्ञान रखनेवाले उस ऋषि ने दिव्य दृष्टि से अदृश्य समय की गति द्वारा प्रत्येक युग में उत्पन्न धर्मसकरता को देखा जिसके प्रभाव के कारण भौतिक वस्तुओं की शक्ति का ह्रास हो जाता है तथा जिससे लोगों में अश्रद्धा, निःसत्व, अल्पायु और बौद्धिक ह्रास आ जाता है जिसके कारण वे दुःखी हो जाते हैं। लोगों की इस दुर्दशा को देखकर उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से इस पर विचार किया कि समस्त वर्णो और आश्रमों का हित किस प्रकार हो। यह सोचकर कि लोगों के लिये वेदोक्त-कर्म को होताओं के चार वर्ग द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिये, उन्होंने यज्ञादि के लिये वेदों को चार भागों में विभक्त कर दिया। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नामक चार वेदों को उत्पन्न किया जब कि इतिहास-पुराण को उन्होंने पञ्चम वेद कहा। इन वेदों में से ऋग्वेद को पैल ने ग्रहण किया, जैमिनी ने साम का गायन किया, अकेले वैशम्पायन यजुर्वेद में निष्णात हुये और दारुणिमुनि सुमन्तु अथर्वाङ्गिरस् (अथर्ववेद) में प्रवीण हुये और मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास-पुराण के स्नातक हुये। इनमें से प्रत्येक ऋषि ने अपने वेद को अपने अनुसार अनेक प्रकार से विभाजित किया। उनके बाद की शिष्य परम्पराओं द्वारा वेद और भी अनेक शाखाओं में विभक्त हो गये। दुर्बुद्धि व्यक्तियों पर कृपा करके ही भगवान व्यास ने यह कार्य किया जिससे अल्पबुद्धि लोग भी वेदों को स्मरण कर सकें। यत. स्त्री, शूद्र, और पतित द्विजाति ये तीनों ही वेद श्रवण के अधिकारी नहीं हैं अत वह कल्याणकारी शास्त्रोक्त कर्मों के आचरण में त्रुटि कर बैठते हैं। इनके कल्याण के लिये महामुनि व्यास ने अत्यन्त कृपापूर्वक महाभारत आख्यान की रचना की।"

किन्तु अपनी इस महान् रचना के महत्व के विपरीत भी, ऐसा कहा जाता

है कि, व्यास पवित्र विद्या सम्बन्धी अपने योगदान से उस समय तक असन्तुष्ट रहे जब तक कि वे भगवत् (कृष्ण) की महिमा का वर्णन करनेवाले भागवत पुराण की रचना नहीं कर चुके।[37] उनकी इस इच्छापूर्ति का इस प्रकार वर्णन मिलता है :

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्ति-योगम् अधोक्षजे। लोकस्याजानतो विद्वांश् चक्रे सात्वत-संहिताम्। ७. यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम-पूरुषे। भक्तिर् उद्पत्यते पुंसः शोक-मोह-भया-पहा। ८. ससंहिताम् भागवतीं कृत्वाऽनुक्रम्य चात्मजम्। शुकम् अध्यापयामास निवृत्ति-निरतम् मुनिः। (भागवत पु० १. ७, ६-८)।

"यह जानते हुये कि इन अनर्थों की शान्ति का साक्षात् साधन केवल अधोक्षज (कृष्ण) की भक्ति है, किन्तु जिस तथ्य से लोग अनभिज्ञ हैं, उन्होंने (व्यास ने) सात्वत संहिता (भागवत) की रचना की। जब व्यक्ति इसका श्रवण करता है तो उसके मन में पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण के प्रति भक्ति जागृत हो जाती है और वह शोक, मोह, तथा भय से मुक्त हो जाता है। इस संहिता का निर्माण और इसकी व्यवस्था करने के पश्चात् उन मुनि (व्यास) ने इसे अपने निवृत्तिपरायण पुत्र शुकदेव को पढ़ाया।"

इस पुराण के अन्तिम अंशों में भी एक ऐसा वर्णन मिलता है जिसे प्रो० विलम्सन (विष्णु पुराण की भूमिका में) ने 'व्यास द्वारा वेदों और पुराणों की व्यवस्था करनेवाला एक अनुपयुक्त रूप से सम्मिलित वर्णन कहा है।'

यह स्थल इस प्रकार है :

सूत उवाच। समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। हृद्-आकाशाद् अभूद् नादो वृत्ति-रोधाद् विभाव्यते। यद्-उपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलम् आत्मनः। द्रव्य-क्रिया-कारकाख्यं धूत्वा यान्त्य् अपनुर्भवम्। ततोऽभूत् त्रिवृद् ओंकारो योऽव्यक्त-प्रभवः स्वराट्। यत् तल् लिङ्गम् भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः। शृणोति यः इमं स्फोटं सुप्त-श्रोत्रे च शून्य-दृक्। येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिर् आकाशे आत्मनः। स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः। स सर्व-मन्त्रोपनिषद्-वेद-बीजं सनातनम्। तस्य ह्य् आसंस् त्रयो वर्णाः अ-काराद्याः भृगूद्वह। धार्यन्ते यैस् त्रयो भावाः गुणाः नामार्थ-वृत्तयः। ततोऽक्षर-सामाम्नायम् असृजद् भगवान् अजः। अन्तस्स्थोष्म-स्वर-स्पर्श-ह्रस्व-दीर्घादि-लक्षणम्। तेनासौ चतुरो वेदांस् चतुर्भिर् वदनैर् विभुः। स-व्याहृतिकान् सोंकारांश्

[37] देखिये, विलसन : विष्णु पुराण, भूमिका पृ० xliv।

चातुर्होत्र-विवक्षया। पुत्रान् अध्यापयत् तांस् तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान्। ते तु धर्मोपदेष्टारः स्व-पुत्रेभ्यः समादिशन्। ते परम्परया प्राप्तास् तत्-तच्-छिष्यैर् धृत-व्रतैः। चतुर्युगेष्व् अथ व्यस्ता: द्वापरादौ महर्षिभिः। क्षीणायुषः क्षीण-सत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः। वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युत-नोदिताः। अस्मिन्न अप्य् अन्तरे ब्रह्मन् भगवान् लोक-भावनः। ब्रह्मेशाद्यैर् लोकपालैर् याचितो धर्म-गुप्तये। पराशरात् सत्यवत्याम् अंशांश-कलया विभुः। अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्। ऋग्-अथर्व-यजुः-साम्नां राशीन् उद्धृत्य वर्गशः। चतस्रः संहितास् चक्रे मन्त्रैर् मणिगणाः इव। तासां च चतुरः शिष्यान् उपाहूय महामतिः। एकैकां संहितां ब्रह्मन् एकैकस्मै ददौ विभुः। पैलाय संहिताम् आद्याम् बह्वृचाख्याम् उवाच ह। वैशम्पायन-सञ्ज्ञाय निगदाख्यं यजुर्-गणम्। साम्ना जैमिनये प्राह तथा छन्दोग-संहिताम्। अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्व-शिषाय सुमन्तवे। (भागवत पु० १२. ६, ३७-५२)।

"सूत जी ने कहा, 'जिस समय परमेष्ठी ब्रह्मा पूर्व-सृष्टि का ज्ञान-सम्पादन करने के लिये एकाग्र चित्त हुये उस समय उनके हृदय से एक अत्यन्त विलक्षण ध्वनि उत्पन्न हुई, जिसे व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों को अवरुद्ध करने पर ही सुन सकता है। इस ध्वनि की उपासना करनेवाले योगी, अपने अन्तःकरण के आन्तरिक, वाह्य, और आधिदैविक[38] नामक तीन मलों को नष्ट करके जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। इसी ध्वनि मे अव्यक्त और स्वय प्रकाशित, तीन मात्राओंवाला ओंकार प्रगट हुआ जो परमात्मा परमब्रह्म का ही स्वरूप है। जब श्रवणेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय निष्क्रिय हो जाती है तब योगिगण इसके उस स्फोट को सुनते हैं जिससे वाणी व्यक्त होती है और जो आत्मा से हृदयाकाश में प्रगट होता है।[39] यह ओंकार अपने

---

[38] 'द्रव्य क्रिया-कारक' की भाष्यकार ने क्रमश 'अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव' के रूप मे व्याख्या की है। इन शब्दो की व्याख्या के लिये देखिये, विलसन साख्य कारिका, पृ० २ और ९।

[39] इस अस्पष्ट श्लोक के सम्बन्ध मे मैं भाष्यकार की व्याख्या उद्धृत करता हूँ "कोऽसौ परमात्मा तम् आह 'शृणोति' इति। इमम् स्फोटम् अव्यक्तम् ओंकारम्। ननु जीव एवो त शृणोतु। न इत्य् आह। सुप्त-श्रोत्रे कर्ण-पिधानादिना अवृत्तिकेऽपि श्रोत्रे सति। जीवस् तु करणादीनत्वाद् न तदा श्रोता। तद्-उपलब्धिस् तु तस्य परमात्म-द्वारिका एव इति भाव। ईश्वरस् तु नैवम्। यत शून्य-दृक्

आश्रय परमात्मा का साक्षात् वाचक, और सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदों का सनातन बीज है। हे भृगुनन्दन! इस ओंकार में तीन वर्ण—अ, उ, म, हैं जो तीन गुणों, तीन नामों, तीन अर्थों, तीन वृत्तियों, और तीन अवस्थाओं को धारण करते हैं।[४०] इन तीन वर्णों से दिव्य और अजन्मा ब्रह्मा ने अन्तःस्थ (य, र, ल, व,), ऊष्म (श, ष, स, ह,), स्वर, स्पर्श, तथा ह्रस्व और दीर्घादि लक्षणों से युक्त अक्षर-समाम्नाय अथवा वर्णमाला की रचना की। उसी वर्णमाला द्वारा उन्होंने अपने चार मुखों से ऋत्विजों के चार वर्ग, तथा ओंकार और व्याहृतियों-सहित चारों वेद प्रगट किये।[४१] उन्होंने अपने पुत्र मरीचि आदि को वेदाध्ययन में कुशल देखकर वेदों की शिक्षा दी, और पुनः इन कर्त्तव्यपरायण आचार्यों ने अपने पुत्रों को उनका अध्ययन कराया। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारियों तथा उनके शिष्यों-प्रशिष्यों द्वारा वेद की रक्षा होती रही, और प्रत्येक चतुर्युगी में द्वापर के आरम्भ में वेद का विभाजन भी होता रहा।[४२] जब ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने देखा कि समय के फेर से लोगों की आयु, शक्ति, और बुद्धि, क्षीण हो गई है तब उन्होंने अपने हृदय में

शून्येऽपि इन्द्रिय-वर्गे दृक् ज्ञान यस्य। तथा हि सुप्तो यदा शब्द श्रुत्वा प्रबुद्ध्यते न तदा जीव श्रोता लीनेन्द्रियत्वात्। अतो यस् तदा शब्द श्रुत्वा जीवम् प्रबोधयति स यथा परमात्मा एव तद्वत्। कोऽस्माव् ओंकारम् तं विनिनष्टि सार्वेन येन वाग् बृहती व्यज्यते यस्य च हृदयाकाशे आत्मनः सकाशाद् व्यक्तिर् अभिव्यक्ति।" 'स्फोट' शब्द की नीचे एक भिन्न खण्ड में व्याख्या की जायगी।

[४०] इनको भाष्यकार इस प्रकार व्याख्या करता है: "गुणा सत्वादय। नामानि ऋग्-यजु-सामानि, अर्था भूर्-भुव-स्वर्-लोकाः। वृत्तयो जाग्रद्-आद्या।"

[४१] यदि मेरा अनुवाद ठीक है तो ओंकार वर्णों का, तथा वर्ण ओंकार के स्रोत हैं।

[४२] 'द्वापरादौ' का अर्थ केवल 'द्वापर के आरम्भ में' हो सकता है, किन्तु भाष्यकार ने इसका अर्थ 'द्वापर का अन्त' सिद्ध करने के लिये निम्न तर्कों का आश्रय लिया है "द्वापरादौ द्वापरम् आदिर् यस्य तद्-अन्त्याश-लक्षणस्य कालस्य। तस्मिन् द्वापरान्ते वेद-विभाग-प्रसिद्धे शन्तनु-सम-काल व्यासावतार-प्रसिद्धेश् च। व्यस्ता विभक्ता।" अर्थात् 'द्वापरादौ से उस काल का अर्थ है जिसके आरम्भ में द्वापर था, अर्थात् इस युग के अन्त का समय, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वेदों का विभाजन द्वापर के अन्त में हुआ, और व्यास का अवतार महाराज शन्तनु का समसामयिक था, व्यस्ता.=विभक्ता (विभाजित)।'

विराजमान अच्युत की प्रेरणा से वेद के अनेक विभाग कर दिये। प्रस्तुत मन्वन्तर[83] में भी दिव्य और सर्वव्यापी लोकस्रष्टा ने ब्रह्मा, ईश (शिव), और अन्य लोकपालों की प्रार्थना से धर्म की रक्षा के लिये पराशर और सत्यवती के गर्भ द्वारा अंशावतार लेकर वेद को चार भागों में विभाजित किया। जिस प्रकार मणियों के समूह से विभिन्न जाति की मणियों को छाँटकर पृथक् कर दिया जाता है उसी प्रकार व्यास ने मन्त्र-समुदाय से ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व को पृथक् करके वर्गों में व्यवस्थित और उनसे चार संहिताओं का निर्माण किया। उन्होंने बह्वृच् नामक प्रथम ऋक्संहिता पैल को, निगद नामक द्वितीय यजुःसंहिता वैशम्पायन को, सामश्रुतियों की छन्दोगसंहिता जैमिनि को, और अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्वाङ्गिरस् संहिता का अध्ययन कराया।"

फिर भी वेद के विभाजन-सम्बन्धी अपने विवरण में भागवत पुराण बहुत संगत नहीं है। प्रथम भाग में उद्धृत एक स्थल पर यह कहा गया है कि वेद का विभाजन राजा पुरूरवा ने किया था, और यह कार्य त्रेता युग के आरम्भ में सम्पन्न हुआ था। उस स्थल के महत्त्व के कारण मैं उसे यहाँ और विस्तार से पुनः उद्धृत करूँगा।

इस पुराण में ऐसा कथन है कि दिव्य अप्सरा उर्वशी एक शाप के कारण पृथ्वी पर जन्म लेने के लिये विवश हुई। पृथ्वी पर जन्म लेने पर वह राजा पुरूरवा पर आसक्त हो गई क्योंकि उसका हृदय स्वर्ग से निष्कासित होने के पूर्व से ही उनके पुरुषोत्तम सौन्दर्य के विवरणों से वशीभूत हो चुका था। अपने प्रेमी के संसर्ग में अनेक सुखी दिन व्यतीत करने के पश्चात् उसने, राजा द्वारा सहवास सम्बन्धी एक नियम का उल्लंघन कर दिये जाने के कारण, राजा का परित्याग कर दिया। फलस्वरूप पुरूरवा अत्यन्त दुखी रहने लगे। फिर भी, कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने उर्वशी को पुन प्राप्त कर लिया, किन्तु उसने (उर्वशी ने) गन्धर्वों की स्तुति करने का आग्रह किया जिससे दोनों का अविच्छिन्न मिलन हो सके।

---

[83] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ तक विवरण का सम्बन्ध वर्तमान मन्वन्तर से नहीं था। भाष्यकार का विचार इस प्रकार है "एव सामान्यतो वेद-विभाग-क्रमम् उक्त्वा वैवस्वत-मन्वन्तरे विशेपतो निरूपयितुम् आह।" अर्थात् 'इस प्रकार सामन्य रूप से वेदो के विभाजन का (गत श्लोको मे) वर्णन करने के पश्चात् श्लोककार अब नीचे के श्लोको मे विशेप रूप से उसी बात का वैवस्वत मन्वन्तर के सन्दर्भ मे वर्णन कर रहा है।'

इतनी कथा के पश्चात् पुराण में आगे इस प्रकार वर्णन है :

तस्य संस्तुवतस् तुष्टाः अग्निस्थालीं ददुर् नृप। उर्वशीम् मन्यमानस् तां सोऽबुध्यत चरन् वने। स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहान् आध्यायतो निशि। त्रेतायां सम्प्रवृत्तायाम मनसि त्रय्य् अवर्त्तत्। स्थाली-स्थानं गतोऽश्वत्थं शमी-गर्भं विलक्ष्य सः। तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशी-लोक-काम्यया। उर्वशीम् मन्त्रतो ध्यायन्न् अधरारणिम् उत्तराम्। आत्मानम् उभयोर् मध्ये यत् तत् प्रजननं प्रभुः। तस्य निर्मथनाज् जातो जात-वेदा' विभावसुः त्रय्या च विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस् त्रिवृत्। तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तम् अधोक्षजम्। उर्वशी-लोकम् अन्विछन् सर्व-देव-मयं हरिम्। एकः एव पुरा वेदः प्रणव. सर्व-वाङ्मयः। देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर् वर्णः एव च। पुरूरवस् एवासीत् त्रयी त्रेता-मुखे नृप। अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वम् एयिवान्। (भागवत पु० ९. १४. ४२–४९)।

"उनके इस प्रकार स्तुति करने पर गन्धर्वों ने उन्हें एक अग्नि-स्थाली दी। राजा ने उसे ही उर्वशी समझा और इसलिये उसे हृदय से लगाकर वन-वन घूमते रहे। तत्पश्चात स्थाली को वन में छोड़कर वह अपने महल लौट आये और रात के समय उर्वशी का ध्यान करते रहे। त्रेता युग आरम्भ हो जाने पर जब वह इस प्रकार ध्यान कर रहे थे तो उनके सम्मुख उनके मानस में तीनों वेद प्रगट हुये।[८४] फिर वह उस स्थान पर गये जहाँ उन्होंने स्थाली को छोड़ा था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि उस स्थान पर एक शमी वृक्ष के गर्भ से एक अश्वत्थ वृक्ष उग आया है। उन्होंने उससे अरणी का निर्माण किया। उर्वशी के लोक की कामना करते हुये उन्होंने नीचे की अरणि को उर्वशी के रूप में, ऊपर की अरणि को अपने रूप में, और प्रजनन स्थल की उन दोनों के बीच में मन्त्रानुसार कल्पना की।[८५] उनके घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई जिसे राजा ने

[८४] 'कर्म-बोधकम् वेद-त्रय प्रादुरभूत्', अर्थात् 'कर्मकाण्ड का बोध करानेवाले तीनो वेदो का उनके सम्मुख प्रादुर्भाव हुआ।'

[८५] यहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने से सम्बद्ध संस्कार का सन्दर्भ है। इस सस्कार के समग प्रयुक्त होनेवाला मन्त्र वाजसनेयि सहिता ५ २ मे मिलता है जो इस प्रकार है 'उर्वश्य् असि', और दूसरा 'पूरूरवा असि'। इनमे से प्रथम निचली अरणि (अधरारणि) और दूसरा ऊपरी अरणि (उत्तरारणि) का द्योतक है, जिनके घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है। देखिए वेवर इन्डिशे स्टूडियन १ १९७ और नोट, निरुक्त पृ० १५४ पर रौथ का उदाहरण, शतपथ

त्रयी विद्या (वेद) के अनुसार तीन भागों में विभक्त कर पुत्र-रूप से स्वीकार किया। फिर उर्वशी-लोक की इच्छा से पुरूरवा ने उन तीनों अग्नियों द्वारा सर्वदेव रूप, यज्ञपति, अधोक्षज, भगवान् श्री हरि का यजन किया। आरम्भ मे एक मात्र ओंकार-स्वरूप केवल एक ही वेद था, जो समस्त वाणियों का सार था। उस समय केवल एक देवता नारायण, एक अग्नि, और केवल एक वर्ण का ही अस्तित्व था। त्रेता के आरम्भ में पुरूरवा से वेदत्रयी का आविर्भाव हुआ। अपने पुत्र, अग्नि, के द्वारा उन्होंने गन्धर्व-लोक प्राप्त किया।"[४६]

इस स्थल के अन्त में भाष्कार इस प्रकार मत व्यक्त करता है :

नन्व् अनादिर् वेद-त्रय-बोधितो ब्राह्मणादीनाम् इन्द्राद्य्-अनेक-देव-यजनेन स्वर्ग-प्राप्ति-हेतु. कर्म-मार्गः कथं सादिर् इव वर्ण्यते। तत्राह "एक एव" इति द्वाभ्याम्। पुरा कृत-युगे सर्व-वाङ्मयः सर्वासां वाचां वीज-भूतः प्रणवः एक एव वेदः। देवश् च नारायणः एक एव। अग्निश् च एक एव लौकिकः। वर्णश् च एक एव हंसो नाम। वेद-त्रयी तु पुरूरवसः सकाशाद् आसीत्......अयम् भावः। कृत-युगे सत्त्व-प्रधानाः प्रायशः सर्वेऽपि ध्यान-निष्ठाः। रजःप्रधाने तु त्रेता-युगे वेदादि-विभागेन कर्म-मार्गः प्रकटो बभूव इत्य् अर्थः (उत्तरोक्त पर भाष्य)।

"यह कैसे हो सकता है कि कर्मों की उस सनातन विधि का, जिसका तीनों वेदों में उल्लेख है, और जिसके द्वारा ही ब्राह्मण-गण तथा अन्य व्यक्ति इन्द्र आदि देवताओं की स्तुति करके स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं, गत श्लोकों में इस प्रकार वर्णन किया गया हो मानों उनका भी किसी समय आरम्भ हुआ ? पुराणकार ने बाद के दो श्लोकों में इसी का उत्तर दिया है। पूर्वकाल, अर्थात् कृतयुग में, समस्त शब्दों का सारभूत ओंकार के रूप में केवल एक वेद का ही

ब्राह्मण ३ ४, १, २२, और कात्यायन श्रौतसूत्र ५ १, २८ और बाद। वाजसनेयि सहिता के भाष्यकार ने 'उर्वश्य् असि' मत्र की इस प्रकार व्याख्या की है 'यथा उर्वशी पुरूरवो-नृपस्य भोगाय अधस्तात् शेते तद्वत् त्वम् अधोऽवस्थिताऽसि।' अर्थात् 'राजा पुरूरवस् के नीचे उर्वशी जिस प्रकार भोगार्थ पडी थी उसी प्रकार तुम्हे भी नीचे रक्खा गया है।'

[४६] विष्णु पुराण (४ ६) के एक गद्यात्मक स्थल पर भी यही कथा मिलती है। वहाँ ऐसा कथन है कि पुरूरवा ने मूलत. एक अग्नि को ही तीन रूपो मे विभक्त किया (एकोऽग्निर् आदाव् अभवद् ऐलेन तु अत्र मन्वन्तरे त्रेता प्रवर्त्तिता)। फिर भी, वहाँ उनके द्वारा वेदो के विभाजन तथा समाज का वर्णों के अन्तर्गत विभाजन का कोई उल्लेख नहीं है।

अस्तित्व था, और केवल एक देवता नारायण, साधारण व्यवहारों के लिये केवल एक अग्नि, तथा एक जाति हंस ही वर्तमान थे। किन्तु वेदत्रयी पुरूरवा से उत्पन्न हुई।' इसका भाव यह है 'कृतयुग में लोगों में सतोगुण की प्रधानता थी और प्रायः सभी लोग ध्याननिष्ठ रहते थे। किन्तु त्रेतायुग में, जब रजोगुण की प्रधानता हुई, वेदों के विभाजन से कर्म-मार्ग प्रगट हुये।"[४७]

जैसा कि मैं व्यक्त कर चुका हूँ, भागवत का उपरोद्धृत स्थल, इसी ग्रन्थ के गत पृष्ठों में उद्धृत स्थलों तथा विष्णु और वायु पुराणों के विवरणों की अपेक्षा, वेदों के विभाजन का एक सर्वथा भिन्न विवरण प्रस्तुत करता है। विवरणों का एक वर्ग ऐसा भी मत व्यक्त करता है कि व्यास ने द्वापर युग में वेद का चार भागों में विभाजन किया था; जब कि उपरोद्धृत अन्तिम स्थल वेदत्रयी को पुरूरवा द्वारा त्रेता युग में उत्पन्न मानता है। इस मत के अनुसार उत्पन्न वेदों की परम्परा भी सम्भवतः अन्य से भिन्न थी। जो कथा तीन वेदों का उल्लेख करती है उसका स्रोत, सम्भवत., उन स्थलों से अधिक प्राचीन है जो चार वेदों का वर्णन करते है, क्योंकि अथर्वन् को बहुत बाद में ही चतुर्थ वेद का स्थान दिया गया। किन्तु उक्त प्रथम परम्परा का अंशतः व्युत्पत्तिशास्त्रीय आधार भी रहा हो सकता है। त्रेता शब्द का, जो यद्यपि द्वितीय युग का द्योतक है, त्रयी अर्थ है और यही पुराणकार के मन में अग्नित्रयी का कथा में उल्लेख करने का प्रेरक रहा होगा।

महाभारत :—महाभारत का निम्न स्थल, भाव की दृष्टि से, भागवत पुराण के उपरोद्धृत अन्तिम स्थल के समान किन्तु पुरूरवा के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है :

इदं कृत-युगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्त्तितः। अहिंस्याः यज्ञ-पशवो युगेऽस्मिन् न तद् अन्यथा। चतुष्पात् सकलो धर्मो भविष्यत्य् अत्र वै सुराः। ततस् त्रेता-युगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति। प्रोक्षिताः यज्ञ-पशवो

---

[४७] यह कथा शतपथ ब्राह्मण ११ ५, १, १, से ली गई है, जहाँ इसका उद्देश्य उस विधि का वर्णन करना है जिसका गन्धर्वों की आज्ञा का अनुसरण करते हुये अपनी स्वर्ग प्राप्ति के हेतु पुरूरवा ने अग्नि उत्पन्न करने के लिये प्रयोग किया था। इस कथा के मैक्स मूलर के अनुवाद के लिये देखिये ऑक्सफोर्ड एसेज़, १८५६, पृ० ६२, ६३ अथवा चिप्स फ्रॉम जर्मन वर्कशॉप; और प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी। यही कथा ऋग्वेद के १०वे मण्डल के ९५वे सूक्त मे भी मिलती है।

वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे[४८]। यत्र पादश् चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति। ततो वै द्वापर नाम मिश्रः कालो भविष्यति। (महाभारत १२. ३४०, ८२–८५)।

"यह कृतयुग समस्त युगों में श्रेष्ठ है। इस युग में यज्ञार्थ पशुओं का वध अनियमित है। इस युग में चारों चरणों से युक्त सम्पूर्ण धर्मों का पालन होता है। इसके बाद त्रेता युग आयेगा जिसमें वेदत्रयी का प्रचार होगा और यज्ञ के योग्य पशुओं का वध किया जायगा। उस युग में धर्म का चतुर्थांश, एक पाद, नहीं रह जायेगा। उसके बाद एक मिश्रित युग, द्वापर, आयेगा।"

महाभारत में यह वर्णन भी है कि दो असुर, जिन्होंने ब्रह्मा को वेदों *की रचना करते हुये देखा था, वेदों का सहसा अपहरण करके भाग गये थे।* वेदों के अपहृत हो जाने पर ब्रह्मा इस प्रकार शोक प्रगट करते हैं:

वेदो में परमां चक्षुर् वेदो मे परमम् बलम् ... ...वेदान् ऋते हि किं कुर्यां लोकानां सृष्टिम् उत्तमाम्। (महाभारत १२. ३४७, ३२. ३४)।

"वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं। ... वेदों के बिना मैं संसार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ?" फिर भी इन वेदों को पुन. प्राप्त करके ब्रह्मा को समर्पित कर दिया गया था (महाभारत १२ ३४७, ७१–७२)।

विष्णु पुराण:—निम्न श्लोक में एक निश्चित अवधि के बाद वेदों के सदैव लुप्त हो जाने का उल्लेख है:

चतुर्युगान्ते वेदानां जायते कलि-विप्लवः। प्रवर्त्तयन्ति तान् एत्य भुवि सप्तर्षयो दिवः (विष्णुपुराण ३. २, ४५)।

"प्रत्येक चतुर्युग के अन्त में कलि के विप्लव के कारण वेदों का लोप हो जाता है। उस समय स्वर्ग लोक से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर सप्तर्षि-गण

---

[४८] द्वापर युग को यज्ञ का युग मानते हुये मनु (१ ८५, ८६) महाभारत के इस स्थल से भिन्न मत रखते है: 'अन्ये कृतयुगे धर्मास त्रेतायां द्वापरे परे। अन्ये कलियुगे नृणां युग-ह्रासानुरूपत। तप परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानम् उच्यते। द्वापरे यज्ञम् एवाहुर् दानम् एक कलौ युगे।' 'युगो के अनुपात के अनुसार मनुष्य कृतयुग मे भिन्न धर्मों का, तथा त्रेता, द्वापर और कलि मे भी क्रमश अन्य धर्मों का पालन करता है। कृतयुग मे तप, त्रेता मे ज्ञान, द्वापर मे यज्ञ, और कलि मे केवल दान को प्रधान धर्म कहा गया है।' देखिये महाभारत (१२ २३१, २८) जो मनु के इस विचार से सहमत है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी देखिये।

उनका पुनः प्रचार करते हैं।" (तुलना कीजिये महाभारत १२. २१०, १९, जिसको बाद में उद्धृत किया जायगा)।

खंड ६—यजुर्वेद के अनुयायी वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य के बीच परस्पर मतभेद, अन्य वेदों के प्रति अथर्वणों के, तथा छन्दोगों के ऋग्वेद के प्रति, आक्षेप-प्रवृति से सम्बन्धित विष्णु और वायु पुराणों के विवरण।

विष्णु पुराण में यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण शाखाओं में विभक्त हो जाने की कथा का इस प्रकार वर्णन है :

याज्ञवल्क्यस् तु तस्याभूद् ब्रह्मरात-सुतो द्विज। शिष्यः परम-धर्मज्ञो गुरु-वृत्ति-परः सदा। ऋषिर् योऽद्य महामेरुम् समाजे नागमिष्यति। तस्य वै सप्त-रात्रं तु ब्रह्म-हत्या भविष्यति। पूर्वम् एव मुनि-गणैः समयोऽभूत् कृतो द्विज। वैशम्पायन एकस् तु तं व्यतिक्रान्तवांस् तदा। स्वस्रीयम् बालकं सोऽथ पदा स्पृष्टम् अघातयत्। शिष्यान् आह स "भोः शिष्या. ब्रह्म-हत्यापहं व्रतम्। चरध्वम् मत्-कृते सर्वे न विचार्य्यम् इदम् तथा"। अथाह याज्ञवल्क्यस् तं "किम् एभिर् भगवन् द्विजैः। क्लेशितैर अल्प-तेजोभिर् चरिष्येऽहम् इदं व्रतम्"। ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यम् महामतिः। "मुच्यतां यत् त्वयाऽधीतम् मत्तो विप्रावमन्यक। निस्तेजसो वदस्य् एतान् यस् त्वम् ब्राह्मण-पुन्गवान्। तेन शिष्येण नार्थोऽस्ति ममाज्ञा-भङ्ग-कारिणा"। याज्ञवल्क्यस् ततः प्राह भक्त्यै तत् ते मयोदितम्। ममाप्य् अलं त्वयाऽधीतं यद् मया तद् इद द्विज। इत्य् उक्त्वा रुधिराक्तानि सरूपाणि यजूंपि सः। छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ च स्वेच्छया मुनिः। यजूंष्य् अथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज। जगृहुस् तित्तिरीभूत्वा तैत्तिरीयास् तु ते ततः। ब्रह्म-हत्या-व्रतम् चीर्णम् गुरुणा चोदितैस् तु यैः। चरकाध्वर्यवस् ते तु चरणाद् मुनिसत्तमाः। याज्ञवल्क्योऽथ मैत्रेय प्राणायाम-परायणः। तुष्टाव प्रयतः सूर्यम् यजूंष्य् अभिलपस् ततः। ... इत्य् एवम्-आदिभिस् तेन स्तूयमनः स्तवैः रविः। वाजि-रूप-धरः प्राह "वृयताम्" इति "वाञ्छितम्" याज्ञवल्क्यस् तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम्। यजूंपि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरो। एवम् उक्तो ददौ तस्मै यजूंपि भगवान् रविः। अयातयाम-संज्ञानि यानि वेत्ति न तद्-गुरुः। यजूंपि यैर् अधीतानि तानि विप्रैर

द्विजोत्तम। वाजिनस् ते समाख्याताः सूर्योऽश्वः सोऽभवद् यतः।
(विष्णुपुराण ३. ५, २–१४, २५–२८)।

"ब्रह्मरात के पुत्र याज्ञवल्क्य, जो उनके (वैशम्पायन) शिष्य थे, धर्मों में अत्यन्त निपुण और गुरु-सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। एक समय मुनियों ने मिलकर यह नियम बनाया कि जो कोई एक निर्धारित दिवस पर मेरु पर्वत पर आयोजित सभा में सम्मिलित न होगा उसको सप्तरात्रियों के भीतर ही ब्रह्महत्या लग जायगी। इस नियम का केवल वैशम्पायन ने उल्लङ्घन किया और फलस्वरूप उनका चरणस्पर्श हो जाने के कारण उनकी बहन के पुत्र की मृत्यु हो गई। तब उन्होंने अपने समस्त शिष्यों से बिना किसी प्रकार का विचार किये ही अपने लिये ब्रह्म-हत्या दूर करनेवाला व्रत करने का आग्रह किया। उस समय याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा, 'भगवन्! इन निस्तेज ब्राह्मणों की क्या आवश्यकता है? मैं अकेले ही इस व्रत को सम्पन्न करूँगा।' इससे गुरु वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर महामुनि याज्ञवल्क्य से कहा, 'अरे ब्राह्मण का अपमान करनेवाले, तूने मुझसे जो कुछ शिक्षा प्राप्त की है उसे मुझे लौटा दे; इन द्विज-श्रेष्ठों को निस्तेज बतानेवाले तुझ जैसे अवज्ञाकारी शिष्य की मुझे आवश्यकता नहीं।' याज्ञवल्क्य ने कहा, 'हे द्विज! मैंने तो भक्तिवश ही आप से ऐसा कहा था, अन्यथा मुझे भी आपसे कोई प्रयोजन नहीं है: लीजिये मैंने आपसे जो कुछ शिक्षा प्राप्त की थी वह उपस्थित है।' ऐसा कह कर याज्ञवल्क्य ने रुधिर से भरा हुआ उसी समान यजुर्वेद वमन करके अपने गुरु को लौटा दिया और स्वेच्छया चले गये। याज्ञवल्क्य द्वारा वमन की हुई उन यजुः श्रुतियों को अन्य शिष्यों ने तित्तिर होकर ग्रहण कर लिया और इसीलिये वे सब तैत्तिरीय कहलाये। जिन शिष्यों ने गुरु की प्रेरणा से ब्रह्म-हत्या-विनाशक व्रत का अनुष्ठान किया था वे सब इस आचरण के कारण चरकाध्वर्यु कहलाये। तदनन्तर याज्ञवल्क्य ने भी; जो प्राणायाम-परायण थे, यजुर्वेद की प्राप्ति की इच्छा से संयत चित्त होकर सूर्य की स्तुति की।. ...इस प्रकार स्तुति करने पर सूर्य अश्व रूप में प्रगट होकर बोले, 'तुम अपना अभीष्ट वर माँगो।' याज्ञवल्क्य ने उन्हें प्रणाम करके कहा, 'आप मुझे ऐसी यजु श्रुतियाँ प्रदान कीजिए जो मेरे गुरु के पास न हों।' इनके ऐसा कहने पर सूर्य ने उन्हें अयातयाम नामक यजुः श्रुतियाँ प्रदान कीं जिनसे उनके गुरु परिचित नहीं थे। जिन लोगों ने इन श्रुतियों का अध्ययन किया वह वाजिन् कहलाये क्योंकि इनको प्रदान करते समय सूर्य ने अश्व (वाजिन्) का रूप धारण किया था।"

मैं वायु पुराण से भी एक समानान्तर स्थल उद्धृत करता हूँ, क्योंकि उपरोक्त स्थल से इसमें कुछ अन्तर है :

कार्यम् आसीद् ऋषीणां च किञ्चिद् ब्राह्मण-सत्तमाः। मेरु-पृष्ठं समासाद्य तैस् तदा "ऽस्त्व्" इति मन्त्रितम्। यो नोऽत्र सप्तरात्रेण नागच्छेद् द्विज-सत्तमाः। स कुर्याद् ब्रह्म-वध्यां वै समयो नः प्रकीर्त्तितः। ततस् ते स-गणाः सर्वे वैशम्पायन-वर्जिताः। प्रययुः सप्तरात्रेण यत्र सन्धिः कृतोऽभवत। ब्राह्मणानां तु वचनाद् ब्रह्म-वध्यां चकार सः। शिष्यान् अथ समानीय स वैशम्पायनोऽब्रवीत्। "ब्रह्म-वध्यां चरध्वं वै मत्-कृते द्विजः-सत्तमाः। सर्वे यूय समागम्य ब्रूत मे तद्-हितं वचः"। याज्ञवल्क्य उवाच। अहम् एव चरिष्यामि तिष्ठन्तु मुनयस् त्व् इमे। बालं चोत्थापयिष्यामि तपसा स्वेन भावितः। एवम् उक्तस् ततः क्रुद्धो याज्ञवल्क्यम् अथाब्रवीत्। उवाच "यत् त्वयाऽधीतं सर्वम् प्रत्यर्पयस्व मे"। एवम् उक्तः सरूपाणि यजूंषि प्रददौ गुरोः। रुधिरेण तथाऽक्तानि छर्दित्वा ब्रह्म-वित्तमः। ततः स ध्यानम् आस्थाय सूर्यम् आराधयद् द्विजः। "सूर्य ब्रह्म यद् उच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति"। ततो यानि गतान्य् ऊर्द्ध्वं यजूंष्य् आदित्य-मण्डलम्। तानि तस्मै ददौ तुष्टः सूर्यो वै ब्रह्मरातये। अश्व-रूपश् च मार्त्तण्डो याज्ञवल्क्याय धीमते। यजूंष्य् अधीयते यानि ब्राह्मणाः येन केनचित् (यानि कानिचित् ?)। अश्व-रूपाणि (–रूपेण ?) दत्तानि ततस् ते वाजिनोऽभवन्। ब्रह्म-हत्या तु यैश् चीर्णा चरणात् चरकाः स्मृताः। वैशम्पायन शिष्यास् ते चरकाः समुदाहृताः। (वायु पु० ६१. १२–२३)।

"प्राचीन काल में एक समय ऋषियों को एक ऐसा कार्य आ पड़ा जिससे उन्हें सुमेरु पर्वत पर एक साथ एकत्र होना पड़ा। परस्पर परामर्श के बाद उन्होंने यह निश्चय किया कि जो ब्राह्मण उनकी उस सभा में सप्तरात्रियों तक भाग नहीं लेगा उसे ब्रह्महत्या का पाप लगेगा। परिणाम-स्वरूप अपने शिष्यादिकों के साथ समस्त ऋषि-गण सात रात्रियों के लिये निर्धारित स्थान पर उपस्थित हुये। केवल वैशम्पायन ही अनुपस्थित थे, जो ब्राह्मणों के वचनानुसार ब्रह्महत्या के भागी हुये। तब वैशम्पायन ने अपने शिष्यों को एकत्रित करके कहा कि, 'तुम सब लोग मिलकर मेरे लिये इस ब्रह्महत्या के पाप का प्रायश्चित्त करो, और इस सम्बन्ध में क्या करना आवश्यक है उसे मुझसे बताओ।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं स्वय इस प्रायश्चित्त को सम्पन्न करूँगा, इन मुनियों को अपने साथ ही रखिये। अपनी तपस्या के पराक्रम द्वारा मैं उस बालक को पुनरुज्जीवित कर दूँगा (जिसकी आपने हत्या कर दी है)।' याज्ञवल्क्य

के ऐसा कहने पर वैशम्पायन क्रुद्ध होकर बोले, 'तुमने मुझसे जो कुछ अध्ययन किया है वह सब लौटा दो।' इस प्रकार कहे जाने पर, ब्रह्मज्ञान में पारङ्गत मुनि-श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य ने, रक्त में भीगी हुई उसी समान यजुः श्रुति को वमन करके गुरु के सम्मुख रख दिया। तदनन्तर ध्यान लगाकर वह (याज्ञ-वल्क्य) यह कहते हुये सूर्य की आराधना करने लगे: 'प्रत्येक श्रुति जो (पृथ्वी से) लुप्त हो जाती है वह आकाश में जाकर प्रतिष्ठित होती है।' संतुष्ट होकर तथा अश्व-रूप में उपस्थित होकर सूर्य ने ब्रह्मरात के पुत्र याज्ञवल्क्य को वह सब यजुः श्रुतियाँ प्रदान कर दीं जो ऊपर उठकर सूर्यलोक में चली गई थीं। यतः यह सब यजुः श्रुतियाँ, जिनका इन ब्राह्मणों ने अध्ययन किया, अश्व के रूप में सूर्य द्वारा प्रदान की गई थीं, अतः यह सब ब्राह्मण वाजिन् कहलाये। और वैशम्पायन के जिन शिष्यों ने ब्रह्महत्या का प्रायश्चित सम्पन्न किया था वे ब्रह्महत्या का अनुभव (चरण) करने के कारण चरक कहलाये।"[४१]

उपरोक्त आख्यान द्वारा यह बहुत कुछ स्पष्ट है कि यजुर्वेद की दो भिन्न शाखाओं (तैत्तिरीय अथवा कृष्ण, और वाजसनेयि अथवा शुक्ल) के अनुयायियों में प्राचीन काल में परस्पर एक दूसरे के प्रति अत्यन्त दुर्भावना-पूर्ण प्रवृत्ति ही रही होगी। यह भावना बहुत कुछ वैसी ही हो सकती है जैसी आधुनिक काल में वैष्णवों और शैवों के बीच देखी जाती है। इस विषय पर मैं प्रो० वेबर की हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० ८४, से एक स्थल का अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ:

"जहाँ ऋग्वेद के कर्मकाण्डियों को बह्वृच, और सामवेद के कर्मकाण्डियों को छन्दोग कहते हैं, वहीं यजुर्वेद के कर्मकाण्डियों का प्राचीन नाम अध्वर्यु है। यह नाम कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय) संहिता और शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण

---

[४१] विष्णु पुराण के अपने अनुवाद के पृ० ४६१ (चतुर्थ संस्करण) मे प्रो० विलसन ने इस शाखाभेद के सम्बन्ध मे निम्नलिखित आख्यान का उल्लेख किया है: "कुछ अस्पष्ट रूप से, वायु और मत्स्य पुराणो मे जनमेजय और वैशम्पायन के बीच विवाद का वर्णन है। जनमेजय यजुर्वेद के वाजसनेयि शाखा के ब्राह्मणो के पोषक थे, जब कि वैशम्पायन मूल यजु की कृष्ण शाखा के। जनमेजय ने वाजसनेयि विधानो के अनुसार दो बार अश्वमेध यज्ञ किया और त्रिसर्वी, अथवा अंशक तथा अन्य, अङ्ग, और मध्यदेशीय ब्राह्मणो द्वारा व्यवहृत श्रुतियो की स्थापना की। फिर भी वैशम्पायन के शाप के कारण उनका पतन हो गया। इस मतभेद के पूर्व ही वैशम्पायन जनमेजय को महाभारत सुना चुके थे।"

(शतपथ ब्राह्मण) में मिलते हैं। यह अन्तिम ग्रन्थ अपने अनुयायियों के लिये अध्वर्यु का व्यवहार करता है, जब कि विरोधियों को चरकाध्वर्यु कहते हुये उनका प्रतिवाद करने की चर्चा करता है। यही दुर्भावनात्मक प्रवृत्ति शुक्ल यजुर्वेद संहिता के भी एक स्थल पर मिलती है, जहाँ पुरुषमेध के एक बलिप्राणी के रूप में चरकाचार्य को दुष्कृत अथवा पाप को समर्पित किया गया है।"[४४]

अपने इन्डिशे स्टूडियन (३, ४५४) में प्रो० वेबर ने शतपथ ब्राह्मण के निम्न स्थलों का उद्धरण दिया है जहाँ चरकों अथवा चरकाध्वर्युओं की भर्त्सना की गई है ३. ८, २, २४; ४. १, २, १९, ४. २, ३, १५, ४. २, ४, १; ६. २, २, १. १०, ८. १, ३, ७, ८. ७, १, १४. २४। इनमें से मैं केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ :

ता' उ ह चरकाः नाना एव मन्त्राभ्यां जुह्वति "प्राणोदानौ वै अस्य एतौ। नानावीर्यौ प्राणोदानौ कुर्मः" इति वदन्तः। तद् उ तथा न कुर्यात्। मोहयन्ति ह ते यजमानस्य प्राणोदानौ। अपि इद् वै एनम् तूष्णीं जुहुयात्। (शतपथ ब्राह्मण ४. १, २, १९)।

"यह चरक-गण क्रमशः दो मन्त्रों से इस प्रकार कहते हुये हवन करते हैं 'यह सब उसके दो प्राण हैं', और, 'इस प्रकार हम इन दो प्राणों को उनकी शक्तियों से युक्त करते हैं।' किन्तु अन्य किसी को इस पद्धति का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि यह यजमान के ही प्राणों को मोहित कर देते हैं। इसीलिये इस हवि को शान्त रूप से समर्पित करना चाहिये।"

किन्तु शाखा-भेद सम्बन्धी यह द्वेष यजुर्वेद की ही विभिन्न परम्पराओं

---

[४४] वाजसनेयि संहिता ३०. १८ (पृ० ८४६, वेबर संस्करण) : 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्। ('चरकाणां गुरुम्', भाष्यकार)'। प्रो० मूलर (एन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५०) का भी कथन है : 'चरक नाम का वाजसनेयि संहिता के स्वयं में एक स्थल में (उक्त उद्धृत स्थल) भर्त्सनात्मक आशय में व्यवहृत हुआ है। ३०वें अध्याय में पुरुषमेध के बलिप्राणियों की सूची दी गई है जिसमें 'दुष्कृत' को समर्पित करने के लिये चरकाचार्य को ही उपयुक्त बलि-प्राणी माना गया है। इस स्थल, तथा इसी समान शतपथ ब्राह्मण में मिलनेवाली अन्य उक्तियों का आशय प्रत्यक्षतः चरकों की उस प्राचीन परम्परा के लोगों के विरुद्ध द्वेष में है जो कि तैत्तिरीय संहिता के अनुयायी थे, और जिनसे ही पृथक् होकर याज्ञवल्क्य ने वाजसनेयिनों की एक नूतन परम्परा की स्थापना की थी।'

तक सीमित नहीं, वरन् अन्य वेदों के अनुयायियों के प्रति अथर्ववेद के अनुयायियों ने भी इसी प्रकार की आक्षेपात्मक भावना का प्रदर्शन किया है। इस विषय पर प्रो० वेबर ने इन्डिशे स्टूडियन (१, २९६) में इस प्रकार विचार व्यक्त किया है : 'अथर्ववेद से सम्बन्धित कृतियों में अन्य वेदों के अनुयायियों के प्रति सामान्य रूप से अत्यधिक द्वेष की भावना व्यक्त हुई है। किन्तु इस प्रकार की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति अथर्ववेद परिशिष्टों में से प्रथम में मिलती है।"

आपने इसी प्रसङ्ग में उक्त ग्रन्थ से निम्नलिखित उद्धरण दिया है :

बह्वृचो हन्ति वै राष्ट्रम् अध्वर्युर् नाशयेत् सुतान्। छन्दोगो धनं नाशयेत् तस्माद् आथर्वणो गुरुः। अज्ञानाद् वा प्रमादाद् वा यस्य स्याद् बह्वृचो गुरुः। देश-राष्ट्र-पुरामात्य-नाशस् तस्य न संशयः। यदि वाऽध्वर्यवं राजा नियुनक्ति पुरोहितम्। शस्त्रेन बध्यते क्षिप्रम् परिक्षीणार्थ-वाहनः। यथैव पङ्गुर् अध्वानम् अपक्षी चाण्ड-भोजनम् (चाण्ड-जो नभः ?)[५१] एवं छन्दोग–गुरुणा राजा वृद्धि न गच्छति। पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात् कथञ्चन। अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्र-भ्रंशं स गच्छति।

"बह्वृच (ऋग्वेद का ऋत्विज) एक साम्राज्य का विनाश कर देता है; अध्वर्यु (यजुर्वेदका ऋत्विज) पुत्रों का नाश कर देता है, और छन्दोग (सामवेद का ऋत्विज) धन का नाश कर देता है, अतः आथर्वण ही उपयुक्त गुरु हो सकता है। जो राजा अज्ञान अथवा प्रमादवश बह्वृच गुरु रख लेता है, वह नि सन्देह अपने देश, राष्ट्र, और आमात्यों को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार एक लंगडा आदमी पथ पर कोई प्रगति नहीं करता और जिस प्रकार अण्डज जीव पख-हीन होने पर आकाश में नहीं उड़ सकता, उसी प्रकार छन्दोग गुरु रखनेवाले राजा की वृद्धि नहीं होती। जो जलद अथवा मौद को अपना पुरोहित मानता है वह एक वर्ष अथवा दस मास में ही अपना राष्ट्र खो देता है।"

इसी प्रसङ्ग में प्रो० वेबर आगे यह मत व्यक्त करते हैं कि "परिशिष्ट का लेखक स्वयं अथर्ववेद की कुछ शाखाओं के अनुयायियों, जैसे जलदों और मौदों, पर भी आक्षेप करता है, और यह स्वीकार करता है कि केवल एक भार्गव, पैप्पलाद अथवा शौनक ही, गुरु के उपयुक्त होता है। वह यह भी

---

[५१] कोष्ठो मे दिये हुये अनुमानात्मक सशोधनो के लिये मैं प्रो० ऑफरेख्त का आभारी हूँ। अपने अनुवाद मे मैंने इन्हे ग्रहण कर लिया है।

कहता है कि अथर्ववेद ऋत्विजों में सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्मनों, के लिये ही उद्दिष्ट है तीन अन्य प्रकार के हीन ऋत्विजों के लिये नहीं।"

इसके बाद उन्होंने निम्नलिखित स्थल उद्धृत किया है :

अथर्वा सृजते घोरम् अद्भुतं शमयेत् तथा। अथर्वा रक्षते यज्ञम् यज्ञस्य पतिर् अङ्गिराः। दिव्यान्तरिक्ष-भौमानाम् उत्पातानाम् अनेकधा। शमयिता ब्रह्म-वेद-ज्ञस् तास्माद् दक्षिणतो भृगुः। ब्रह्मा शमयेद् नाध्वर्युर् न छन्दोगो न बह्वृचः। रक्षांसि रक्षति ब्रह्मा ब्रह्मा तस्माद् अथर्व-वित्।

"अथर्व-ऋत्विज घोर और अद्भुत घटनाओं का सृजन करता है; वह उस यज्ञ की रक्षा करता है जिसके अधिपति अङ्गिरा हैं। जो ब्रह्मवेद में निपुण होता है वह (अथर्व) विविध प्रकार के दिव्य, अन्तरिक्षीय, और पार्थिव उत्पातों का शमन कर सकता है; इसीलिये भृगु को अपने दाहिने रखना चाहिये। अध्वर्यु, छन्दोग, अथवा बह्वृच नहीं वरन् ब्रह्मन् ही अपशकुनों का शमन कर सकता है। ब्रह्मन् ही रक्षसों से रक्षा कर सकता है। ब्रह्मन् वही है जो अथर्वन् का ज्ञान रखता है।"

यहाँ मैं प्रो० वेबर के इन्डिशे स्टूडियन (१. ६३ और बाद) से एक दूसरा स्थल उद्धृत करता हूँ जो ऋग्वेद और सामवेद के सम्बन्ध तथा अन्य विभिन्न शाखाओं के बीच परस्पर द्वेष की भावना पर प्रकाश डालता है : "सामवेद और ऋग्वेद के सम्बन्ध को समझने के लिये हमें केवल उस पद्धति के सम्बन्ध में ही स्पष्ट विचार कर लेना चाहिये जिसके अनुसार सामान्य रूप से इन सूक्तों का आविर्भाव हुआ था। साथ ही हमें इसकी भी कल्पना करनी चाहिये कि आविर्भाव के पश्चात् इन्हें किस प्रकार उन जातियों द्वारा दूरस्थ देशों तक ले जाया गया जो देशान्तर गमन कर रहीं थीं और किस प्रकार यह जातियाँ इन्हें पवित्र मानती रहीं, जब कि अपने मूलगृह में यह या तो लोगों की तात्कालिक चेतना के अन्तर्गत कालान्तर में अनेक प्रकार से परिवर्त्तित हो गईं अथवा नवीन सूक्तों की रचनाओं द्वारा इनका स्थान ग्रहण कर लेने के कारण विस्मृत हो गईं। मुख्यतः विदेशों में ही हम सर्वप्रथम परिचित वस्तुओं को पवित्र विचारों से आवृत्त करते हैं। प्रवासी लोग अपनी प्राचीन मानसिक स्थिति को सुरक्षित रखते हुये प्राचीन बातों को सप्रयास यथावत् बना रखना चाहते हैं, जबकि अपने मूलगृह में जीवन नये पथों पर अग्रसर होता है। नवीन प्रवासी उन लोगों का ही अनुसरण करते हैं जो पहले अपना मूलगृह छोड़ चुके रहते हैं, और उनके साथ ही संगठित

होते हैं जो पहले से उस नवीन देश में आकर बसे होते है। ऐसी स्थिति में प्राचीन और नवीन सूक्त तथा प्रचलन आपस में मिल जाते हैं जिन्हें निष्ठा के साथ तथा आलोचना रहित होकर यात्री-शिष्य विभिन्न आचार्यों से सीखते रहते है—बृहदारण्यक उपनिषद् की अनेक कथायें इस विषय पर प्रकाश डालती हैं, देखिये इन्डिशे स्टूडियन, पृ० ८३—जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के अन्तर्मिश्रण उत्पन्न हो जाते हैं। पुनः, अन्य अधिक विद्वान् लोग एक प्रकार की वस्तुओं को एक साथ रखने तथा परस्पर भिन्न को पृथक् करने का प्रयास करने लगते हैं; और इस प्रकार कर्मकाण्डीय असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है, जिसके बिना किसी मूलग्रन्थ अथवा सूक्त का विशुद्ध निर्माण असम्भव होता है। इस पद्धति में राजदरबारों के प्रभाव की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, जैसा कि, उदाहरण के लिये, विदेहराज जनक के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट है जिन्होंने याज्ञवल्क्य को अपना 'होमर' (एक प्राचीन यूनानी कवि) बना लिया था। विभिन्न शाखाओं के परस्पर सम्बन्धों को समझने के लिये पुराण अथवा चरणव्यूह में किसी प्रकार के तथ्य को ढूँढना निरर्थक होगा। विभिन्न ब्राह्मणों और सूत्रों में उल्लिखित अनेक आचार्यों के नामों की अशतः एक दूसरे के साथ, तथा अंशतः पाणिनि के सूक्तों और गणपाठ और इनसे सम्बन्धित भाष्यों के साथ तुलना द्वारा ही इस दिशा में कुछ अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है (पाणिनि और गणपाठ के विवरणों की शुद्धता के लिये पतञ्जलि के महाभाष्य का अवलोकन भी बहुत कुछ आवश्यक है)। शेष दृष्टियों से सामवेद और ऋग्वेद का सम्बन्ध बहुत अंशों तक शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद के परस्पर सम्बन्धों के ही समान है, और जिस प्रकार हमें शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण (शतपथ) मे अक्सर ऐसे आचार्यों के दर्शन होते हैं जिनका कृष्ण यजुर्वेद के अनुयायियों के रूप में भर्त्सनात्मक उल्लेख है, उसी प्रकार उस समय भी आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिये जब हमें सामवेद के ब्राह्मणों में पैङ्गिनों और कौषीतकिनों के प्रति भी इसी प्रकार के भर्त्सनात्मक व्यवहार के चिह्न मिलते हैं।"

गत पृष्ठों में उद्धृत वेदों की विभिन्न शाखाओं में विभाजन-सम्बन्धी पुराणों के विवरणों से बहुत अशों तक यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें निहित परम्पराओं द्वारा वैदिक सूक्तों के निर्माण के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती, और न हमें इस बात का ही कोई सगत और प्रामाणिक विवरण मिलता है कि किस प्रकार यह सूक्त सुरक्षित, सग्रहीत, और व्यवस्थित हुये। वास्तव में हमने इन स्थलों को इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये नहीं वरन् इनके आख्यानों की पौराणिक प्रवृत्ति तथा विवरण सम्बन्धी इनकी असगतियों

को स्पष्ट करने के लिये ही उद्धृत किया है। वेदों की शाखाओं, ब्राह्मणों की प्राचीन परम्पराओं, तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के लिये मैं प्रो० मूलर के हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (पृ० ११९–१३२, ३६४–३८८, तथा अन्यत्र) की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझता हूँ।

खंड ७—वेद की प्रामाणिकता की पुष्टि के लिये वेदों के भाष्यकारों के तर्क।

अब मैं अपेक्षाकृत ऐसे अधिक व्यवस्थित लेखकों की कृतियों से उद्धरण देने जा रहा हूँ जिन्होंने वेदों की उत्पत्ति और उनके प्रमाणत्व की विवेचना की है। मेरा तात्पर्य स्वयं इन वेदों के भाष्यकारों, तथा हिन्दू-दर्शन"[2] के

---

[2] यद्यपि हिन्दू-दर्शन की विभिन्न शाखाओं के लेखक (जैसा कि हम देखेंगे) वेदों के प्रमाणत्व का स्पष्ट रूप से समर्थन करते हैं (उन आधारों पर जो विभिन्न दर्शन पद्धतियों के अनुसार परस्पर भिन्न हैं), तथापि वह अपने को यह स्वीकार करने के लिये कदापि बाध्य नहीं समझते कि वेदों के विभिन्न स्थलों का समान महत्व है। और न वह अपने धर्म-ग्रन्थों को ऐसा एकमात्र स्रोत ही मानते हैं जिनसे ही उनके अपने दर्शन अथवा कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव हुआ है। सामान्यरूप से वेदों के साथ भारतीय विचारकों के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये मैं (ज० ए० सो०, १८६२, पृ० २१० और बाद) अपने एक लेख से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ: 'वेदों के कुछ सूक्तों से यह स्पष्ट है (मैक्स० ए० सं० लि०, पृ० २१० और बाद) कि धार्मिक और कर्मकाण्डीय विचारों का भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही अस्तित्व था। इसलिए, जब भारत की धार्मिक और पुराणशास्त्रीय विचार-पद्धतियाँ विकसित हो गईं तो हमें यह भी आशा कर लेनी चाहिये कि विभिन्न लेखकों की अपनी चिन्तन पद्धति में अनेक प्रकार के विभेदों का आ जाना स्वाभाविक था। विशेषकर जब किसी लेखक में कल्पनात्मक तत्त्व प्रखर होता था तो वह विश्व की उत्पत्ति तथा देवों की प्रकृति और कार्यों के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों के विरुद्ध नए नवीन विचार प्रकट करता था। मान्यता के इस स्तर पर हम यह नहीं कह सकते कि विचारों की किसी प्रामाणिक पद्धति अथवा शाखा का निर्माण हो गया, परन्तु हम यह कह सकते हैं कि वह अपने निर्माण के पथ पर अग्रसर हो रहा था, इसलिए विचार, अभिव्यक्ति, और कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता की सम्भावना थी। वास्तव में हर किसी ब्राह्मण-परम्पराओं के अस्तित्व द्वारा भी

विभिन्न शाखाओं के लेखकों और व्याख्याकारों से है। उन मान्यताओं के सम्बन्ध में, जिनसे यह लेखक आरम्भ करते हैं, अथवा इनके निष्कर्षों के सम्बन्ध मे हमारा चाहे जो भी विचार हों, हम इनकी कल्पनाओं तथा पुराणों और उपनिषदों के शिथिल और रहस्यात्मक विचारों के बीच लक्षित होने वाले अन्तर से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकते। साथ ही हम इनकी तार्किक प्रखरता, पक्ष-विपक्ष के सम्बन्ध में इनकी उक्तियों की उपयुक्तता तथा इनके उदाहरणों की योग्यता और समीचीनता की प्रशंसा किये बिना भी नहीं रह सकते।

१—इस सम्बन्ध में जो प्रथम स्थल उद्धृत कर रहा हूँ वह सायण की ऋग्वेद भाष्य भूमिका से लिया गया है (जैसा कि हम प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में देख चुके हैं, सायण ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुये थे) :

ननु वेदः एव तावद् नास्ति। कुतस् तद्-अवान्तर-विशेषः ऋग्वेदः। तथा हि। कोऽयं वेदो नाम। न हि तत्र लक्षणं प्रमाण वाऽस्ति। नच तद्-उभय-व्यतिरेकेण किन्चिद् वस्तु प्रसिध्यति। लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तु-सिद्धिर् इति न्याय-विदाम् मतम् "प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाण-विशेषेष्व् अन्तिमो वेदः इति तल्लक्षणम्" इति चेत्। न। मन्व्-आदि-स्मृतिष्व् अतिव्याप्तेः। समय-बलेन सम्यक् परोक्षानुभव-साधनम् इत्य् एतस्य आगम-लक्षणस्य तास्व् अपि सद्भावात्। "अपौरुषेयत्वे सति इति विशेषणाद् अदोषः" इति चेत्। न। वेदस्यापि परमेश्वर-निर्मित-त्वेन पौरुषेयत्वात्। "शरीर-धारी-जीव-निर्मितत्वाभावाद् अपौरुषेयत्वम्" इति चेत्। (न)। "सहस्र-शीर्षा पुरुषः" इत्यादि-श्रुतिभिर् ईश्वरस्यापि शरीरित्वात्। "कर्म-फल-रूप-शरीर-धारि-जीव-निर्मितत्वाभाव-मात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितम्" इति चेत्। न। जीव-विशेषैर् अग्नि-वाय्व्-

---

व्यक्त होता है जो केवल किसी एक वेद विशेष से नही वरन् किसी वेद की किसी एक शाखा से सम्बद्ध थे। ब्राह्मण धर्म की बहुत कुछ सुदृढ स्थापना तथा इसके नियमो के अधिक सूक्ष्म विधान के पश्चात् भी यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत कल्पना और विश्वास पर उतना अधिक नियन्त्रण नही था। यदि कोई ब्राह्मण प्रतिष्ठित सस्कारो तथा अपनी परम्पराओ का पालन करता था तो उसे

आदित्यैर् वेदानाम् उत्पादितत्वात्। "ऋग्वेदः एव अग्नेर् अजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेदः आदित्याद्" इति श्रुतेर् ईश्वरस्य अग्न्य्-आदि-प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम्। "मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः शब्द-राशिर् वेदः" इति चेत्। न। ईदृशो मन्त्रः। ईदृशम् ब्राह्मणम् इत्य् अनयोर् अद्यापि अनिर्णीतत्वात्। तस्माद् नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम्। नापि तत्-सद्भावे प्रमाणं पश्यामः। "'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणम् चतुर्थम्' इत्यादि वाक्यं प्रमानं" इति चेत्। न। तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्व-प्रसन्गात्। न खलु निपुणोऽपि स्व-स्कन्धम् आरोढु प्रभवेद् इति। "'वेदः एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः पर' इति आदि स्मृति-वाक्यं प्रमाणं" इति चेत्। न। तस्याप्य् उक्त-श्रुति-मूलत्वेन निराकृतत्वात्। प्रत्यक्षादिक अप्य् अयोग्यम्। वेद-विषया लोक-प्रसिद्धिः सार्वजनीनाऽपि "नील नभः" इत्यादि-वद् भ्रान्ता। तस्माल् लक्षण-प्रमाण-रहितस्य वेदस्य सद्भावो न अन्गीकर्त्तु शक्यते इति पूर्व-पक्षः।

अत्र उच्यते। मन्त्र-ब्राह्मणात्मकं तावद् अदुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञ-परिभाषायाम् एवाह "मन्त्र-ब्राह्मणयोर् वेदनामधेयम्" इति। तयोस् तु रूपम् उपरिष्टाद् निर्णेष्यते। अपौरुषेय-वाक्यत्वम् इति इदम् अपि यादृशम् अस्माभिर् विवक्षितं तादृशम् उत्तरत्र स्पष्टी-भविष्यति। प्रमाणान्य् अपि यथोक्तानि श्रुति-स्मृति-लोक-प्रसिद्धि-रूपाणि वेद-सद्भावे द्रष्टव्यानि। यथा घट-पटादि-द्रव्याणाम् स्व-प्रकाशत्वाभावे' पि सूर्य-चन्द्रादीनां स्व-प्रकाशत्वम् अविरुधम् तथा मनुष्यादाना स्व-स्कन्धारोहासम्भवे'प्य् अकुण्ठित-शक्तेर् वेदस्य इतर-वस्तु-प्रतिपादकत्व-वत् स्व-प्रतिपादकत्वम् अप्य् अस्तु। अत एव सम्प्रदाय-विदोऽकुण्ठितां शक्तिम् वेदस्य दर्शयन्ति "चोदना हि भूतम् भविष्यन्तं

किसी भी दार्शनिक परम्परा मे निष्ठा रखने की स्वतन्त्रता थी (कोल० मिस० ए०, १. ३७९; ऐ० स० लि०, पृ० ७९)। इस प्रकार स्वतन्त्र विचार की परम्परा सुरक्षित रही और हर प्रकार के कल्पनात्मक सिद्धान्तो का प्रचलन और प्रचार किसी बाधा अथवा अपयश के विना ही चलता रहा। इसी बीच

सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टम् इत्य् एवञ्जातीयम् अर्थम् शक्नोत्य् अवगमयितुम्" इति। तथा सति वेदमूलायाः स्मृतेस् तद्-उभय-मूलायाः लोक-प्रसिद्धेश् च प्रामाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षण-प्रमाण-सिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना ऽपोढुं शक्यते इति स्थितम।

नन्व् अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः। तथापि नासौ व्याख्यानम् अर्हति अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात्। न हि वेदः प्रमाणं तल्-लक्षणस्य तत्र दुःसम्पादत्वात्। तथा हि "सम्यग् अनुभव-साधनं प्रमाणम्" इति केचिल् लक्षणम् आहुः। अपरे तु "अनधिगतार्थ-गन्तृ प्रमाणम्" इत्य् आचक्षते। न चैतद् उभयम् वेदे सम्भवति। मन्त्र-ब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिद् अबोधकाः। "अम्यक् सा ते इन्द्र ऋष्टिर्" (ऋग्वेद १. १६९, ३) इत्य् एको मन्त्रः। "याद्दश्मिन् धायि तम् अपस्यया विदद्" (ऋग्वेद ५. ४४, ८) इत्य् अन्यः। "सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू" (ऋग्वेद १०. १०६, ६) इत्य् अपरः। आपान्त-मन्युस तृपल-प्रभर्मा" (ऋग्वेद १०. ८९, ५) इत्य् आदयः उदाहार्याः। न ह्य् एतैर् मन्त्रैः कश्चिद् अप्य् अर्थोऽवबुध्यते। एतेष्व् अनुभवो एव यदा नास्ति तदा तत्-सम्यक्त्वं तदीय-साधनत्वं च दूरापेतम्। "अधः स्विद् आसीद्" (ऋग्वेद १०. १२९, ५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि "स्थाणुर् वा पुरुषो वा" इत्यादि-वाक्य-वत् सन्दिग्धार्थ-बोधकत्वाद् नास्ति प्रामाण्यम्। "ओषधे त्रायस्व एनम्" (तैत्तिरीय संहिता १. २, १, १) इति मन्त्रो दर्भ-विषयः। "स्वधिते मा एनं हिंसीर" (तैत्तिरीय संहिता १. २, १, १) इति क्षुर-विषयः। "शृणोत ग्रावाणः" इति पाषाण-विषयः। एतेष्व् अचेतनानां दर्भ-क्षुर-पाषाणानां चेतन-वत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो "द्वौ चन्द्रमसाव्" इति वाक्य-वद् विपरीतार्थ-बोधकत्वाद् अप्रामाण्यम्। "एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे"। "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः अधि भूम्याम्"६२

वेदो के प्रमाण को सामान्य रूप से सर्वप्रधान और दिव्य माना जाने लगा। किन्तु जब तक यह प्रमाणत्व नाममात्र के लिये ही स्वीकृत था, स्वतंत्र विचारको को अनेक प्रकार के ऐसे काल्पनिक सिद्धान्तो के प्रचार की स्वतत्रता रही जो परस्पर भिन्न तो थे किन्तु बहुत कुछ असङ्गत नही। किन्तु जब पवित्र ग्रन्थो

इत्य् अनयोस् तु मन्त्रयोर् "यावज्जीवम् अहम् मौनी" इत्य् वाक्य-वद् व्याघात-बोधकत्वाद् अप्रामाण्यम्। "आप उन्दन्तु" (तैत्तिरीय संहिता १. २, १, १) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौर-काले जलेन शिरसः क्लेदनम् ब्रूते। "शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखम् मम" इति मन्त्रो विवाह-काले मङ्गलाचरणार्थम् पुष्प-निर्मितायाः शुभिकाया. वर-वध्वोः शिरस्य् अवस्थानम् ब्रूते। तयोश् च मन्त्रयोर् लोक-प्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थ-गन्तृत्वं नास्ति। तस्माद् मन्त्र-भागो न प्रमाणम्।

अत्र उच्यते। "अम्यग्"–आदि-मन्त्राणाम् अर्थो यास्केन निरुक्त-ग्रन्थेऽवबोधितः। तत्-परिचय-रहितानाम् अनवबोधो न मन्त्राणां दोषम् आवहति। अत एव अत्र लोक-न्यायम् उदाहरन्ति "न एष स्थाणोर् अपराधो यद् एनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधो सम्भवति" इति। "अधः स्विद् आसीद्" इति मन्त्रश् च न सन्देह-प्रबोधनाय प्रवृत्तः किन्तर्हि जगत्-कारणस्य पर-वस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुम् एव प्रवृत्तः। तद्-अर्थम् एव हि गुरु-शास्त्र-सम्प्रदाय-रहितैर् दुर्बोध्यत्वम् "अधः स्विद्" इत्य् अनया वचो-भङ्ग्या उपन्यस्यति। स एव अभिप्रायः उपरितनेषु "को अद्धा वेद" (ऋग्वेद १०. १२६, ६) इत्य् आदि मन्त्रेषु स्पष्टीकृतः। "ओषध्य्"–आदि मन्त्रेष्व् अपि चेतनाः एव तत्-ताद् अभिमानि देवताम् तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश् च देवताः भगवता बादरायणेन "अभिमानि–व्यपदेशस् तु" इति सूत्रे सूत्रिताः। एकस्यापि रुद्रस्य स्व-महिम्ना सहस्र–मूर्ति–स्वीकाराद् नास्ति परस्पर व्याघात.। जलादि–द्रव्येण शिर–क्लेदनादेर् लोक–सिद्धत्वेऽपि तद्-अभिमानि-देवतानुग्रहस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्–विषयत्वेन अज्ञातार्थ-ज्ञाप-कत्वम्। ततो लक्षण–सद्भावाद् अस्ति मन्त्र–भागस्य प्रामाण्यम्।

"किन्तु, कुछ लोग कहेंगे कि जब वेद का ही अस्तित्व नहीं है, तब ऐसी स्थिति में वेद का अवान्तर विशेष ऋग्वेद कैसे हो सकता है? तब वेद क्या

के प्रमाणत्व की बौद्धो द्वारा स्पष्ट उपेक्षा ही नही की गई वरन् उन्हे और खुलकर बहिष्कृत और अस्वीकृत किया जाने लगा तथा उनपर आधारित परम्पराओ का परित्याग और उनकी भर्त्सना की जाने लगी तब आस्तिकवर्ग सचेष्ट हो उठा।"

है ? इसका (वेद का) न तो कोई लक्षण है और न कोई प्रमाण; और इन दोनों के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि न्यायविदों का भी मत है कि 'लक्षण और प्रमाण से ही किसी वस्तु की सिद्धि होती है।' यदि यह कहा जाय कि 'प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम जैसे तीन प्रकार के प्रमाणों में से वेद अन्तिम (आगम-प्रमाण) है और यही इसका लक्षण है', तब आपत्ति करने वाले कहेंगे कि यह ठीक नहीं है क्योंकि मनु आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतियों में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है; क्योंकि यह स्मृतियाँ भी आगम प्रमाण हैं, अर्थात् इन्हें भी सम्यक् रूप से परोक्षानुभव साधन कहा गया है।' यदि यह कहा जाय कि 'अपौरुषेय होने के कारण वेद निर्दोष है',[५३] तब वह पुनः उत्तर देते हैं कि 'ऐसा नहीं है क्योंकि परमेश्वर द्वारा निर्मित होने के कारण वेद पौरुषेय है।' यदि यह कहा जाय कि 'यह अपौरुषेय नहीं है, क्योंकि किसी शरीरधारी जीवनेइसका निर्माण नहीं किया है', तब वह लोग उसे इस आधार पर अस्वीकृत कर देते हैं कि 'वेदों में पुरुष को सहस्रशीर्ष-कहा गया है,[५४] जिससे यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर भी शरीरधारी है।' फिर भी यदि ऐसा कहा जाय कि 'यहाँ अपौरुषेयत्व का अर्थ यह है कि वेद कर्मफल के रूप में शरीरधारी जीव के द्वारा निर्मित नहीं है', तब विरोधी इसे भी इस आधार पर अस्वीकृत कर देते हैं कि वेद को अग्नि, वायु, आदित्य जैसे विशेष प्राणियों द्वारा रचित बताया गया है'; क्योंकि श्रुति[५५] के इस कथन द्वारा कि 'अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, और आदित्य से सामवेद की उत्पत्ति हुई', यह स्पष्ट होता है कि अग्नि तथा अन्य के प्रेरक के रूप में ईश्वर इसका निर्माता सिद्ध होता है। यदि अब यह कहा जाय कि वेद मन्त्र-ब्राह्मण-रूपी शब्दों के संग्रह हैं तब आपत्तिकारक यह कहते हैं कि 'ऐसा नहीं है, क्योंकि आज तक यह निर्णय नहीं हो सका कि मन्त्र (की परिभाषा) यह है और ब्राह्मण (की) यह।' अतः वेद का कोई लक्षण नहीं है। न हमें वेद के अस्तित्व का ही कोई प्रमाण दिखाई देता है। यदि यह कहा जाय कि 'भगवन्! मैं जिस ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और चतुर्थ अथर्ववेद का अध्ययन करता हूँ',[५६] वह वेद का प्रमाण है, तब विरोधी यह उत्तर देते हैं

---

[५३] अथवा इसका अर्थ यह हो सकता है : "यदि यह कहा जाय कि अपौरुषेय होने के कारण इस विशेष लक्षण के परिणाम-स्वरूप वेद निर्दोष है।'

[५४] ऋग्वेद १०. ९०, १ (अनुवादक)

[५५] ऐतरेय ब्राह्मण ५ ३२ (अनुवादक)

[५६] छान्दोग्य उपनिषद् ७. १, २ (अनुवादक)

कि 'ऐसा नहीं है क्योंकि यह वचन वेदों का ही एक अङ्ग है, अतः ऐसी स्थिति में वेद आत्माश्रय दोष के भागी होंगे। कितना भी चतुर व्यक्ति हो वह अपने कन्धों पर नहीं चढ़ सकता।' यदि, पुनः यह कहा जाय कि स्मृति की इस प्रकार की उक्तियाँ जैसे 'वेद ही द्विजातियों के लिये श्रेयस्कर और अतिश्रेष्ठ है'[८७] प्रमाण है, तब विरोधी यह कहते है कि 'ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद पर ही आधारित होने के कारण इन उक्तियों को भी अस्वीकृत कर देना चाहिए।' यदि कहिए कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर शका नहीं की जा सकती[८८] तो हम कहेंगे कि वेद के सम्बन्ध में लोक-प्रसिद्धि सार्वजनीन होते हुए भी उसी प्रकार भ्रान्त है जिस प्रकार 'आकाश नीला है' इत्यादि उक्तियाँ भ्रान्त हैं। अतः लक्षण और प्रमाण से रहित होने के कारण वेद के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा पूर्वपक्ष है।

"इस प्रसग में हमारा उत्तर यह है : मन्त्र और ब्राह्मण के रूप में किया गया वेद का लक्षण सर्वथा दोष रहित है। यज्ञ-परिभाषा में आपस्तम्ब ने ऐसा कहा है कि 'मंत्र और ब्राह्मण का नाम वेद है।' इन दोनों (मन्त्र और ब्राह्मण) के स्वरूप की चर्चा आगे की जायेगी।[८९] 'अपौरुषेय वाक्यत्व' उक्ति से हमारा जो आशय है हम उसे भी आगे चलकर स्पष्ट करेंगे। वेद के अस्तित्व के जिन प्रमाणों का निर्धारण किया गया है उसके लिये श्रुतियों, स्मृतियों, और लोकप्रसिद्धियों को भी प्रमाण मानना चाहिए। जिस प्रकार घट-पटादि द्रव्य स्वयं अपने प्रकाशक नहीं होते, बल्कि किसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और ऐसी स्थिति में सूर्य और चन्द्रादि का स्वय-प्रकाशत्व निर्विवाद है; उसी प्रकार यद्यपि मनुष्यादि स्वय अपने कन्धे पर नहीं चढ़

---

[८७] याज्ञवल्क्य स्मृति १. ४० (अनुवादक)

[८८] इस पक्ति का वाक्य विन्यास मुझे स्पष्ट नही हुआ है। इसके बाद जो कुछ आता है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण पर सदेह किया जा सकता है। क्या यह स्थल भ्रष्ट हो सकता है ?

'मूल लेखक की यह शंका ठीक है क्योंकि उन्होंने जिस पाठ को ग्रहण किया है वह नि'सन्देह भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ यह है "प्रत्यक्षादिक तु शङ्कितुमपि अयोग्यम्। वेदविषया तु लोकप्रसिद्धि सार्व्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवद् भ्रान्ता"। अत शुद्ध पाठ को दृष्टि मे रखते हुए हिन्दी अनुवाद उसी के अनुसार किया गया है। इस प्रकार मूल लेखक की शङ्का का समाधान हो जाता है।'

—अनुवादक।

[८९] देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम और द्वितीय भाग।

सकते, तथापि अपनी अकुण्ठित शक्ति के कारण वेद स्वयं अपना प्रतिपादन करने की शक्ति से वैसे ही युक्त हैं जैसे समस्त इतर वस्तुओं के प्रतिपादन की भी शक्ति से।[६०] इसलिए वैदिक सम्प्रदाय के लोग वेदों की अकुण्ठित शक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं: 'वेद वाक्य के द्वारा भूत, वर्त्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, प्रच्छन्न एवं दूर की वस्तु का ज्ञान हो सकता है।' ऐसी स्थिति में वेद के अस्तित्व के सम्बन्ध में उस स्मृति का जो वेद पर ही आधारित है, तथा लोक-प्रसिद्धि जो इन दोनों पर आधारित है, के प्रमाण निवारण के योग्य नहीं हैं। इस प्रकार यह स्थिर है कि लक्षण और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध वेद का निराकरण चार्वाक आदि कोई भी विरोधी नहीं कर सकता।

'हमने यह मान लिया कि वेद नाम का कोई पदार्थ है। फिर भी विरोधियों का कहना है कि यह व्याख्यान के योग्य नहीं है, अर्थात् अप्रमाणत्व के कारण यह व्याख्यान के अनुपयुक्त है क्योंकि इस बात का सम्पादन कठिन है कि इसमें ऐसा (प्रमाणत्व का) कोई लक्षण वर्त्तमान है। अब कुछ लोगों ने प्रमाण की सम्यक् अनुभव के साधन के रूप में परिभाषा की है; अन्य का कथन है कि प्रमाण वह है जो अनधिगत (अश्रुत, अज्ञातपूर्व) अर्थ का बोध कराता है। किन्तु यह दोनों प्रकार के प्रमाण-लक्षण वेद के लिये संगत नहीं हैं। क्योंकि वेद मन्त्र और ब्राह्मणात्मक है। इन मन्त्रों में से कुछ में कोई भी अर्थ बोधगम्य नहीं होते। इस प्रकार का एक मन्त्र 'अम्यक् सा ते इन्द्र ऋष्टिर्'[६१] है; दूसरा 'यादृश्मिन् धायि तम् अपस्यया विदद्'[६२], और तृतीय 'सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू'[६३], है। 'आपान्त-मन्युस् तृपल-प्रभर्मा'[६४], इत्यादि

[६०] ब्रह्मसूत्र २. १, १, के अपने भाष्य मे शंकराचार्य (जो ईसा की आठवी शताब्दी के अन्त अथवा नवीं के आरम्भ मे हुए थे। देखिये कोल० मिस० ए०, १. ३३२) भी इसी बात को पहले कह चुके हैं: "वेदस्य हि निरपेक्षम् स्वार्थे प्रामाण्यं रवेर् इव रूप-विषये। पुरुष-वचसा तु मूलान्तरापेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं वक्तृ-स्मृति-व्यवहितं च इति विप्रकर्षः।" अर्थात् "आत्म प्रमाण के लिए वेद भी उसी प्रकार निरपेक्ष हैं जिस प्रकार रूपो के विषय मे सूर्य। दूसरी ओर मनुष्य के वचन आत्म-प्रमाण के लिए ऐसे स्रोत पर आधारित हैं जो स्वय दूसरे स्रोत (वेद) की अपेक्षा रखता है, और जो वक्ता की स्मृति द्वारा पृथक् है। दोनो प्रमाणो के बीच यही अन्तर है।"

[६१] ऋग्वेद १. १६९, ३ (अनुवादक)। [६२] ऋग्वेद ५. ४४, ८ (अनुवादक)।

[६३] ऋग्वेद १०. १०६, ६ (अनुवादक)।

[६४] ऋग्वेद १०. ८९, ५ (अनुवादक)।

ऐसे अन्य मन्त्र हैं जिन्हें इस प्रकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन मन्त्रों का कोई भी अर्थ प्रतीत नहीं होता; और जब यह मंत्र कोई अनुभव व्यक्त ही नहीं करते तब सम्यक् अनुभव व्यक्त करना अथवा सम्यगानुभव साधक होना दूर की बात है। यदि 'अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीद्'[६५] मत्र कोई अर्थ भी व्यक्त करता है, तो भी 'स्थाणुर् वा पुरुषो वा' जैसी उक्तियों के समान यह भी सन्देह उत्पन्न कर देता है, और इसलिए ऐसे वाक्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता। 'ओषधे त्रासस्व एनम्'[६६] मन्त्र दर्भ-विषयक है; 'स्वधिते मा एनं हिंसीर्'[६७] मत्र क्षुर-विषयक है; और 'शृणोत ग्रावाणः'[६८] मन्त्र पाषाण-विषयक है। इन मन्त्रों में दर्भ, क्षुर, और पाषाण यद्यपि चेतना रहित पदार्थ हैं, तथापि वेद में इन्हें चेतनों की भाँति सम्बोधित किया गया है। अतः यह स्थल अप्रमाण्य है, क्योंकि अप्रमाणत्व भी 'दो चन्द्रमा हैं' वाक्य की भाँति विपरीत अर्थ के बोधक होने से सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे'[६९] और 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः अधिभूम्याम्'[७०], यह दोनों मन्त्र भी व्याघात बोधक होने के कारण, 'मैं जीवन भर मौन रहा' वाक्य की ही भाँति अप्रमाण हैं। 'आपः उन्दन्तु'[७१] मंत्र क्षौर काल में यजमान के शिर को जल से भिगोने के लिये प्रयुक्त होता है। जब कि 'शुभिके शिरः आरोह शोभयन्ति मुख मम्', मन्त्र विवाह के अवसर पर मङ्गलाचार के रूप में वर-वधू के शिर पर फूल की माला रखने के संस्कार को व्यक्त करता है। यतः ये दोनों मंत्र उसी बात को दुहराते हैं जो लोक-प्रसिद्ध है, अतः इन मंत्रों द्वारा उस अर्थ का बोध नहीं हो सकता जो किसी अन्य प्रमाण द्वारा पहले से अधिगत नहीं है। इस प्रकार वेद का मंत्रभाग प्रमाण नहीं है।

देखिये निरुक्त ५. १२ और ६ १५। इन मत्रो के विरुद्ध अबोधगम्यत्व का आक्षेप उपयुक्त है अथवा नही इसका अनुसधान करना मेरे लिये आवश्यक नही।

[६५] ऋग्वेदक १० १२९, ५ (अनुवादक)।

[६६] तैत्तिरीय सहिता १. २, १, १ (अनुवादक)।

[६७] तैत्तिरीय संहिता १ २, १, १ (अनुवादक)।

[६८] तैत्तिरीय संहिता १ ३, १३, १ (अनुवादक)।

[६९] तैत्तिरीय सहिता १ ८, ६, १ (अनुवादक)।

[७०] तैत्तिरीय संहिता ४. ५, ११, ५ (अनुवादक)।

[७१] तैत्तिरीय सहिता १ २, १, १ (अनुवादक)।

[७१] तैत्तिरीय संहिता १. २, १, १ (अनुवादक)।

"इस सन्बन्ध में हम यह उत्तर देते हैं : 'अम्यक्' तथा अन्य उपरोक्त दुरूह मंत्रों को यास्क ने अपने निरुक्त में स्पष्ट किया है। अगर यास्क द्वारा किये गये इन मन्त्रार्थों से अपरिचित व्यक्ति इन्हें नहीं समझ सकते तो यह स्वयं मन्त्रों के दोष को सिद्ध नहीं करता। इस प्रसङ्ग में एक लोकोक्ति है—'ठूठ का यह अपराध नहीं कि उसे अन्धा आदमी नहीं देखता, यह तो उस अंधे का ही अपराध है'। 'अधः स्विद्' (ऋग्वेद १०. १२९, ५) मन्त्र सन्देह के बोधन के लिये प्रवृत्त नहीं, वरन् जगत का कारण जो परवस्तु है, उसकी अति गम्भीरता का निश्चय कराने के लिये प्रवृत्त है। जो लोग गुरु, शास्त्र, एवं सम्प्रदाय की परम्परा से रहित होते है उन्हें वह जगत-कारण स्वरूप परवस्तु कठिनतापूर्वक बोधगम्य होती है, इसीलिये उन्हें 'अधः स्विद्' इस वचोभङ्गी द्वारा प्रगट किया गया है। आगे के 'को अद्धा वेद' (ऋग्वेद १०. १२९, ६) में भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। 'ओषधे' इत्यादि मत्रों में इन्हीं-पदार्थों में रहने वाले देवों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। भगवान बादरायण ने 'अभिमानि-व्यपदेशः' सूत्र में इन देवताओं को सूत्रबद्ध किया है। यतः एक होते हुए भी रुद्र अपनी महिमा से सहस्र रूप धारण कर लेते हैं, अतः इनसे सम्बद्ध विभिन्न मंत्रों में परस्पर व्याघात नहीं है। जल द्वारा शिर को भिगोने और क्षुभिका को शिर पर चढ़ाने के उपरोद्धृत मंत्र यद्यपि लोक व्यवहार के होने से प्रसिद्ध हो सकते हैं, तथापि इन कर्मों से उन अभिमानियों का अनुग्रह लोक में सर्वथा अप्रसिद्ध होने के कारण अनधिगत है। इस प्रकार मंत्रों का अज्ञातार्थ-ज्ञापक होना सिद्ध होता है। अतः दूसरे प्रमाण-लक्षणों के संगत हो जाने से, मंत्रभाग का प्रामाण्य सिद्ध हुआ।"

इसके पश्चात अपनी भूमिका में सायण ब्राह्मणों के सम्बन्ध में भी तर्क उपस्थित करते हैं। इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—'विधि' और 'अथवाद'। विधि को, पुन. (क) 'अप्रवृत्त-प्रवर्त्तनम्' अर्थात् ऐसा कार्य करना जिसमें मनुष्य अभी लिप्त नहीं है, जैसे कर्मकाण्ड; अथवा (ख) 'अज्ञात-ज्ञापनम्', अर्थात् ब्रह्मकाण्ड में वर्णित अज्ञात बातों को प्रगट करने वाला कहा गया है। इन दोनों भागों पर अप्रमाणित होने के रूप में आपत्ति की गई है। प्रथम को (१) ऐसी बातों का विधान करने वाला जो बाद में अनुचित घोषित कर दिये जाते हैं, और (२) किसी ग्रन्थ में ऐसी बातों को मान्यता देने वाला कहा गया है जो अन्य में निषिद्ध हैं। इस प्रकार ऐतरेय, तैत्तिरीय तथा अन्य ब्राह्मणों में अन्य स्थानों पर मिलने वाले निषेधों को इन शब्दों में परिणत कर दिया गया है : 'तत् तद् न

आदृत्यम् । तत् तथा न कार्य्यम्' (उन उनको आदर न करना चाहिये । उसे उस प्रकार न करना चाहिये)। और पुनः ऐसे विधानों का भी उल्लेख है जो परस्पर विरोधी हैं। दूसरी आपत्ति यह है कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिये किये गये ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों का कोई फल उपलब्ध होते नहीं देखा गया; जब कि भोजन करने के बाद ऐसा नहीं हो सकता कि तृप्ति का अनुभव न हो (ज्योतिष्टोमादिष्व् अस्य् अनुष्ठानानन्तरम् एव च स्वर्गादि-फलं न उपलभ्यते। न हि भोजनानन्तरं तृप्तेर् अनुपलम्भोऽस्ति।)। इन आपत्तियों में से प्रथम का यह उत्तर दिया गया है कि परस्पर विरोधी विधि-निषेध क्रमशः विभिन्न शाखाओं के लोगों के लिये व्यवहृत हुये हैं। जिस प्रकार किसी एक आश्रम के व्यक्ति के लिये निषिद्ध बात दूसरे के लिये स्वीकृत हो सकती है, उसी प्रकार पुरुष-भेद के कारण ही विधियों का प्रामाण्य-अप्रामाण्य व्यवस्थित है : (तथा जर्त्तिलादि-विधिर् अत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचित् शाखान्तरे भवेद् इति चेत्। भवतु नाम प्रामाण्यम् अपि तच्-छाखाध्यायिनम् प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धम् अपि परान्न-भोजनम् आश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्-वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधि-निषेधौ पुरुष-भेदेन व्यव-स्थापनीयौ यथा मन्त्रेषु पाठ-भेदः), इसी कारण ऐसा कथन है कि विभिन्न शाखाओं के लोग मंत्रों में पाठभेद ग्रहण करते हैं। जहाँ तक अज्ञात विषयों से सम्बद्ध बातों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में यह आपत्ति की गई है कि वह परस्पर विरोधी हैं—जैसे ऐतरेयों का कथन कि 'आत्मा वै इदम् एकः एव अग्रे आसीत्' (आरम्भ में केवल एकमात्र यही आत्मा था) और तैत्तिरीय का यह कथन कि 'असद् वै इदम् अग्रे आसीत्' (आरम्भ में यह असत् था), परस्पर विरोधी हैं—इसके सम्बन्ध में यह उत्तर दिया गया है कि इसका निर्धारण एक सूत्र[७२] विशेष के आधार पर इस रूप में करना चाहिये कि यहाँ असत् का अर्थ 'शून्य' नहीं वरन् 'अव्यक्तावस्था' है। (·· इति सूत्रे तैत्तिरीय-गत-वाक्यस्य असच्छब्दस्य न शून्य-परत्वं किन्त्व् अव्यक्तावस्था-परत्वम् इति निर्णीतम्)। अतः सायण ने अपनी भूमिका के अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि सम्पूर्ण वेद का प्रमाणत्व सिद्ध है।

२—दूसरा स्थल जो मैं यहाँ उद्धृत करूँगा वह तैत्तिरीय यजुर्वेद पर

---

[७२] ब्रह्मसूत्र २.१, १७ का तात्पर्य प्रतीत होता है।

माधव आचार्य के वेदार्थप्रकाश से लिया गया है। माधव सायण के भ्राता[७३] और ईसा की १४ वीं शताब्दी में हुये थे।

ननु कोऽयं वेदो नाम के वा अस्य विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकारिणः कथं वा तस्य प्रामाण्यम्। न खल्व् एतस्मिन् सर्वस्मिन्न् असति वेदो-व्याख्यान-योग्यो भवति। अत्र उच्यते। इष्ट-प्राप्त्य्-अनिष्ट-परिहार-योर्-अलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। अलौकिक-पदेन प्रत्यक्षानुमाने व्यावर्त्येते। अनुभूयमानस्य स्रक्-चन्दन-वनितादेर् इष्ट-प्राप्ति-हेतुत्वम् औषध-सेवादेर् अनिष्ट-परिहार हेतुत्वं च प्रत्यक्ष-सिद्धम्। स्वेनानुभविष्यमाणस्य पुरुषान्तर-गतस्य च तथात्वम् अनुमानगम्यम्। "एवं तर्हि भावि-जन्म-गत सुखादिकम् अनुमान-गम्यम्" इति चेत्। न। तद्-विशेषस्य अनवगमात्। न खलु ज्योतिष्टोमादिर् इष्ट-प्राप्ति-हेतुः कलञ्ज-भक्षण-वर्जनादिर् अनिष्ट-परिहार-हेतुर् इत्य् अमुम् अर्थम् वेद-व्यतिरेकेण अनुमान-सहस्रेणापि तार्किक-शिरोमणिर् अप्य् अस्यावगन्तुं शक्नोति। तस्माद् अलौकिकोपाय-बोधको वेदः इति लक्षणस्य न अतिव्याप्तं। अत एवोक्तम्। "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस् तूपायो न बुध्यते। एतं विन्दन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता" इति। स एव उपायो वेदस्य विषयः। तद्-बोधः एव प्रयोजनम्। तद्-बोधार्थी च अधिकारी। तेन सह उपकार्य्योपकारक-भावः सम्बन्धः। ननु "एवं सति स्त्री-शूद्र-सहिताः सर्वे वेदाधिकरिणः स्युर् 'इष्टम् मे स्याद् अनिष्टम् मा भूद्' इति आशिषः सार्वजनीनत्वात्"। मैवम्। स्त्री-शूद्रयोः सत्य् उपाये बोधार्थित्वे हेत्व्-अन्तरेण वेदाधिकारस्य प्रतिबद्धत्वात्। उपनीतस्य एव अध्ययनाधिकारम् ब्रुवत् शास्त्रम् अनुपनीतयोः स्त्री-शूद्रयोर् वेदाध्ययनम् अनिष्ट-प्राप्ति-हेतुर् इति बोधयति। कथं तर्हि तयोस् तद्-उपायावगमः। पुराणादिभिर् इति ब्रूमः। अत एवोक्तम्। 'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति-गोचरा। इति भारतम् आख्यानम् मुनिना कृपया कृतम्' (भागवतपुराण १. ४, २५)। इति। तस्माद् उपनीतैर् एव त्रैवर्णिकैर् वेदस्य सम्बन्धः। तत्-प्रामाण्यं तु बोधकत्वात् स्वतः

---

[७३] यह दोनो भ्राता, जो राज्य-मंत्री थे, वास्तव मे उन कृतियो के लेखक थे अथवा नही जो इनके नाम से प्रचलित हैं, अथवा ये कृतियाँ इनके आश्रय मे रहने वाले पण्डितो द्वारा प्रणीत किन्तु इन प्रतिपालको के नाम से प्रचलित हुई या नहीं, इन विषयो के सम्बन्ध मे मैं यहाँ कोई निर्णय करने का प्रयास नही करूँगा।

एव सिद्धम्। पौरुषेय-वाक्यं तु बोधकम् अपि सत् पुरुष-गत-भ्रान्ति-मूलत्व-सम्भावनया तत्-परिहाराय मूल-प्रमाणम् अपेक्षते न तु वेदः। तस्य नित्यत्वेन वक्तृ-दोष-शङ्कानुदयात्। ··· ननु वेदोऽपि कालिदासादि-वाक्य-वत् पौरुषेयः एव ब्रह्म-कार्य्यत्व-श्रवणात्। "ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत" इति श्रुतेः। अत एव बादरायणः (१. १, ३) "शास्त्र योनित्वाद्" इति सूत्रेण ब्रह्मणो वेद-कारणत्वम् अवोचत्। नैवम्। श्रुति-स्मृतिभ्यां नित्यत्वावगमात्। 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋग्वेद ८. ६४, ६) इति श्रुतेः। "अनादि-निधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा" इति स्मृतेश् च। बादरायणोऽपि देवताधिकरणे सूत्रयामास (१. ३, २९) 'अत एव च नित्यत्वम्" इति। तर्हि "परस्पर-विरोधः" इति चेत्। न। नित्यत्वस्य व्यावहारिकत्वात्। सृष्टेर् ऊर्ध्वं संहारात् पूर्वम् व्यवहार-कालस् तस्मिन् उत्पत्ति-विनाशादर्शनात्। कालाकाशादयो यथा नित्याः एवं वेदोऽपि व्यवहार-काले कालिदासादि-वाक्य-वत् पुरुष-विरचितत्वाभावाद् नित्यः आदि-स्रष्टौ तु कालाकाशादि-वद् एव ब्रह्मणः सकाशाद् वेदोत्पत्तिर् आम्नायते। अतो विषय-भेदाद् न परस्पर-विरोधः। ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृ-दोषाभावात् स्वतस् सिद्धम् प्रामाण्य तद्-अवस्थम्। तस्मात् लक्षण-प्रमाण-सद्भावाद् विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकारि-सद्भावात प्रामाण्यस्य सुस्थत्वाच् च वेदो व्याख्यातव्य. एव।

"अब, कुछ लोग ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यह वेद क्या है, अथवा इसका विषय-वस्तु, इसका उपयोग और इसका सम्बन्ध क्या है; अथवा कौन से लोग इसके अध्ययन के अधिकारी हैं? और यह किस प्रकार प्रमाण है? क्योंकि इन प्रश्नों के अभाव में वेद व्याख्यान-योग्य नहीं कहा जा सकता। मेरा उत्तर है: जो ग्रन्थ इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के अलौकिक उपायों का ज्ञान कराता है (वेदयति) उसे वेद कहते हैं। अलौकिक शब्द के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अनुमान सम्मिलित नहीं हैं। इन्द्रिय-गम्य वस्तुयें, जैसे पुष्पहार, चन्दन और स्त्रियाँ इष्ट-प्राप्ति के कारण हैं, और यह कि ओषधियाँ तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुयें अनिष्ट-परिहारक हैं, ऐसा अनुभव के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है। और हम अनुमान द्वारा यह अनुभव कर सकते हैं कि इन्हीं परिणामों को हम भविष्य में भी अनुभव करेंगे, और यह कि अन्य व्यक्ति भी इसका अनुभव करते होंगे। अब यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'क्या अनुमान द्वारा भावी-जन्म के सुखों को भी जाना जा सकता है' तो मैं इसका यह उत्तर देता हूँ कि ऐसा नहीं है, क्योंकि हम उसकी

विशेषता को नहीं जान सकते। यहाँ तक कि तर्क शिरोमणि भी वेदों की सहायता के बिना अपने सहस्र अनुमानों के द्वारा इस तथ्य को नहीं जान सकते कि ज्योतिष्टोम तथा अन्य यज्ञ इष्ट-प्राप्ति के साधन हैं, तथा मादक द्रव्यों[७४] के भक्षण का निषेध अनिष्ट-परिहारक है। इस प्रकार यह कहना कि वेद अलौकिक उपायों के बोधक हैं, वेद की अतिव्याप्ति नहीं करता। इसीलिये यह कहा गया है कि 'मनुष्य गण वेद द्वारा उन उपायों को जान सकते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा नहीं जाने जा सकते, और यही वेद की विशेषता है'। अतः यह उपाय ही वेद के विषय हैं; इनका बोध कराना इसका प्रयोजन है; जो इसका बोध करना चाहता है वही इसका अधिकारी है; और ऐसे अधिकारी के साथ वेद का वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि उपकारी-का उपकृत होने वाले व्यक्ति के साथ।

'किन्तु यदि ऐसी स्थिति है तो यह कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ और शूद्रों सहित सभी व्यक्ति वेद के अधिकारी हो सकते हैं, क्योंकि इष्ट प्राप्ति की और अनिष्ट से दूर रहने की इच्छा समस्त व्यक्तियों में होती है। किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यद्यपि उपाय भी हैं और स्त्रियाँ तथा शूद्र उसको जानने के इच्छुक भी हैं, तथापि वेदाधिकार-सम्बन्धी उन पर प्रतिबन्ध का अन्य कारण है। जिन शास्त्रों का ऐसा कथन है कि जिन लोगों का उपनयन संस्कार हो चुका है वे ही वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, वही यह भी कहते हैं कि उपनयन संस्कार से विहीन स्त्रियों और शूद्रों के लिये वेदाध्ययन अनिष्टकर है। तब इन दोनों वर्ग के लोग भावी सुख के उपायों से किस प्रकार अवगत हों? हम यह उत्तर देते हैं कि पुराणों तथा अन्य ऐसे ही ग्रन्थों से ये लोग भावी सुख प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि 'वेदत्रयी का स्त्रियों, शूद्रों और पतित द्विजन्माओं को श्रवण नहीं करना चाहिये, इसीलिये इन पर कृपा करके मुनि ने महाभारत आख्यान की रचना की है।'[७५] इसलिये वेद का उपनीत तीन उच्च वर्णों के लोगों के साथ ही सम्बन्ध है।

---

[७४] 'कलञ्ज-भक्षणम्' का भागवत पुराण १०. ३३, २८ के भाष्य मे उल्लेख है। कुसुमाञ्जलि के अपने अनुवाद के पृष्ठ ८१ के नोट मे प्रो० केवेल का यह कथन है 'कुछ लोगो का विचार है कि विष-युक्त बाण से मारे गये मृग-मांस को 'कलञ्ज' कहते है, जब कि कुछ अन्य लोग इसे भाग अथवा एक प्रकार का अरिष्ट मानते हैं। देखिये रघुनन्दन का एकादशी-तत्व।'

[७५] देखिये ऊपर पृष्ठ २८ पर उद्धृत भागवत पुराण का स्थल।

'अतः, इस प्रकार ज्ञान के बोध कराने के तत्व द्वारा वेद का प्रमाणत्व स्वय सिद्ध है, क्योंकि यद्यपि पौरुपेय वाक्य भी बोधक होते हैं तथापि सत्पुरुषों की भ्रान्ति मूलक सम्भावनाओं के परिहार के लिये मूल प्रमाणों की अपेक्षा होती है। किन्तु वेद की दशा में ऐसा नहीं है, क्योंकि नित्यत्व के कारण इसके वक्ता में किसी प्रकार के दोष की शङ्का करना असम्भव है।...

"फिर भी यह सन्देह हो सकता है कि वेद भी कालिदास, आदि, के वाक्यों के समान पौरुपेय हैं,[७६] क्योंकि यह श्रुति-वाक्य वेद को ब्रह्मा की कृति बताता है : 'ऋक् और साम, तथा छन्द उनसे उत्पन्न हुये; उनसे ही यजुस् की उत्पत्ति हुई',[७७] और जिसके कारण ही बादरायण ने 'शास्त्रयोनित्वाद्' (यतः वही शास्त्रों के स्रोत हैं) सूत्र[७८] में ब्रह्मा को वेद का कारण कहा है। किन्तु यह सन्देह निराधार है, क्योंकि वेद के नित्यत्व की स्वयं वेद के द्वारा ही 'वाचा विरूप नित्यया'[७९] (हे विरूप ! नित्य वाणी के द्वारा) मंत्र में और स्मृति द्वारा 'अनादि निधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा'[८०] (स्वयम्भू ने आदि-अन्त रहित नित्य वाणी का उच्चारण किया) श्लोक में घोषणा की गई है। देवताधिकरण (ब्रह्मसूत्र १ ३, २९) में बादरायण ने यह सूत्र लिखा है : 'अत एव च नित्यत्वम्' (इसलिये इसका नित्यत्व मानना चाहिये)। यदि यह आपत्ति की जाय कि उनकी यह उक्तियाँ परस्पर विरोधी

---

[७६] यहाँ पौरुपेय शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

[७७] ऋग्वेद १०. ९०, ९ जो कि प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग मे भी उद्धृत किया जा चुका है।

[७८] ब्रह्मसूत्र १. १, ३ (वेदान्तसूत्र के डा० वैलेन्टाइन के संस्करण मे पृष्ठ ७)।

[७९] यह शब्द ऋग्वेद ८ ६४, ६ से लिये गये हैं, : 'तस्मै नूनम् अभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।' अर्थात् 'हे विरूप ! कामनाओ के वर्षक और वाणी द्वारा सन्तुष्ट होने वाले अग्नि की नित्य वाणी द्वारा स्तुति करो।' यहाँ 'नित्यया' शब्द से 'सतत' के अतिरिक्त कुछ और अधिक अर्थ नही है यद्यपि मैंने इसका 'नित्य' अथवा 'चिरन्तन' अनुवाद किया है, क्योकि सूक्त के प्रणेता का आशय व्यक्त करने के लिये यही आवश्यक है। फिर भी, कोलब्रुक (मि० ए०, १ ३०६) ने इसका 'अनवरत' अनुवाद किया है। मैं इस मंत्र को पुन. उद्धृत करते हुये आगे और अधिक व्याख्या करूँगा।

[८०] यह पंक्ति महाभारत शान्तिपर्व (२३२, २४–२६) से ली गई हैं जो ऊपर पृष्ठ १९ पर उद्धृत भी की जा चुकी हैं।

हैं तो मैं उत्तर दूँगा कि ऐसा नहीं है। क्योंकि जिन स्थलों पर वेद के लिये नित्यत्व शब्द व्यवहृत हुआ है, वहाँ इससे व्यावहारिक काल का तात्पर्य है। यह सृष्टि के आरम्भ से लेकर संहार के पूर्व तक का समय है जिस अवधि में किसी उत्पत्ति और विनाश का दर्शन नहीं होता। जिस प्रकार काल और अकाशादि नित्य हैं,[८१] उसी प्रकार वेद भी नित्य हैं, क्योंकि व्यावहारिक काल की अवधि में इनकी किसी पुरुष द्वारा उस प्रकार रचना नहीं होती जिस प्रकार कालिदास, आदि, के वाक्यों की होती है।[८२] फिर भी, ऐसा कथन है कि काल और आकाश की भाँति आदि सृष्टि में वेद की भी ब्रह्मा से सृष्टि हुई। अतः उक्त दो भिन्न स्थलों में कोई विरोध नही है, क्योंकि दोनों में विषय का अन्तर है। और यतः ब्रह्मा निर्दोष हैं, अतः वेद-वक्ता का निर्दोष होना भी स्वतः सिद्ध है; और इसीलिये वेद में प्रमाण की स्थिति स्वयं स्थित है। अतः यह देखते हुये कि वेद में लक्षण, प्रमाण के होने, और विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, तथा अधिकारी के होने, और साथ ही साथ, इसके प्रमाणत्व की स्थापना होने के कारण, यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद व्याख्या के योग्य हैं।"

खण्ड ८—वेदों के नित्यत्व और प्रमाणत्व की पुष्टि में मीमांसकों और वेदान्तियों के तर्क।

अब मैं कुछ उन तर्कों का उल्लेख करूँगा जिनके द्वारा पूर्व मीमांसा और वेदान्त-सूत्रों के प्रणेताओं तथा भाष्यकारों ने उस सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये प्रयोग किया है जिसके अनुसार, जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ भारतीय लेखक यह मानते हैं कि वेद नित्य और निर्दोष हैं।

१—**पूर्व मीमांसा**—मै पूर्व मीमांसा से निम्नलिखित स्थल[८३] उद्धृत कर रहा हूँ जो इसी विषय से सम्बन्धित है। भाष्यकार ने इस विषय को इस प्रकार आरम्भ किया है :

---

[८१] आकाश के नित्यत्व और उसकी सृष्टि से सम्बन्धित स्थलो को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत किया गया है।

[८२] सायण ने अपनी ऋग्वेदभाष्यभूमिका के आरम्भिक पृष्ठो मे इस विषय की विवेचना की है। इस स्थल को मै आगे उद्धृत करूँगा।

[८३] मीमासा के स्थल डा० बैलेन्टाइन के संस्करण तथा अनुवाद से उद्धृत कर रहा हूँ।

शब्दार्थयोर् उत्पत्त्य्-अनन्तरम् पुरुषेण कल्पित-सङ्केतात्मक-सम्बन्धस्य कल्पितत्वात् पुरुष-कल्पित-सम्बन्ध-ज्ञानापेक्षित्वात् शब्दस्य यथा प्रत्यक्ष-ज्ञानं शुक्तिकादौ सत्यत्वम् व्यभिचरति तथा पुरुषाधीनत्वेन शब्देऽपि सत्यत्व-व्यभिचार-सम्भवात् न धर्मे चोदना प्रमाणम् इति पूर्व-पक्षे सिद्धान्तम् आह—

"शब्दों तथा उनके अर्थ से व्यक्त वस्तुओं की उत्पत्ति के अनन्तर इन दोनों के बीच पुरुष कल्पित संकेतात्मक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है, और भाषा इसी मनुष्य-कल्पित संकेतात्मक सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा रखती है, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार 'शुक्तिकादौ' (सीप) तथा अन्य ऐसे शब्दों के प्रत्यक्ष ज्ञान से चाँदी इत्यादि का भी भ्रम हो जाता है उसी प्रकार शब्द भी मानव कल्पना पर आधारित होने के कारण भ्रामक अर्थ व्यक्त कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक शब्द भी धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण नहीं हो सकते। ऐसा पूर्व पक्ष हो सकता है, जिसके उत्तर में सूत्रकार स्थापित सिद्धान्त की घोषणा करता है।"

इसके बाद मीमांसा के प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय का पाँचवाँ सूक्त आता है : औत्पत्तिकस् तु[क] शब्दस्य[ख] अर्थेन सम्बन्धस्[ग] तस्य[घ] ज्ञानम्[ङ] उपदेशो[च] व्यतिरेकश् च[छ] अर्थेऽनुपलब्धे[ज] तत्[झ] प्रमाणम् बादरायणस्य अनपेक्षत्वात्, जिसका इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है : "शब्द और उसके आशय का सम्बन्ध, दोनों ही, उत्पत्ति की दृष्टि से समसामयिक होता है। इस सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप वेद के शब्द धर्म-ज्ञान को व्यक्त करते हैं और अप्रत्यक्ष विषयों के सम्बन्ध में भी निर्दोष उपदेश देते हैं। इस प्रकार के वैदिक उपदेशों को वेदान्त सूत्र के प्रणेता बादरायण ने धर्म का प्रमाण माना है, क्योंकि ऐसा प्रमाण प्रत्यक्ष तथा अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।"

मैं नीचे भाष्यकार द्वारा सूत्र के विभिन्न शब्दों को उक्त अक्षर संकेतों के साथ उद्धृत करते हुये उन पर की गई व्याख्या के अधिकांश को नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ :

[क]औत्पत्तिकः। स्वाभाविकः। नित्यः इति यावत्। "औत्पत्तिक-(मूल) का अर्थ स्वाभाविक, संक्षेप में, नित्य है।"

[ख]शब्दस्य। नित्य-वेद-घटक-पदस्य "अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्ग-कामः" इत्यादेः। "शब्द, से ऐसे पदों का तात्पर्य है जिनसे सनातन वेद

बने हैं, जैसे 'स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिये।'"

[ग]सम्बन्ध, अर्थात् वैलेन्टाइन के अनुसार इस दिव्य इच्छा पर निर्भर यह सम्बन्ध कि अमुक शब्द को अमुक अर्थ का वाचक होना चाहिये।

[घ]अतस् तस्य धर्मस्य। "उस 'तस्य' के पहले 'अतस्' की पूर्त्ति करना चाहिय जिससे धर्म का तात्पर्य है।"

[ङ]ज्ञानम्। अत्र करणे ल्युट्। ज्ञप्तेर् यथार्थ-ज्ञानस्य करणम्। "ज्ञान शब्द का 'ल्युट्' प्रत्यय करण है', अर्थात, इसे यथार्थ ज्ञान का 'करण' मानना चाहिये।"

[च]उपदेशः। अर्थ-प्रतिपादनम्। "उपदेश, अर्थात अर्थ का प्रतिपादन।"

[छ]अव्यतिरेकः। अव्यभिचारी दृश्यते अतः। "अव्यतिरेक अर्थात जो अव्यभिचारी प्रतीत हो।"

[ज]ननु "वह्निमान् इति शब्द-श्रवणानन्तरम् प्रत्यक्षेण वह्नि दृष्ट्वा शब्दे प्रमात्व गृह्णाति इति लोके प्रसिद्धेः प्रत्यक्षादीतर-प्रमाण-सापेक्ष-त्वात् शब्दस्य स कथं धर्मे प्रमाणम् अत आह "अनुपलब्धे" इति। अनुपलब्धे प्रत्यक्षादि-प्रमाणैर् अज्ञातेऽर्थे। "यतः यह लोक-प्रसिद्ध है कि जो 'अग्निमय पर्वत' शब्दों को सुनने के अनन्तर अग्नि का प्रत्यक्ष दर्शन करता है वह इन शब्दों के प्रमाणत्व को ग्रहण कर लेता है; अतः यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणों पर आधारित यह शब्द स्वय किस प्रकार धर्म के प्रमाण हो सकते हैं? इस सम्बन्ध में 'अनुपलब्धे' (अदृश्य विषयों से सम्बद्ध) शब्द को भी सम्मिलित किया गया है, जिनसे 'प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ वाले विषयों का' तात्पर्य है।"

[झ]तत्। विधि-घटित-वाक्यं धर्मे प्रमाणम् बादरायणाचार्यस्य सम्मतम्। अयम् आशयः। 'पर्वतो वह्निमान्' इति दोषवत्-पुरुष-प्रयुक्तम् वाक्यम् अर्थं व्यभिचरति। अतः प्रामाण्य-निश्चये प्रत्यक्षादिकम् अपेक्षते। तथाऽग्निहोत्र जुहोति इति वाक्यम् काल-त्रयेऽप्य् अर्थं न व्यभिचरति। अत इतर-निरपेक्षं धर्मे प्रमाणम्। "इसे, अर्थात् नियमों का विधान करने वाला एक (वैदिक) वाक्य, को बादरायण ने भी धर्म का प्रमाण माना है। इसका आशय : 'अग्निमय पर्वत' का जब दूषित इन्द्रिय (अर्थात् जिसकी चक्षु-रिन्द्रिय दूषित हो) वाला व्यक्ति प्रयोग करता है तो वह वास्तविक अर्थ से व्यभिचरित हो जाता है। अतः प्रमाण के निश्चय के लिये प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा होती है। किन्तु अग्निहोत्र करने से सम्बद्ध वैदिक वाक्य भूत,

वर्त्तमान, और भविष्य, किसी भी काल में अर्थ का व्यभिचार नहीं करता। अतः वह किसी भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा किये बिना ही धर्म का प्रमाण होता है।"

इसके बाद भाष्यकार यह विचार व्यक्त करता है : पूर्व-सूत्रे शब्दार्थयोस् सम्बन्धो नित्यः इति उक्तम्। तच् च शब्द-नित्यत्वाधीनम् इति तत् सिसाधयिषुर् आदौ शब्दनित्यत्व-वादि-मतम् पूर्व-पक्षम् उपादयति। गत सूक्त में यह कहा गया था कि शब्द और उनके अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। अब यह सिद्ध करने के लिये कि सम्बन्धों का नित्यत्व शब्दों के नित्यत्व पर आधारित है, वह पूर्व-पक्ष के उल्लेख द्वारा आरम्भ करते हैं।"

तदनुसार उन छः बाद के सूत्रों में इस पक्ष की स्थापना की गई है जिनका मैं नीचे भाष्यों के मूल उद्धरणों के बिनाही अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ। पाठक इन्हें बैलेन्टाइन के उक्त संस्करण में देख सकते हैं।

सूत्र ६—कर्म एके तत्र दर्शनात्। "कुछ लोग, अर्थात न्याय दर्शन के अनुयायी, शब्द को कार्य मानते हैं क्योंकि शब्द में प्रयत्न पाया जाता है। यदि शब्द नित्य होता तो उसकी यत्न से सिद्धि न होती, अर्थात् शब्द अनित्य है।"

सूत्र ७—अस्थानात्। "अपने न ठहरने वाले गुण के कारण शब्द नित्य नहीं है, अर्थात् उच्चारण के अनन्तर वह वर्त्तमान नहीं रह जाता।"

सूत्र ८—करोति-शब्दात्। "यतः हम इसके सन्दर्भ में 'शब्द करना' व्याहृति का प्रयोग करते हैं, अर्थात् 'अमुक व्यक्ति ने शब्द किया' हम ऐसा कहते हैं।"

सूत्र ९—सत्त्वान्तरे यौगपद्यात्। "एक समय में ही अनेक व्यक्ति शब्द का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, और जिसके कारण शब्द इस तथा अन्य देशस्थ पुरुषों के ज्ञानेन्द्रियों के तात्कालिक सम्पर्क में आता है, किन्तु यदि यह नित्य और एक होता तो ऐसी स्थिति न होती।"

सूत्र १०—प्रकृति-विकृत्योश् च। "शब्द के प्रकृत और विकृत दोनों ही रूप होते हैं; जैसे कि उदाहरण के लिये, 'दधि अत्र', शब्द 'दध्य् अत्र' के रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं जिनमें 'इ' के स्थान पर 'य्' हो जाता है। अतः कोई भी वस्तु जो परिवर्त्तित हो सकती है नित्य नहीं होती।"

सूत्र ११—वृद्धिश् च कर्तृ-भूम्नाऽस्य "यतः शब्द बोलने वालों की संख्या के द्वारा भी शब्द की वृद्धि होती है, अतः मीमांसकों का यह मत कि

मनुष्य के प्रयास द्वारा शब्द का सृजन नहीं होता वरन् केवल उच्चारण होता है, त्रुटिपूर्ण है क्योंकि एक सहस्र उच्चारक भी उच्चरित शब्द की उसी प्रकार वृद्धि नहीं कर सकते जिस प्रकार एक सहस्र दीपक भी किसी पात्र को और बड़ा नहीं बना सकते।"

मीमांसकों के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि उच्चारक व्यक्ति शब्द को सृजित नहीं वरन् प्रगट मात्र करता है, उक्त आपत्तियों का अब अगले सूत्रों में उत्तर दिया गया है :

सूत्र १२—समं तु तत्र दर्शनम्। "किन्तु जो शब्द को उद्भूत मानते हैं और जो उसे केवल प्रयत्न द्वारा प्रकट किया गया मानते हैं, उन दोनों मतवादियों के अनुसार शब्द का दर्शन केवल क्षणमात्र के लिये होता है। किन्तु इन दोनों मतों में से शब्द को प्रगट किया गया माननेवाले मत को अगले सूत्र में बताया गया है।"

सूत्र १३—सतः परम् अदर्शनं विषयानागमात्। "वास्तव में शब्द के सदैव वर्त्तमान होते हुये भी उसके किसी समय विशेष पर अदर्शन का कारण उसके अभिव्यञ्जक अथवा उच्चारण-कर्त्ता का न होना ही है। शब्द नित्य है, क्योंकि, उदाहरण के लिये, हम 'क' अक्षर को इसलिये पहचान लेते हैं कि यह उसी शब्द को व्यक्त करता है जिसे हम सदैव सुनते हैं, और इसे प्रत्येक अवसर पर वही शब्द मानने की समस्या के समाधान की यही सरलतम विधि है। शब्द की उपलब्धि में स्थिर आकाश के बाधक तत्त्व वक्ता के मुख से निकलने वाले वायु के सम्बन्ध और विच्छेद के कारण समाप्त हो जाते हैं, और इस प्रकार शब्द (जो सदैव वर्त्तमान किन्तु अनुपलब्ध रहता है) पुनः उपलब्ध हो जाता है।[८४] यह उक्त सातवें सूत्र के पूर्वपक्ष का उत्तर है।"

आठवें सूत्र के पूर्वपक्ष का उत्तर इस प्रकार है :

सूत्र १४—प्रयोगस्य परम्। "शब्द 'करने' से शब्दों के उच्चारण एवं व्यवहार का तात्पर्य है।"

---

[८४] "शब्द वर्त्तमान होते हुए भी कभी-कभी अदृश्य होता है, अर्थात् श्रोता उसका श्रवण नही कर पाता (श्रोता के मुख से उच्चरित शब्द द्वारा उत्पन्न वायु-तरंगे कान के खोखले के भीतर स्थित शान्त वायु को उद्वेलित करके ध्वनि सवेदना उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार के उद्वेलन के अभाव मे, वर्त्तमान होते हुये भी शब्द अदृश्य अथवा विना सुना रह जाता है)"

—कोलब्रुक, १, ३०६।

नवें सूत्र के पूर्वपक्ष का इस सूत्र में उत्तर दिया गया है :

सूत्र १५—आदित्य-वद् यौगपद्यम्। "एक शब्द का एक साथ ही अनेक व्यक्तियों द्वारा सुना जाना वैसे ही है जैसे एक सूर्य को एक समय में अनेक व्यक्तियों द्वारा देखना। सूर्य के समान, शब्द भी सूक्ष्म नहीं वरन् एक विस्तृत पदार्थ है, अतः एक दूसरे से दूर होते हुए भी विभिन्न व्यक्तियों को उसकी उपलब्धि होना सम्भव है।"

दसवें सूत्र का यह उत्तर है :

सूत्र १६—वर्णान्तरम् अविकारः। "जहाँ 'इ' के स्थान पर 'य्' होता है वह विकार के कारण नहीं है; यहाँ 'य' से एक अन्य शब्द की ही प्रतीति है। अतः शब्द में विकार नहीं होता।"

ग्यारहवें सूत्र का यह उत्तर है :

सूत्र १७—नाद-वृद्धिः परा।[८५] "अधिक वक्ताओं के कारण नाद की वृद्धि होती है शब्द की नहीं। नाद शब्द से उन वायु-तरंगो के सम्बन्ध और विच्छेद का तात्पर्य है जो विभिन्न दिशा से श्रोता के कानों में एक साथ ही प्रवेश करतीं हैं; और इसी कारण नाद की वृद्धि होती है।"

अब नीचे के कुछ सूत्रों में मीमांसकों के समर्थन के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किये गये हैं :

सूत्र १८—नित्यस् तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्। "शब्द को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि अन्य व्यक्तियों को अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ही इसका उच्चारण किया जाता है। यदि यह नित्य न हो तो यह श्रोता द्वारा आशय ग्रहण कर लेने तक वर्त्तमान नहीं रहेगा और इस प्रकार कारण के अस्तित्व के समाप्त हो जाने से श्रोता को शब्द के आशय का ज्ञान नहीं हो सकेगा।"

सूत्र १९—सर्वत्र यौगपद्यात्। "शब्द नित्य है क्योंकि इसे प्रत्येक दशा में ठीक-ठीक और सार्वभौमिक रूप से अनेक व्यक्ति एक साथ ही जान लेते हैं; और ऐसी दशा में यह कहना कि सभी व्यक्ति एक साथ ही एक त्रुटि कर बैठते हैं, अनुपयुक्त होगा।"

जब 'गो' शब्द को दस बार दुहराया जाता है तब श्रोतागण भी यही कहते हैं कि 'गो' शब्द ही दस बार दुहराया गया, और यह नहीं कहते कि दस बार 'गो' के समान शब्द का उच्चारण किया गया। अतः यह तथ्य भी शब्द के नित्यत्व का प्रमाण है।

---

[८५] विव० इ० सस्करण मे 'नाद-वृद्धि-परा' पाठ है।

सूत्र २०—संख्याभावात्। "क्योंकि अनेक बार दुहराये जाने पर भी संख्या की दृष्टि से शब्द भिन्न नहीं होता।"

सूत्र २१—अनपेक्षत्वात्। "शब्द नित्य है क्योंकि इसके विनाश की कल्पना के लिये कोई आधार नहीं है।"

"किन्तु यह कहा जा सकता है कि शब्द वायु का कार्य है; क्योंकि यह उसके संसर्ग से ही उत्पन्न होता है (देखिये सूत्र १७), और इसीलिये शिक्षा (उच्चारण की व्याख्या करने वाला वेदाङ्ग) का भी यह कथन है कि 'वायु शब्द की स्थिति में आ जाता है'। इस प्रकार वायु से उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है।" इस कठिनाई का अगले सूत्र में उत्तर दिया गया है।

सूत्र २२—प्रख्याभावाच् च योग्यस्य। "शब्द वायु का कार्य नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो श्रवणेन्द्रिय से शब्द में भी वायु के अवयवों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता किन्तु ऐसा नहीं होता और श्रवणेन्द्रिय केवल सूक्ष्म शब्द को ही ग्रहण कर पाती है।"

सूत्र २३—लिङ्ग-दर्शनाच् च। "और शब्दों के नित्यत्व की इस वेद-वाक्य से भी स्थापना होती है: 'हे विरूप! नित्यवाणी से'। यद्यपि इस वाक्य का उद्देश्य भिन्न है तथापि यह भाषा के नित्यत्व को व्यक्त करता है, अतः शब्द नित्य है।"

"किन्तु, यद्यपि शब्द, तथा शब्द और उनके आशय के सम्बन्ध नित्य हैं, तथापि यह आपत्ति—जैसा कि वाद के सूत्र में है—की जा सकती है कि वाक्य के रूप में दिया गया आदेश तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य का प्रमाण नहीं है।"

सूत्र २४—उत्पत्तौ वा रचनाः स्युर् अर्थस्य अ-तन्-निमित्तत्वात्। "यद्यपि शब्द और उनके शब्दार्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध हो सकता है, तथापि वाक्य तथा उनके वाक्यार्थ के बीच का सम्बन्ध मिथ्या, मानव-कल्पना द्वारा निर्धारित, और शब्दों के अर्थों की अपेक्षा वाक्यार्थ से ही उत्पन्न होता है। वाक्यों का उनके वाक्यार्थों के साथ सम्बन्ध (शब्दों और शब्दार्थों के सम्बन्ध की भाँति) निहित शक्ति द्वारा व्युत्पन्न नहीं वरन् मनुष्य द्वारा निर्धारित होता है; अतः ऐसा सम्बन्ध कर्त्तव्य के लिये किस प्रकार पर्याप्त प्रमाण व्यक्त कर सकता है?"

इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है:

सूत्र २५—तद्-भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्-निमित्त-त्वात्। "प्रत्येक वैदिक मंत्र में जो पद आते हैं उनमें क्रिया भी होती है। अतः किसी वाक्य के आशय की उपलब्धि (जैसी कि पहले नहीं रही होती)

क्रिया-सहित शब्दों के समूह से व्यक्त होती है। किसी मंत्र का उस समय तक ज्ञान नहीं हो पाता जब तक कि हम उसको निर्मित करने वाले प्रत्येक शब्द को समझ नहीं लेते; और इस प्रकार किसी वाक्य के अर्थ का बोध, उसमें आनेवाले प्रत्येक शब्द के अर्थ के परस्पर सम्बन्ध के बोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"

सूत्र २६—लोके सन्नियमात् प्रयोग-सन्निकर्षः स्यात्। "जिस प्रकार लौकिक भाषा में शब्दों का प्रयोग ज्ञात होता है, उसी प्रकार वेदों में भी वह उसी बोध-गम्य आशय को व्यक्त करते हैं जो परम्परा से चले आ रहे होते हैं।"

अब निम्न सूत्रों में सूत्रकार वेदों के नित्यत्व और प्रमाणत्व सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध आपत्तियों का उल्लेख करते हुये उनका समाधान करने का प्रयास करता है।

सूत्र २७—वेदांश् च एके सन्निकर्षम् पुरुषाख्याः। "कुछ लोग (न्याय-दर्शन के अनुयायी) वेदों की उत्पत्ति अर्वाचीन, अर्थात अनित्य मानते हैं, क्योंकि उनके कुछ भागों के सृजन के सम्बन्ध में काठक और कौथुम जैसे पुरुषों के नाम संयुक्त किये गये है।"

यह तथा वाद के कुछ सूत्र सायण द्वारा अपने ऋग्वेद के भाष्य में उद्धृत किये गये हैं। प्रस्तुत सूत्र की उनकी व्याख्या इस प्रकार है :

यथा रघुवंशादयः इदानीन्तनास् तथा वेदाः अपि। न तु वेदाः अनादयः, अतः एव वेद-कर्त्तृत्वेन पुरुषाः आख्यायन्ते। वैयासिकम् भारत वाल्मीकीयं रामायणम् इत्य् अत्र यथा भारतादि-कर्त्तृत्वेन व्यासादयः आख्यायन्ते तथा काठकां कौथुमं तैत्तिरीयकम् इत्य् एवं तत्-तद्-वेद-शाखा-कर्त्तृत्वेन कठादीनाम् आख्यातत्वात् पौरुषेयाः। ननु नित्यानां एव वेदानाम् उपाध्याय-वत् सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकत्वेन काठकादि-सामाख्या स्याद् इत्य् आशङ्क्य युक्त्य्-अन्तरं सूत्रयति।... का तर्हि काठकाद्य्-आख्यायिकायाः गतिर् इत्य् आशङ्क्य सम्प्रदाय प्रवर्त्तनात् सा इयम् उपपद्यते।

"कुछ लोगों का कथन है कि जिस प्रकार रघुवंश इत्यादि आधुनिक हैं उसी प्रकार वेद भी हैं; और यह कि वेद नित्य नहीं हैं, इसीलिये वेदों के रचयिताओं के रूप में कुछ व्यक्तियों का उल्लेख है। जिस प्रकार महाभारत की, जिसे वैयासिक (व्यास द्वारा रचित) कहा गया है, और रामायण की जिसे वाल्मीकीय (वाल्मीकि द्वारा रचित) कहा गया है, दशाओं में क्रमशः व्यास और वाल्मीकि को इन महाकाव्यों का रचयिता कहा गया है, उसी

प्रकार कठ, कुथुमि और तित्तिरि को भी वेदों की उन विशेष शाखाओं का रचयिता कहा गया है, जिन्हें क्रमशः काठक, कौथुम, और तैत्तिरीय कहते हैं; अतः वेदों के यह भाग मानव-रचित हैं। यह बताने के पश्चात् कि नित्य होते हुये भी वेदों के साथ काठक इत्यादि के नाम इसलिये संयुक्त किये गये हैं कि आचार्यों के रूप में कठ तथा अन्य लोगों ने वेदों को अपनी शिष्य-परम्परा द्वारा हम लोगों के लिये उपलब्ध किया है; वह बाद के सूत्र में एक अन्य आपत्ति का उल्लेख करते हैं।"

यहाँ उद्धृत इस व्याख्या को निम्नलिखित सूत्रों में से एक पर टिप्पणी करते हुये इन शब्दों में स्वीकार कर लिया गया है: "काठक इत्यादि नामों के सन्दर्भ से वास्तव में क्या तात्पर्य है? इसकी उत्पत्ति इस स्थिति द्वारा प्रमाणित होती है कि कठ इत्यादि ने वेदों का प्रवर्त्तन किया।" अब मैं अगले सूत्र का उल्लेख करूँगा:

सूत्र २८—अनित्य-दर्शनाच् च। "यह भी आपत्ति की गई है कि वेद नित्य नहीं हो सकते क्योंकि हम ऐसा देखते हैं कि जन्म-मृत्यु धर्मवाले मनुष्यों के नाम का भी वेद में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वेद में ऐसे कथन हैं 'बबर प्रावहणि ने इच्छा की', 'कुसुरुविन्द औद्दालकि ने इच्छा की', इत्यादि। अब वेद के उन वाक्यों का जिनमें इन लोगों का उल्लेख है, इन व्यक्तियों के जन्म के पूर्व अस्तित्व नहीं रहा हो सकता। अतः यह स्पष्ट है कि इन वाक्यों का कभी न कभी आरम्भ हुआ होगा, अतः यह अनित्य हैं" ('बबरः प्रावहणिर् अकामयत' 'कुसुरुविन्दः औद्दालकिर अकामयत' इत्यादि (वाक्यानां ?) वेदेषु दर्शनात् तेषां जननात् प्राग् इमानि वाक्यानि नासन्न् इति सादित्वाद् अनित्यत्वम् पौरुषेयत्वं च सिद्धम्)

इन आपत्तियों का निम्न सूत्रों में उत्तर दिया गया है:

सूत्र २९—उक्तं तु शब्द-पूर्वत्वम्। "किन्तु शब्दों का नित्यत्व पहले ही कहा जा चुका है, अत. वेद रूप शब्द भी नित्य हैं।"

सूत्र ३०—आख्या प्रवचनात्। "वेद के कुछ भागों के साथ कुछ व्यक्तियों के नाम सयुक्त किये जाने का कारण उन लोगों द्वारा वेद के तत्सम्बन्धी भागों का अध्ययन-आध्यापन है। इस प्रकार कठ द्वारा अध्ययन किये जाने वाले भाग को काठक कहते हैं, इत्यादि।"

सूत्र ३१—परन्तु श्रुति-सामान्य-मात्रम्। "और वेदों में आने वाले जो नाम मनुष्यों के नाम क समान प्रतीत होते हैं वह केवल शब्द सामान्य मात्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं, अर्थात् वह नाम नहीं, वरन् केवल शब्द-मात्र हैं।"

"इस प्रकार 'बबर प्रावहणि' इत्यादि शब्द किसी मनुष्य के नाम नहीं वरन् इनसे कुछ और अर्थ है। यहाँ 'प्र' 'उत्कर्ष' का द्योतक है, 'वहन' का अर्थ 'शब्द की गति' है, और 'इ कार' कर्त्ता है; अतः इस प्रकार 'प्रावहणि' शब्द, 'जो तीव्र गति से चलता है', का द्योतक है; और उस वायु के लिये व्यवहृत हुआ है जो अनादि है। पुनः, 'बबर' एक ऐसा शब्द है जो वायु के शब्द का अनुकरण करता है। अतः वेद को नित्य कहने में त्रुटि की गन्ध तक वर्त्तमान नहीं है" (यद्यपि बबरः प्रावहणिर् इत्य् अस्ति परन्तु श्रुतिः प्रावहण्य् आदि-शब्दः सामान्यम्। अन्यार्थस्यापि वाचकम्। तथा हि। "प्र" इत्य् अस्य उत्कर्षाश्रयः। "वहणः" शब्दस्य गतिः। इ-कार• कर्त्ता। तथा च उत्कृष्ट-गत्य्-आश्रयो वायु-परः। स च अनादिः। बबरः इति वायु-शब्दानुकरणम्। इति न अनुपपत्ति-गन्धोऽपि)।

३२ वें सूत्र की विवेचना करने के पूर्व में सायण के ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका से ३१ वें सूत्र की व्याख्या करने वाले कुछ और उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ जिनमें सायण ने मीमांसा सूत्रों के एक अन्य खण्ड (१.२, ३९ और बाद) की व्याख्या की है।

अनित्य-संयोगाद् मन्त्रानर्थक्यम्॥ "किं ते कृण्वन्ति कीकटेष्व्" इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपदः आम्नातः। तथा नैचशाखं नाम नगरम् प्रमगन्दो नाम राजा इत्य् एतेऽर्थाः अनित्याः आम्नाताः। तथा च सति प्राक् प्रमगन्दाद् न अयम् मन्त्रो भूत-पूर्वः इति गम्यते। ... यद् अप्य् उक्तम् प्रमगन्दाद्य्-अनित्यार्थ-संयोगाद् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्याद् इति तत्रोत्तरम् सूत्रयति। "उक्तश् चानित्य संयोगः" इति। प्रथम-पादस्य अन्तिमाधिकरणे सोऽयम् अनित्य-संयोग-दोषः उक्तः परिहृतः। तथा हि। तत्र पूर्व-पक्षे वेदानाम् पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं कालापकम् इत्य्-आदि पुरुष-सम्बन्धाभिधानं हेतुकृत्य "अनित्य-दर्शनाच् च" इति हेत्व्-अन्तरं सूत्रितम्। "बबरः प्रावाहणिर् अकामयत" इत्य् अनित्यानाम् बबरादीनाम् अर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेदः इति तस्य उत्तरं सूत्रितम् "परं तु श्रुति-सामान्य-मात्रम्" इति। तस्य अयम् अर्थः। यत् काठकादि-समाख्यानं तत् प्रवचन-निमित्तम्। यत् तु परम् बबराद्य्-अनित्य-दर्शनं तत् शब्द-सामान्य-मात्रं न तु तत्र बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः। किन्तु "बबर" इति शब्दं कुर्वन् वायुर् अभिधीयते। स च प्रावाहणिः। प्रकर्षेण वहनशीलः। एवम् अन्यत्राप्य् ऊहनीयम्।

"यह आपत्ति की गई है कि कुछ मन्त्र निरर्थक हैं, क्योंकि वह अनित्य

पार्थिव पदार्थों के साथ सम्बद्ध है। इस प्रकार 'तुम्हारी गायें कीकटों के बीच क्या कर रही हैं?' मन्त्र में कीकट नाम के एक जनपद, तथा साथ ही साथ नैचशाख नामक नगर, और प्रमगन्द नामक एक राजा का भी उल्लेख है, जो सभी अनित्य पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि प्रमगन्द नामक राजा के पहले इस मन्त्र का अस्तित्व नहीं था।' सायण ने इसका भूमिका में आगे इस प्रकार उत्तर दिया है : 'इस आपत्ति के विरुद्ध कि प्रमगन्द आदि अनित्य पदार्थों के उल्लेख के कारण मन्त्र अनादि नहीं हो सकते, इस सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया गया है : 'अनित्य पदार्थों के साथ संयोग के दोष का पहले ही परिहार किया जा चुका है।' प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में अनित्य पदार्थों के साथ संयोग के सूक्तों के इसी दोष का परिहार किया जा चुका है (देखिये ऊपर, सूत्र २८–३१)। वहाँ पूर्वपक्ष के रूप में वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध करते हुये काठक, कालापक को उद्धृत करके वेद के साथ पुरुषों का सम्बन्ध उनके पौरुषेयत्व की सिद्धि में हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। और दूसरा पौरुषेयत्व साधक हेतु इस सूत्र में प्रस्तुत है : 'यह देखा जाता है कि वेद में अनित्य पदार्थों का उल्लेख है', जैसे, 'बबर प्रावाहणि ने इच्छा की'। इस मंत्र में अनित्य पदार्थों को देखने से यह सिद्ध होता है कि इन अनित्य पदार्थों के पूर्व वेद नहीं था, अतः उसका पौरुषेय होना सिद्ध हो जाता है। इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है : 'अन्य जो नाम मिलते हैं उन्हें केवल शब्द-सामान्य मात्र ही जानना चाहिये।' इसका अर्थ यह है कि जिन काठक इत्यादि का वेद में उल्लेख मिलता है उनका कारण यह है कि कठ इत्यादि ने तत्सम्बन्धी भागों का प्रवर्त्तन किया था; और जो बबर आदि अनित्य पदार्थों का समाख्यान है उसे शब्द सामान्य मात्र समझना चाहिये। यहाँ बबर इत्यादि नामधारी किसी व्यक्ति का नहीं वरन् उस वायु का तात्पर्य है जिसे 'बबर' जैसा शब्द करने के कारण यह नाम दिया गया है। 'प्रावाहणि' से भी इसी पदार्थ का तात्पर्य है, क्योंकि इसका अर्थ 'प्रकर्ष से वहनशील' है। जहाँ किसी शब्द में अनित्य अर्थ की सम्भावना हो वहाँ इसी प्रकार नित्य अर्थ को संगत कर लेना चाहिये।"

अब मैं ३२ वें सूत्र पर आता हूँ। यह पूछा गया है कि वह वेद किस प्रकार धर्म का प्रमाण हो सकता है जिसमें ऐसी असगत और मूर्खतापूर्ण बातें मिलती हैं, जैसे "एक बूढ़ा बैल, कम्बल ओढ़े और पादुका पहने द्वार पर खड़ा मगल-गायन कर रह है। सन्तानेच्छुक एक ब्राह्मण-स्त्री यह पूछती है कि, 'हे राजा कृपया मुझे यह बताओ कि अमावस्या के दिन संसर्ग का क्या अर्थ है?'" अथवा यह कि "गायों ने इस यज्ञ को सम्पन्न किया" (ननु "जरद्गवो कम्बल-

पादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि[८८]। तम् ब्राह्मणी पृच्छति पुत्र-कामा राजन्न् अमायां लभनस्य कोऽर्थः"। इति। "गावो वै एतत् सत्त्रम् आसत" इत्यू-आदीनाम् असम्बद्ध-प्रलापानां वेदे सत्वात् कथं स धर्मे प्रमाणम्)। इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है :

सूत्र ३२—कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मण' सम्बन्धात्। "जिन स्थलों के प्रति आपत्ति की गई वह यज्ञकर्म के साथ सम्बद्ध होने के आधार पर धर्म-कृत्यों के लिये व्यवहृत हो सकते हैं।"

यतः सायण ने अपनी ऋग्वेदभाष्य भूमिका में इस सूत्र का एक भिन्न पाठ और विवेचन प्रस्तुत किया है, अतः उनकी उन टिप्पणियों को उद्धृत कर रहा हूँ जो उन्होंने इस सूत्र के पहले और बाद में की हैं :

ननु वेदे क्वचिद् एवं श्रूयते "वनस्पतयः सत्रम् आसत सर्पाः सत्रम् आसत" इति। तत्र वनस्पतीनाम् अचेतनत्वात् सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्या-रहितत्वाद् न तद्-अनुष्ठान सम्भवति। अतो "जरद्गवो गायति मद्रकाणि" इत्याद्य्-उन्मत्त-बाल-वाक्य-सदृशत्वात् केनचित् कृतो वेदः इत्य् आशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति। "कृते च अविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्" यदि ज्योतिष्टोमादि-वाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियेत् तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्ग-साधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगः न स्यात्। साध्य-साधन-भावस्य पुरुषेण ज्ञातुम् अशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोग.। "ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत" इति। न च एतत् उन्मत्त-वाक्य सदृशं लौकिक-विधि-वाक्य-वद् भाव्य-करणेतिकर्तव्यता-रूपैस् त्रिभिर् अंशैर् उपेतायाः भावनायाः अवगमात्। लोके हि "ब्राह्मणान् भोजयेद्" इति विधौ किं केन कथम् इत्य् आकाङ्क्षायां तृप्तिम् उद्दिश्य ओदनेन द्रव्येण शाक-सूपादि-परिवेषण-प्रकारेण इति यथा- उच्यते ज्योतिष्टोम-विधाव् अपि स्वर्गम् उद्दिश्य सोमेन द्रव्येण दीक्षणीयाद्य्-अङ्गोपकार-प्रकारेण इत्य् उक्ते कथम् उन्मत्त-वाक्य-सदृशम् भवेद् इति। वनस्पत्य्-आदि-सत्र-वाक्यम् अपि न तत्-सदृशं तस्य सत्र-कर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। यत्-परो हि शब्द स शब्दार्थः इति न्याय-विदः आहुः।

---

[८८] अगले सूत्र के अपने भाष्य मे शबर स्वामी ने 'जरद्गवो गायति मत्तकानि' (एक बूढा बैल निरर्थक शब्दो का गायन कर रहा है) के रूप मे इस उद्धरण का केवल एक अंश ही देते हुये यह टिप्पणी की है 'कथ नाम जरद्गवो गायेत्' (एक बूढा बैल कैसे गायन कर सकता है?)। अत. वैलेन्टाइन की भाँति हमे यहाँ 'जरद्गव' को व्यक्तिवाचक नाम नही मानना चाहिये।

ज्योतिष्टोमादि-वाक्यस्य विधायकत्वाद् अनुष्ठाने तात्पर्य्यम्। वनस्पत्य्-आदि-सत्र-वाक्यस्य अर्थवादत्वाद् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा च अविद्यमानेनापि कर्त्तुं शक्यते। अचेतनाः अविद्वांसोऽपि सत्रम् अनुष्ठितवन्तः किम् पुनश् चेतनाः विद्वांसो ब्राह्मणाः इति सत्र-स्तुतिः।

"किन्तु यह आपत्ति की जा सकती है कि वेदों में ऐसे वाक्य हैं, जैसे 'वनस्पतियों और सर्पों ने यज्ञ-सत्र किया'। यहाँ, वनस्पति तो अचेतन होने के कारण, और सर्प चेतन होते हुये भी विद्या-रहित होने के कारण, सत्र का अनुष्ठान करने में सर्वथा अक्षम हैं। अतः 'बूढ़ा बैल गाता है' जैसे पागलों और बालकों के वाक्यों के सदृश होने के कारण वेद के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे ही व्यक्ति ने इसकी रचना की है। इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है: 'केवल किसी मनुष्य द्वारा रचे गये होने पर कोई भी संस्कार प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता; किन्तु ज्योतिष्टोम जैसे यज्ञ वेद के प्रमाण पर आधारित हैं। और वनस्पतियों और सर्पों द्वारा यज्ञ-सत्र का आयोजन करने का उल्लेख करने वाले स्थलों का भी यही आशय, अर्थात् यज्ञ का विधान करना है।' यदि यह मान लिया जाय कि ज्योतिष्टोम का विधान करने वाला वाक्य किसी पुरुष द्वारा रचा गया है तो इस कारण इसमें विहित स्वर्ग के साधन के रूप में ज्योतिष्टोम यज्ञ का विनियोग न होता क्योंकि स्वर्ग और ज्योतिष्टोम का साध्य-साधन भाव कोई पुरुष नहीं जान सकता। किन्तु साध्य-साधनभाव के विनियोग का वेद के इन शब्दों द्वारा विधान किया गया है। 'स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिये' (ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-कामो यजेत)। अब ऐसी स्थिति में इस वाक्य को उन्मत्त वाक्य के समान नहीं कह सकते, क्योंकि लौकिक विधि-वाक्य की भाँति भाव्य, करण, और इतिकर्त्तव्यता रूप तीन अंशों से उपेत भावना इस वाक्य में लक्षित होती है। क्योंकि जब लोक में 'ब्राह्मणान् भोजयेद्' इस विधि-वाक्य द्वारा यह प्रश्न पूछा जाता है कि 'हम क्यों भोजन करायें, किसे भोजन करायें, और कैसे भोजन करायें', तो हमें यह बताया जाता है कि तृप्ति के उद्देश्य से भोजन करायें, ओदन से भोजन करायें, और शाक-सूप आदि परस कर भोजन करायें—इस प्रकार ज्योतिष्टोम की विधि का विधान करने वाले वेद-वाक्य में यह बताया गया है कि स्वर्ग के उद्देश्य से, सोम द्रव्य द्वारा और दीक्षणीय आदि अङ्गों सहित ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिये। और जब ऐसा है तब हम कैसे कह सकते हैं कि यह वचन उन्मत्त वचन के समान है। जैसा कि वनस्पतियों इत्यादि द्वारा सत्र करने का उल्लेख है, उसे भी उन्मत्त वाक्य के सदृश नहीं मानना चाहिये, क्योंकि

ज्योतिष्टोम की भाँति सत्र का कर्म भी त्रिविध आकांक्षाओं से युक्त है। जैसा कि न्यायविद् आचार्यों का कथन है, शब्द का अर्थ वही होता है जिसके उद्देश्य से शब्द कहा जाता है। ज्योतिष्टोम आदि उन वाक्यों का, जिनकी प्रकृति विधायक है, तात्पर्य अनुष्ठान का विधान कहना है। वनस्पति आदि से सम्बद्ध सत्र-वाक्य, जिसका रूप वर्णनात्मक है, एक प्रशंसा है, और प्रशंसा तो ऐसी भी वस्तु से की जा सकती है जिसका सर्वथा कोई अस्तित्व न हो। यज्ञ की इस कथन के साथ प्रशंसा की गई है कि जब चेतना रहित वनस्पतियों और ज्ञान रहित सर्पों तक ने सत्र का अनुष्ठान किया तब चेतनावान और विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना।"

निम्नलिखित स्थल, सायणाचार्य के भ्राता माधवाचार्य द्वारा रचित उस न्याय-माला-विस्तर से लिया गया है जो जैमिनि के पूर्वमीमांसा-सूत्रों का सारांश प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसमें भी वेद के पौरुषेयत्व को व्यक्त करने वाले विचारों का खण्डन करने वाले उक्त प्रकार के ही तर्कों को दुहराया गया है।

पौरुषेयं न वा वेद-वाक्यं स्यात् पौरुषेयता। काठकादि-समाख्यानाद् वाक्यत्वाच् चान्य-वाक्य-वत्। समाख्याऽध्यापकत्वेन वाक्यत्वं तु पराहतम्। तत्कर्तृ-अनुपलम्भेन स्यात् ततोऽपौरुषेयता। काठक कौथुमं तैत्तिरीयकम् इत्यादि समाख्या तत्-तद्-वेद-विषया लोके दृष्टा। तद्धित-प्रत्ययश् च तेन प्रोक्तम् इत्य्-अस्मिन्न् अर्थे वर्त्तते। तथा सति व्यासेन प्रोक्त वैयासिकम् भारतम् इत्य्-आदाव् इव पौरुषेयत्वम् प्रतीयते। किञ्च। विमतं वेद-वाक्यम् पौरुषेयम्। वाक्यत्वात्। कालिदासादि-वाक्य-वद् इति प्राप्ते ब्रूमः। अध्ययन-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तकत्वेन समाख्या उपपद्यते। कालिदासादि-ग्रन्थेषु तत्-सर्गावसाने कर्त्तारः उपलभ्यन्ते। तथा वेदस्यापि पौरुषेयत्वे तत्-कर्त्ता उपलभ्येत न च उपलभ्यते। अतो वाक्यत्वहेतुः प्रतिकूल-तर्क-पराहतः। तस्माद् अपौरुषेयो वेदः। तथा सति पुरुष-बुद्धि-कृतस्य अप्रामाण्यस्य अनाशङ्कनीयत्वाद् विधि-वाक्यस्य धर्मे प्रामाण्य सुस्थितम्। (न्यायमाला विस्तर १. १, २५, २६) [८७]

[श्लोक] "वेद-वाक्य पौरुषेय है अथवा नहीं? कुछ लोग कहते हैं कि यह पौरुषेय हैं, क्योंकि (१) काठक आदि का नाम इनके साथ संयुक्त है,

[८७] मैंने इस स्थल को न्यायमाला-विस्तर के गोल्डस्टूकर के सस्करण से उद्धृत किया है। इस स्थल के अनुवाद मे भी मुझे इन्ही प्रमुख विद्वान् से सहायता मिली है।

और (२) इनके वाक्यों की प्रकृति भी अन्य वाक्यों के समान है। किन्तु (हम उत्तर देते हैं) कि ऐसा नहीं है; क्योंकि (१) वेदों के आचार्य होने के कारण ही विभिन्न व्यक्तियों के आधार पर इन नामों की उत्पत्ति हुई है और (२) इस आपत्ति का कि वैदिक वाक्यों की प्रकृति साधारण वाक्यों के समान है, अन्य आधारों द्वारा खण्डन हो जाता है। वेद पौरुषेय नहीं हो सकते क्योंकि इनका कोई कर्त्ता उपलब्ध नहीं है।" [भाष्य] यह आपत्ति की गई है कि (१) लौकिक प्रयोगों में विभिन्न वेदों के साथ काठक, कौथुम, तैत्तिरीयक, इत्यादि के नाम संयुक्त किये गये हैं; और जिस तद्धित-प्रत्यय जिनसे यह नाम बने हैं, वह 'उन्होंने (कठ, कुथुमि, और तित्तिर ने) ऐसा कहा' अर्थ के द्योतक हैं (तु० की० पाणिनि ४.३, १०१)। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि वेदों के यह भाग, व्यास द्वारा उक्त होने के कारण वैयासिक कहे जाने वाले महाभारत की ही भाँति, पौरुषेय प्रतीत होते हैं। और यह कि (२) विभिन्न प्रकार की व्याख्यायें सम्भव होने के कारण वेद-वाक्य भी पौरुषेय ही होंगे क्योंकि इनमें भी कालिदास इत्यादि के वाक्यों के ही गुण वर्त्तमान हैं। हम इसका उत्तर यह देते हैं : (१) किसी भी वेद के लिये व्यवहृत नाम की इस तथ्य द्वारा उत्पत्ति होती है कि उसके नाम से सम्बद्ध ऋषि ने उस वेद के अध्ययन-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया था। किन्तु (२) कालिदास तथा अन्य लोगों के ग्रन्थों के प्रत्येक सर्ग के अन्त में उनके रचयिताओं का नाम देखा जा सकता है। यदि वेद भी पौरुषेय होते तो उनके रचयिताओं का नाम भी इसी प्रकार देखा जाता, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः यह आपत्ति कि वेद-वाक्यों की प्रकृति साधारण वाक्यों के समान है, प्रतिकूल तर्क द्वारा खण्डित हो जाती है। अतः वेद पौरुषेय नहीं है। और ऐसी दशा में, यतः हम इसमें पुरुष बुद्धि द्वारा रचित होने के कारण उत्पन्न अप्रमाणत्व की शङ्का भी नहीं कर सकते, अतः वेद के विधि-वाक्यों का धर्म सम्बन्धी प्रमाणत्व सिद्ध हो जाता है।"

२. वेदार्थ-प्रकाशः—उपरोद्धृत श्लोक तैत्तिरीय संहिता पर माधव के वेदार्थ-प्रकाश में, तृतीय पंक्ति के आरम्भ में कुछ पाठ भेद ('समाख्याऽध्यापकत्वेन' के स्थान पर 'समाख्यानम् प्रवचनात्') के साथ पुनः दुहराया गया है। इस ग्रन्थ में इन श्लोकों की जिन शब्दों में व्याख्या की गई है वह इस प्रकार है :

वाल्मीकीयं वैयासिकीयम् इत्यादि-समाख्यानाद् रामायण-भारतादिकं यथा पौरुषेयं तथा काठकं कौथुमं तैत्तिरीयम् इत्यादि-समाख्यानाद् वेदः पौरुषेयः। किञ्च वेद-वाक्यम् पौरुषेयं वाक्यत्वात् कालिदा-

सादि-वाक्य-वद् इति चेत्। मैवम्। सम्प्रदाय-प्रवृत्त्या समाख्योपपत्तेः। वाक्यत्व-हेतुस् त्व् अनुपलब्धि-विरुद्ध-कालात्ययापदिष्टः। यथा व्यास-वाल्मीकि-प्रभृतयस् तद्-ग्रन्थ-निर्माणावसरे कैश्चिद् उपलब्धाः अन्यैर् अप्य् अविच्छिन्न-सम्प्रदायेन उपलभ्यन्ते। न तथा वेद-कर्त्ता पुरुषः कश्चिद् उपलब्धः। प्रत्युत वेदस्य नित्यत्वं श्रुति-स्मृतिभ्याम् पूर्वम् उदाहृतम्। परमात्मा तु वेद-कर्त्ताऽपि न लौकिक-पुरुषः। तस्मात् कर्तृ-दोषाभावाद् नास्त्य् अप्रामाण्य-शङ्का (वेदार्थ प्रकाश)।

"यह कहा जा सकता है कि (१) जिस प्रकार रामायण, महाभारत तथा अन्य ऐसे ही ग्रन्थों को उनके साथ संयुक्त 'वाल्मीकीय' (वाल्मीकि द्वारा रचित), 'वैयासिक' (व्यास द्वारा रचित) नामों के आधार पर पौरुषेय माना जाता है, उसी प्रकार वेदों की भी इसी प्रकार उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि इन्हें भी काठक कौथुम, तैत्तिरीय, इत्यादि नामों द्वारा पुकारा जाता है; और यह कि (२) वेद-वाक्यों की ऐसी ही उत्पत्ति हुई होगी, क्योंकि इनमें भी कालिदास आदि के सामान्य वाक्यों के गुण वर्त्तमान हैं। किन्तु यह आपत्तियाँ निराधार हैं, क्योंकि (१) वेद के इन भागों के नाम उन ऋषियों के नाम पर रक्खे गये हैं जो इनके अध्ययन के प्रवर्त्तक थे; और (२) वेद में साधारण वाक्यों के गुणों की उपस्थिति का इस तथ्य द्वारा विरोध होता है कि इसका कभी भी कोई रचयिता नहीं देखा गया, जिसके कारण यह एक हेत्वाभास पर आधारित है।[88] क्योंकि, जहाँ व्यास और

[88] यह शब्द (कालात्ययापदिष्ट) न्याय-दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है, जो हेत्वाभास का द्योतक है। न्यायसूत्र १ ४९ मे इसकी यह परिभाषा मिलती है: कालात्ययापदिष्टः कालातीतः। इसकी वैलेन्टाइन ने (न्यायसूत्र पृ० ४२) इस प्रकार व्याख्या की है: "यह कुसमय का द्योतक है, अर्थात् उस बात को व्यक्त करता है जो उपयुक्त समय पर न कही गई हो। उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि कोई व्यक्ति यह तर्क उपस्थित करता है कि 'अग्नि मे उष्णता नही है, क्योकि यह तथ्य कृत्रिम है' तो उसका यह तर्क उस दशा में समयोचित नही होगा जब हमने इन्द्रियोपलब्ध अन्य श्रेष्ठ प्रमाणो के आधार पर पहले से ही यह न जान लिया हो कि अग्नि मे उष्णता अवश्य होती है।" फिर भी, यह समझ मे नही आता कि किसी तर्क की अनिवार्य प्रामाणिकता किस प्रकार उसके उपस्थित करने के समय पर आधारित हो सकती है। प्रो० गोल्डस्टूकर भी इस शब्द सम्बन्धी मेरी व्याख्या से सहमत हैं। वात्स्यायन के भाष्य का अध्ययन करने के आधार पर गोल्डस्टूकर का विचार है कि 'यह

ल्मावीकि का उनकी अपनी-अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में उल्लेख है, वहाँ कुछ लोगों ने उन्हें इस कार्य में लिप्त जाना है तथा कुछ अन्य लोगों ने इस सम्बन्ध में अविच्छिन्न परम्परा के अस्तित्व के कारण इनका रचयिता माना है, किन्तु वेद का पुरुष कर्त्ता कभी भी नहीं देखा गया। इसके विपरीत हम पहले यह दिखा चुके हैं कि वेदों के नित्यत्व को श्रुति और स्मृति दोनों ने स्वीकार किया है। और यदि परमात्मा ही वेद का कर्त्ता हो, तो भी उसे लौकिक-पुरुष नहीं कहा जा सकता; अतः रचनाकार में कोई दोष न होने के कारण उसकी कृति में अप्रमाणत्व की शङ्का करने का कोई आधार नहीं है।"

इन भाष्यकारों द्वारा उस आपत्ति पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है, जिसे स्वयं इन तर्कों की प्रामाणिकता के विरुद्ध उठाया जा सकता है, जैसे यह कि ऋक् तथा अन्य वेदों की अनुक्रमणियों में यह कहा गया है कि ऋक् तथा अन्य वेदों के सूक्तों का ऋषियों ने उच्चारण किया : और इन ग्रन्थों में ऋषियों की परिभाषा उन व्यक्तियों के रूप में की गई है जिनके शब्द ही सूक्त हैं—यस्य वाक्यं स ऋषिः।[८९] (देखिये कोलः मिस० ए० १, २६)। फिर भी, यद्यपि गत किसी भी स्थल पर इस आपत्ति का उल्लेख नहीं है, तथापि आस्तिक भारतीय लेखकों की इस प्रसिद्ध उक्ति द्वारा इसका उत्तर दिया गया है कि ऋषियों ने सूक्तों की रचना नहीं वरन् केवल दर्शन किया, और उसके पश्चात् सूक्तों तथा वेदों के अन्य भागों को दुहराया क्योंकि वेद वास्तव में सनातन है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता पर वेदार्थ-प्रकाश में यह कहा गया है : अतीन्द्रियार्थ-द्रष्टारः ऋषयः। तेषां वेद द्रष्टृत्वं स्मर्यते। युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयम्भुवा (महाभारत १२. २१०, १९) "ऋषि-गण ऐसी वस्तुओं के द्रष्टा थे जो अतीन्द्रिय हैं। उनके द्वारा वेद के दर्शन का स्मृति में उल्लेख है : 'स्वयम्भू

सूत्र (जिसकी भाष्यकारो ने बहुत स्पष्ट व्याख्या नही की है) ऐसे निष्कर्ष का द्योतक है जिसे त्रुटिपूर्वक किसी एक समय अथवा वर्ग के तथ्यो से दूसरे ऐसे वर्ग के सन्दर्भ मे स्थानान्तरित कर दिया गया है जिसका या तो अस्तित्व ही नही है अथवा अस्तित्व का केवल आभास मात्र है, अर्थात् सक्षेप मे यह एक दूषित सामान्यीकरण का द्योतक है।

[८९] इस विषय से सम्बद्ध निरुक्त के कुछ स्थलो का प्रस्तुत ग्रन्थ के उत्तरार्ध मे उद्धरण दिया जायगा।

की अनुज्ञा से महान् ऋषियों ने पूर्वकाल में अपनी तपस्या द्वारा उन वेदों और इतिहासों को प्राप्त किया जो युगान्त में अन्तर्हित हो गये थे।"

इसी प्रकार मनु ने भी समान किन्तु अधिक सामान्य भाषा में इस प्रकार कहा है: प्रजापतिर् इदं शास्त्रं तपसैवासृजत् प्रभुः। तथैव वेदान् ऋषयस् तपसा प्रतिपेदिरे। "प्रजापति ने तपस्या द्वारा इस शास्त्र (मनुस्मृति) की रचना की और ऋषियों ने भी इसी प्रकार वेदों को प्राप्त किया।"

माधव आचार्य के सर्वदर्शन-संग्रह में दिये हुये पूर्व मीमांसा-दर्शन सम्बन्धी विवरण से उद्धृत निम्न स्थल पर वेदों के प्रमाणत्व सम्बन्धी मीमांसकों और नैयायिकों के परस्पर वाद-विवाद का अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण सारांश मिलता है:

स्याद् एतत्। वेदस्य कथम् अपौरुषेयत्वम् अभिधीयते। तत्-प्रतिपादक-प्रमाणाभावात् कथम् मन्येथाः अपौरुषेयाः वेदाः। सम्प्रदायाविच्छेदे सत्य् अस्मर्य्यमाण-कर्त्तृकत्वाद् आत्म-वद् इति। तद् एतद् मन्दं विशेषणासिद्धेः पौरुषेय-वेद-वादिभिः प्रलये सम्प्रदाय-विच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किञ्च किम् इदम् अस्मर्य्यमाण-कर्त्तृकत्वं नाम। अप्रतीयमान-कर्त्तृकत्वम् अस्मरण-गोचर-कर्त्तृकत्वं वा। न प्रथमः कल्पः परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेर् अभ्युपगमात्। न द्वितीयो विकल्पासहत्वात्। तथा हि। किम् एकेन अस्मरणम् अभिप्रेयते सर्वैर् वा। न आद्यः। "यो धर्म-शीलो जितमान-रोषः" इत्यादिषु मुक्तकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्य असर्वज्ञ-दुर्ज्ञानत्वात्।

पौरुषेयत्वे प्रमाण-सम्भवाच् च वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि। वाक्यत्वात्। कालिदासादि-वाक्य-वत्। वेद-वाक्यानि आप्त-प्रणीतानि। प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वाद् मन्व्-आदि-वाक्य-वद् इति।

ननु। "वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्व्-अध्ययन-पूर्वकम्। वेदाध्ययन-सामान्याद् अधुनाऽध्ययनं यथा"। इत्य् अनुमानम् प्रति साधनम् प्रगल्भते इति चेत्। तद् अपि न प्रमाण-कोटिम् प्रवेष्टुम् ईष्टे। "भारताध्ययनं सर्वम् गुर्व्-अध्ययन-पूर्वकम्। भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा" इति आभास-समान-योगक्षेमत्वात्। ननु तत्र व्यासः कर्त्ता इति स्मर्य्यते "को ह्य् अन्यः पुण्डरीकाक्षाद् महाभारत-कृद् भवेत्" इत्य्-आदाव् इति चेत्। तद् असारम्। "ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत" इति पुरुष-सूक्ते वेदस्य स-कर्त्तृकता-प्रतिपादनात्।

किन्च अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मद्-आदि-बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वाद् घट-वत्। नन्व् इदम् अनुमानं स एवायं ग-कारः इत्य् प्रत्यभिज्ञा-प्रमाण-प्रतिहतम् इति चेत्। तद् अति फल्गु "लून-पुनर्जात-केश दलित-कुन्द्"–आदाव् इव प्रत्यभिज्ञायाः सामान्य-विषयत्वेन बाधकत्वाभवात्।

नन्व् अशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्व्-आदि-स्थानाभावेन वर्णोच्चारणासम्भवात् कथं तत्-प्रणीतत्वं वेदस्य स्याद् इति चेत्। न तद् भद्रं स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीला-विग्रह-ग्रहण-सम्भवात्। तस्माद् वेदस्य अपौरुषेयत्व-वाचो युक्तिर् न युक्ता इति चेत्।

तत्र समाधानम् अभिधीयते। किम् इदम् पौरुषेयत्वं सिसाधयिषितम्। पुरुषाद् उत्पन्नत्व-मात्रम्। यथा अस्मद्-आदिभिर् अहर् अहर् उच्चार्य्यमाणस्य वेदस्य। प्रमाणान्तरेण अर्थम् उपलभ्य तत् प्रकाशनाय रचितत्वं वा। यथा अस्मद्-आदिभिर् इव निबध्यमानस्य प्रबन्धस्य। प्रथमे न विप्रतिपत्तिः। चरमे किम् अनुमान-बलात् तत् साधनम् आगम-बलाद् वा। न आद्यः। मालती-माधवादि-वाक्येषु सव्यभिचारत्वात्। अथ प्रमाणत्वे सति इति विशिष्यते इति चेत्। तद् अपि न विपश्चितो मनसि वैशद्यम् आपद्यते। प्रमाणान्तरागोचरार्थ-प्रतिपादकं हि वाक्यं वेद-वाक्यम्। तत् प्रमाणान्तर-गोचरार्थ-प्रतिपादकं हि वाक्यं वेद-वाक्यम्। तत् प्रमाणान्तर-गोचरार्थ प्रतिपादकम् इति साध्यमाने "मम माता बन्ध्या" इति वद् व्याघातापातात्। किञ्च परमेश्वरस्य लीला-विग्रह-परिग्रहाभ्युपगमेऽप्य् अतीन्द्रियार्थ-दर्शनं न सञ्जाघटीति देश-काल-स्वभाव-विप्रकृष्टार्थ-ग्रहणोपायाभावात्। न च तच्-चक्षुर्-आदिकम् एव तादृक्-प्रतीति-जनन-क्षमम् इति मन्तव्यम्। दृष्टानुसारेणैव कल्पनायाः आश्रयणीत्वात्। तद् उक्तं गुरुभिः सर्वज्ञ-निराकरण-वेलायाम् "यत्राप्य् अतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्। दूर-सूक्ष्मादि-दृष्टौ स्याद् न रूपे श्रोत्र-वृत्तिता" इति। अतः एव न आगम-बलात् तत्-साधनम्।

"तेन प्रोक्तम्" इति पाणिन्य्-अनुशासने जाग्रत्य् अपि काठक-कालाप तैत्तिरीयम् इत्यादि-समाख्या अध्ययन-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक-विषयत्वेन उपपद्यते। तद्-वद् अत्रापि सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक-विषयत्वेनाप्य् उपपद्यते। न च अनुमान-बलात् शब्दस्य अनित्यत्व सिद्धिः। प्रत्यभिज्ञाविरोधात्।······

नन्व् इदम् प्रत्यभिज्ञानं गत्वादि-जाति-विषयं न गादि-व्यक्ति-विषयं

तासां प्रति-पुरुषम् भेदोपलम्भाद्। अन्यथा "सोमशर्माऽधीते" इति विभागो न स्याद् इति चेत्। तद् अपि शोभां न बिभर्त्ति गादि-व्यक्ति-भेदे प्रमाणाभावेन गत्वादि-जाति-विषय-कल्पनायाम प्रमाणाभवात। यथा गत्वम् अजानतः एकम् एव भिन्न-देश-परिमाण-संस्थान व्यक्त्य्-उपधान-वशाद् भिन्न-देशम् इव अल्पम् इव महद् इव दीर्घम इव वामनम् इव प्रथते तथा ग-व्यक्तिम् अजानतः एकाऽपि व्यञ्जक-भेदात् तत्-तद्-धर्मोनुबन्धिनी प्रतिभासते। एतेन विरुद्ध-धर्माध्यासाद् भेद-प्रतिभासः इति प्रत्युक्तम्। तत्र किं स्वाभाविको विरुद्ध-धर्माध्यासो भेद-साधकत्वेन अभिमतः प्रातीतिको वा। प्रथमे असिद्धिः अपरथा स्वाभाविक-भेदाभ्युपगमे दश ग-कारान् उदचारयत चैत्र इति प्रत्तिपत्तिः स्याद् न तु दश-कृत्वो ग-कारः इति। द्वितीये तु न स्वाभाविक-भेद-सिद्धिः। न हि परोपाधि-भेदेन स्वाभाविकम् ऐक्यं विहन्यते। मा भूद् नभसोऽपि कुम्भाद्य्-उपाधि-भेदात् स्वाभाविको भेदः। ''तद् उक्तम् आचार्य्यै। "प्रयोजनं तु यज् जातेस् तद् वर्णाद् एव लभ्यते। व्यक्ति-लभ्य तु नादेभ्यः इति गत्वादि-धीर् वृथा" इति। तथा च "प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा। अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते"।''ततश् च वेदस्य अपौरुषेयतया निरस्त-समस्त-शङ्का-कलङ्काङ्कुरत्वेन स्वतः सिद्ध धर्मे प्रामाण्यम् इति सुस्थितम्। (सर्वदर्शन संग्रह १२.१८-२८)

"ऐसा हो। (नैय्यायिक यह पूछ सकते हैं कि) वेद को अपौरुषेय कैसे माना जाय ? अपौरुषेयत्व के प्रतिपादक प्रमाण के अभाव में वेद को अपौरुषेय कैसे माना जाय ? यदि हम यह कहें कि अविच्छिन्न सम्प्रदाय होने पर भी वेद के कर्त्ता का उसी प्रकार स्मरण नहीं किया जाता जैसे आत्मा की दशा में भी किसी का स्मरण नहीं होता, तो किन्तु यह तर्क अत्यन्त क्षीण है, क्योंकि उक्त विशेषतायें (आविच्छिन्न सम्प्रदाय, इत्यादि) सिद्ध नहीं हैं; क्योंकि वेद के अपौरुषेयत्व का प्रतिपादन करने वाले यह आपत्ति करते हैं कि प्रलय-काल में सम्प्रदाय का विच्छेद हो जाता है।[९०] और : इस उक्ति द्वारा क्या अर्थ है कि वेद के किसी भी कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जाता ? क्या ऐसा है कि (१) कोई कर्त्ता माना ही नहीं गया है, अथवा (२) कोई भी कर्त्ता स्मरण का विषय नहीं है ? प्रथम विकल्प को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मान लिया गया है कि परमेश्वर ही कर्त्ता है। द्वितीय विकल्प को भी इसीलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह इन दो

[९०] यह आपत्ति कुसुमाञ्जलि के एक स्थल पर आती है जिसका मैं आगे उद्धरण दूँगा।

द्विधाओं के आधार पर उपयुक्त सिद्ध नहीं होता : जैसे, क्या इससे यह अर्थ है कि (१) कुछ लोग ही वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं कर सकते, अथवा यह कि (२) कोई भी व्यक्ति इसका स्मरण नहीं कर सकता। प्रथम मान्यता इसलिये खण्डित हो जाती है कि यह 'वह जो धर्मशील है और जिसने अभिमान और रोष को जीत लिया है' इत्यादि[११] सुक्तकोक्तियों की दृष्टि से व्यभिचरित होती है। और बाद की मान्यता इसलिये अग्राह्य है कि किसी असर्वज्ञ व्यक्ति के लिये यह जानना असम्भव होगा कि वेद के किसी कर्त्ता का किसी भी व्यक्ति को स्मरण है अथवा नहीं।

"और, (नैय्यायिक आगे कहते हैं) कि वेद-वाक्य पौरुषेय ही होंगे क्योंकि इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी ऐसी ही उत्पत्ति हुई थी; इनके वाक्यों की प्रकृति भी कालिदासादि के वाक्यों के समान ही है। वेद-वाक्य आप्त पुरुषों द्वारा ही प्रणीत हैं, क्योंकि उनमें प्रमाणत्व होने पर भी उनकी प्रकृति मनु आदि के वाक्यों के समान है।

"किन्तु (मीमांसक पूछते हैं) क्या यह नहीं माना जा सकता कि 'वेद के सम्पूर्ण अध्ययन के पूर्व उसका गुरु से अध्ययन हुआ होगा, क्योंकि वेद के अध्ययन की सदैव समान प्रकृति रही होगी जो पूर्वकाल में भी वैसी ही थी जैसी आज है;[१२] और इस अनुमान में यह सिद्ध करने की शक्ति है (कि वेद अपौरुषेय अथवा शाश्वत हैं)। (नैय्यायिक उत्तर देते हैं) इस प्रकार के तर्क में प्रमाण की दृष्टि से कोई शक्ति नहीं है (क्योंकि इसी समान तर्कों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है) कि 'महाभारत के सम्पूर्ण अध्ययन के पहले गुरु के द्वारा ही उसका अध्ययन हुआ होगा, क्योंकि

---

[११] मुझे यह मालूम नही कि किस ग्रन्थ से यह श्लोक उद्धृत है, अथवा इसके बाद क्या है ? किसी बात को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्षत. यह बताना चाहिये कि जिस प्रकार के ऋषि का यहाँ वर्णन है वह वेद के कर्त्ता का स्मरण कर सकता है, अथवा उसमे अलौकिक शक्ति है जो उसे वेद के कर्त्ता का पता लगा लेने के लिये समर्थ बना देती है।

[१२] इस वाक्य का उद्देश्य यह है कि यत. वेदाध्ययन करने वाली प्रत्येक पीढी के पहले आचार्यों की परम्परा अवश्य रही होगी, और यत. इस पद्धति मे यह मानकर कोई भी भेद नही लाया जा सकता कि पूर्वकाल मे ऐसा विद्यार्थी रहा होगा जिसने स्वयं अपने को वेद का अध्ययन कराया हो, अत. यह स्वाभाविक निष्कर्ष हो जाता है कि वेद का कोई कर्त्ता नही था और वह शाश्वत है।

महाभारत के अध्ययन की ऐसी प्रकृति होने के कारण पूर्वकाल में भी वैसी ही रही होगी जैसी आज है'; और इस प्रकार के तर्क का लाभ केवल विभ्रमात्मक है। किन्तु (मीमांसक यह पूछेंगे कि वेद और महाभारत की स्थितियों में क्या कोई अन्तर नहीं हैं, क्योंकि) स्मृति का यह कथन है कि (विष्णु के अवतार) व्यास महाभारत के प्रणेता थे, जो कि इस प्रकार के स्मृति वाक्यों से सिद्ध होता है, कि, 'पुण्डरीकाक्ष के अतिरिक्त और कौन महाभारत का रचयिता हो सकता है ?' (जब कि वेद के सम्बन्ध में किसी शास्त्र में ऐसा कथन नहीं है)। फिर भी, यह तर्क सारहीन है। पुरुषसूक्त के इन शब्दों से वेद के कर्त्ता का प्रतिपादन हो जाता है कि, 'उससे ही ऋचायें, और साम उत्पन्न हुये, और छन्द तथा यजुष् उससे ही उत्पन्न हुये।'

"तथा (नैय्यायिक और आगे कहते हैं) हमें यह मानना चाहिये कि शब्द (जिसके शाश्वतत्व पर ही वेद का शाश्वतत्व और अकर्तृत्व आधारित है) शाश्वत नहीं है, क्योंकि, एक ओर जहाँ इसमें एक वर्ग से सम्बद्ध होने के गुण वर्त्तमान हैं, वहीं हम लोगों जैसे प्राणियों की बाह्य इन्द्रियों द्वारा इसका, घट की ही भाँति, प्रत्यक्षीकरण भी किया जा सकता है। किन्तु (मीमांसक उत्तर देते हैं) क्या आप लोगों के इस अनुमान का इस तथ्य से उत्पन्न प्रमाण के द्वारा प्रतिवाद नहीं हो जाता कि हम 'ग' अक्षर को उसी अर्थ में ग्रहण करते हैं जैसा हमने पहले सुना है ? (नैय्यायिक उत्तर देते हैं) यह तर्क अत्यन्त क्षीण है, क्योंकि इस मान्यता से एक वर्ग का सन्दर्भ होने के कारण—जैसे इस प्रकार के शब्दों में कि 'बाल काटे और पुनः जमाये जाते हैं, अथवा पूर्णतया विकसित मल्लिका', इत्यादि—इस प्रकार के विषय के बोध में मेरी उक्ति (कि शब्द शाश्वत नहीं हैं) का प्रतिवाद नहीं होता।

"किन्तु (मीमांसक पूछते हैं) उस अशरीरी परमेश्वर के द्वारा वेद का उच्चारण हुआ होगा जिसे तालु तथा अन्य वागेन्द्रियाँ नहीं हैं, अतः उसे शब्द का उच्चारण करने वाला कैसे कहा जा सकता है ? (नैय्यायिक उत्तर देते हैं) यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि, यद्यपि स्वभाव से परमेश्वर अशरीरी है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह के लिये वह लीला करते हुए शरीर ग्रहण कर सकता है। अतः वेद का अपौरुषेय कथन असङ्गत है।

"अब मैं (मीमांसक कहता है) इन सबका समाधान करता हूँ। इस 'पौरुषेयत्व' का क्या अर्थ है जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं ? क्या इससे (१) किसी पुरुष से उसी प्रकार उत्पन्नत्व का तात्पर्य है, जिस प्रकार हम लोगों जैसे व्यक्तियों द्वारा प्रतिदिन उच्चारण के समय वेद उत्पन्न होता है ? अथवा (२) क्या यह अन्य प्रमाणों द्वारा अर्जित ज्ञान की उसके प्रकाशनार्थ

उसी आशय में एक व्यवस्था है जिस आशय हम लोगों जैसे व्यक्ति किसी कृति की रचना करते हैं ? यदि प्रथम अर्थ से तात्पर्य है तब तो कोई विवाद नहीं। यदि द्वितीय अर्थ से तात्पर्य है तब मैं पूछता हूँ कि क्या वेद का कर्त्तृत्व (क) अनुमान पर आधारित होने के द्वारा सिद्ध होता है, अथवा (ख) अलौकिक ज्ञान पर आधारित होने के द्वारा ? प्रथम विकल्प (अर्थात् अनुमान पर आधारित होने के कारण वेद का प्रमाणत्व सिद्ध होता है) ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि यह मत उस समय व्यभिचरित हो जाता है जब इसे मालतीमाधव अथवा अन्य ऐसे किसी काव्य के वाक्यों के लिये व्यवहृत किया जाय। दूसरी ओर, यदि आप यह कहें कि वेद के विषय-वस्तु का प्रमाणत्व के आधार पर अन्य कृतियों के साथ विभेद किया जा सकता है, तो यह व्याख्या भी किसी दार्शनिक को सन्तुष्ट करने में असमर्थ होगी। क्योंकि वेद का शब्द एक ऐसा शब्द होता है जो उन वस्तुओं को प्रमाणित करता है जिन्हें किसी अन्य प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अब, यदि यह स्थापना की जा सकती कि इस वैदिक शब्द ने अन्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित हो सकने वाली वस्तुओं को ही प्रमाणित करने के अतिरिक्त और कुछ अधिक नहीं किया है, तब हम उसी प्रकार के विरोधाभास में उलझ जायेंगे जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि उसकी माता बन्ध्या थी। और यदि हम यह मान भी लेते कि लीला के लिये परमेश्वर शरीर धारण करते हैं तो भी यह मानना असम्भव होता कि देश, काल, और स्वभाव के परे स्थित पदार्थों का बोध करने के माध्यम की आवश्यकता से वह इन्द्रियातीत विषयों का भी बोध कर सकते हैं। और न यही सोचा जाना चाहिये कि केवल उन्हीं के चक्षु तथा अन्य इन्द्रियों में इस प्रकार के ज्ञान को उपलब्ध करने की शक्ति होगी, क्योंकि मनुष्य केवल ऐसी ही धारणाओं को प्राप्त कर सकता है जो उसके प्रत्यक्षीकरणों के अनुरूप हों। एक सर्वज्ञ का निराकरण करते हुये गुरु (प्रभाकर) ने इस प्रकार कहा है : 'जब कभी दृष्टि-इन्द्रिय द्वारा किसी पदार्थ का अतिशय प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, तब ऐसे प्रत्यक्षीकरण का किसी दूरस्थ अथवा अत्यन्त सूक्ष्म दृश्य से ही सन्दर्भ हो सकता है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अपने स्वविषय का उल्लङ्घन नहीं कर सकती, अर्थात् उदाहरण के लिये, कान कभी भी रूप को ग्रहण नहीं कर सकते।' अत. वेद का प्रमाणत्व (परमेश्वर द्वारा सशरीर अर्जित) किसी अलौकिक सूचना के आधार पर उत्पन्न नहीं हो सकता।

"पाणिनि (४.३, १०१) के नियम का कोई उल्लङ्घन किये बिना ही, व्याकरण के अनुसार जिन पूर्वपदों से काठक, कालाप, तैत्तिरीय का निर्माण

हुआ है वही इन व्युत्पन्न रूपों में कठ, कलाप, तित्तिर इत्यादि द्वारा 'उच्चरित' होने का आशय निहित करते हैं। अतः यह स्थापित हो जाता है कि इन नामों से इस तथ्य का सन्दर्भ है कि इन ऋषियों ने वेद के तत्सम्बन्धी भागों के अध्ययन की परम्परा का प्रवर्त्तन किया (इनसे यह तात्पर्य नहीं कि इन ऋषियों ने वेद के किसी भाग की रचना की)। यहाँ भी इन अभिधाओं को इसी प्रकार ग्रहण करते हुये यह समझना चाहिये कि इनसे इन ऋषियों के वेदाध्ययन के प्रवर्त्तक होने का सन्दर्भ है; और हमें यह विचार नहीं करना चाहिये कि शब्द का नित्यत्व (इन नामों से निष्कृष्ट) किसी अनुमान के आधार पर अप्रमाणित हो सकता है; क्योंकि यह मान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा।...

"किन्तु (नैय्यायिक पूछेंगे) क्या (पूर्व ज्ञान के आधार पर ही 'ग' तथा अन्य वर्णों को) ग्रहण करने से यह तात्पर्य नहीं है कि यह किसी एक वर्ग से सम्बद्ध हैं न कि वही वैयक्तिक अक्षर, क्योंकि वास्तव में हम इन्हें व्यक्ति-व्यक्ति के उच्चारण के आधार पर भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं, अन्यथा हमें यह कहते हुये कि 'सोमशर्मन् अध्ययन कर रहे हैं' विभिन्न पाठकों में विभेद करना असम्भव होगा ?' फिर भी, यह आपत्ति पहली आपत्ति की ही भाँति क्षीण है। और इसका इस प्रकार उत्तर दिया गया है कि, यतः गकारों इत्यादि में वैयक्तिक भेद का कोई प्रमाण नहीं है अतः यह मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं कि गकार इत्यादि का कोई वर्ग भी है (अर्थात् गकार अथवा अन्य वर्ण एक-एक वर्ण का निर्माण करते हैं)। जिस प्रकार इस बात से अनभिज्ञ व्यक्ति कि 'ग' एक वर्ण है, देश, परिमाण, संस्थान, स्वभाव, और स्थिति के विभेद के कारण, देश, अल्पता, महानता, दीर्घता, वामनत्व की दृष्टि से विभिन्न रूपों में परिवर्त्तित हो जाता है, उसी प्रकार इस व्यञ्जन 'ग' के धर्म से अनभिज्ञ व्यक्ति, उसके एक होते हुये भी उच्चारण करने वाले व्यक्तियों मे वर्त्तमान विभेदों के आधार पर उनकी अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ सम्बद्ध होता है; और यतः इस प्रकार ('ग' अक्षर को) परस्पर विरोधी धर्म आरोपित हो जाते हैं, अतः विभेदों का (विभिन्न गकारों के बीच) एक त्रुटिपूर्ण आभास मिलने लगता है। किन्तु यह परस्पर विरोधी धर्म, जिन्हें कि (गकारों के बीच) विभेद उत्पन्न करने वाला मान लिया जाता है, क्या (१) वस्तुओं के स्वाभाविक भेद, अथवा (२) केवल रूपाभास, के परिणाम हैं ? प्रथम विकल्प के लिये कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्यथा विभिन्न गकारों के बीच निहित विभेद को स्वीकार कर लेने पर यह सिद्ध हो जायगा कि चैत्र ने दस बार में दस गकारों का उच्चारण किया, दसों बार एक ही गकार का नहीं। किन्तु द्वितीय मान्यता के सम्बन्ध में किसी स्वाभाविक भेद (गकारों के बीच) का

कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक ऐक्य परोपाधि-भेद के द्वारा नष्ट नहीं होता। कुम्भादि के उपाधि-भेद से हमें यह नहीं मानना चाहिये कि स्वयं आकाश में भी कोई स्वाभाविक भेद है।...आचार्य ने कहा है कि, 'एक वर्ण की मान्यता के आधार पर नैय्यायिकों का जो प्रयोजन है वह स्वयं अक्षर द्वारा पूर्ण हो जाता है; और अक्षरों की वैयक्तिकता की मान्यता द्वारा वह जिस प्रयोजन को पूर्ण करते हैं उसकी प्राप्ति नाद द्वारा हो जाती है, जिससे वर्णादि की मान्यता व्यर्थ हो जाती है।' और इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, 'शब्दों के सम्बन्ध में मान्यता इतनी जाग्रत (इतनी सशक्त) है कि अकेले यही शब्द के नित्यत्व से सम्बद्ध सम्पूर्ण अनुमानों का प्रतिवाद कर देती है।' कुछ और तर्कों के पश्चात मीमांसक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, "यतः समस्त शंकायें, जो अङ्कुरित हो सकती थीं, वेद की अपौरुषेयता के द्वारा निरस्त हो गईं, अतः इसका धर्म-प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है।"

अब मैं इस जटिल विवाद का और अधिक अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं करूँगा, क्योंकि इसके शेषांश का विषय-वस्तु बहुत कुछ ऐसा है कि उसका समझना मेरे लिये अत्यन्त कठिन होगा।

विवेच्य विषय से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध न होते हुये भी ब्रह्मसूत्र ३. २, ४० के शाङ्करभाष्य का निम्न उद्धरण मीमांसा के सिद्धान्तों पर कुछ और प्रकाश डालेगा। जैसा कि शङ्कर ने कहा है, इस सूत्र के पूर्व के दो सूत्रों में तर्क तथा वैदिक प्रमाण के आधार पर यह कहा गया है कि ईश्वर से ही समस्त प्राणियों को फल प्राप्त होता है। इस प्रकार ४० वें सूत्र में जैमिनी के सिद्धान्त का एक भिन्न कथन मिलता है :

धर्मं जैमिनिर् अतः एव। जैनिनिस् त्व् आचार्य्यो धर्मम् फलस्य दातारम् मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेर् उपपत्तेश् च। श्रूयते तावद् अयम् अर्थः "स्वर्ग-कामो यजेत" इत्य् एवम् आदिषु वाक्येषु। तत्र च विधि-श्रुतेर् विषय-भावोपगमाद् यागः स्वर्गस्य उत्पादकः इति गम्यते। अन्यथा ह्य् अननुष्ठातृको यागः आपद्येत तत्र अस्य उपदेशस्य वैयर्थ्यं स्यात्। नन्व् अनुक्षण-विनाशिनः कर्मणः फल न उपपद्यते इति परित्यक्तोऽयम् पक्षः। न एष दोषः श्रुति-प्रामाण्यात्। श्रुतिश् चेत् प्रमाणं यथाऽयम् कर्म-फल-सम्बन्धः श्रुतः उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः। न च अनुत्पाद्य किमप्य् अपूर्वं कर्म विनश्यत् कालान्तरितम् फलं दातु शक्नोति इत्य् अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिद् उत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्था

अपूर्वं नाम अस्ति इति तर्क्यते। उपपद्यते च अयम् अर्थः उक्तेन प्रकारेण। ईश्वरस् तु फलं ददाति इत्य् अनुपपन्नम अविचित्रस्य कारणस्य विचित्र-कार्य्यानुपपत्तेः वैषम्य-नैर्घृण्य-प्रसङ्गाद् अनुष्ठान-वैयर्थ्यापत्तेश् च। तस्माद् धर्माद् एव फलम् इति॥ (ब्रह्मसूत्र ३. २, ४० पर शाङ्करभाष्य)।

"आचार्य जैमिनि का कथन है कि इसी कारण धर्म '(फल दाता है)। जैमिनि आचार्य धर्म (अर्थात् यागादिक) को ही फल का देने वाला मानते हैं। 'इसी कारण', और इसलिये भी कि यह वेद द्वारा प्रमाणित है। 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग की इच्छा रखने वाला याग करे) इत्यादि वाक्यों में भी यही सुनने में आता है। इसमें विधिश्रुति, अर्थात् विध्यर्थ के विषयभाव के अवगम से 'याग स्वर्ग का उत्पादक है', ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यज्ञ के अनुष्ठाता के अभाव की प्रसक्ति होगी, तथा ऐसा होने पर इसका कथन व्यर्थ हो जायगा। किन्तु यतः अनुक्षण विनाशी कर्म का फल नहीं हो सकता, अतः इस पक्ष का परित्याग किया गया है। यह दोष नहीं है, क्योंकि श्रुति प्रमाण है। यदि श्रुति प्रमाण हो तो जिस प्रकार यह श्रुति प्रतिपादित कर्म-फल सम्बन्ध उपपन्न हो उसी प्रकार कल्पना करनी चाहिये। और किसी अपूर्व को उत्पन्न किये बिना विनाश काल में कर्म कालान्तरित फल देने में असमर्थ होता है, जिससे ऐसा तर्क किया जा सकता है कि कर्म की कोई एक सूक्ष्म उत्तरावस्था, या अपूर्व नामक एक फल की पूर्वावस्था होती है, और यह तर्क उक्त प्रकार से उपपन्न होता है। ईश्वर फल का दाता है, यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अविचित्र कारण का विचित्र कार्य अनुपपन्न है, वैषम्य और नैर्घृण्य का भी प्रसङ्ग आयेगा, और अनुष्ठान के व्यर्थ होने का प्रसङ्ग आता है, इसलिये, 'धर्म से ही फल है', ऐसा जैमिनि महर्षि मानते हैं।

यह स्थल मीमांसा की नास्तिकता को प्रमाणित करने के लिये कितना पर्याप्त हो सकता है, इसको कह सकने का मैं प्रयास नहीं करूँगा। इस प्रकार की समस्या पर निर्णय करने के पूर्व इस दर्शन-सम्प्रदाय के ऐसे अन्य सूत्रों को भी (यदि कोई हों तो) देखना होगा जिनमें इस समस्या की विवेचना हो।

प्रोफेसर बनर्जी ने विद्वन्-मोद-तरङ्गिणी नामक एक साधारण ग्रन्थ से निम्न उद्धरण भी दिया है जिसमें मीमांसा पर स्पष्ट रूप से नास्तिकता का आरोप किया गया है:

देवो न कश्चिद् भुवनस्य कर्त्ता भर्त्ता न हर्त्ताऽपि च कश्चिद् आस्ते। कर्मानुरूपाणि शुभाशुभानि प्राप्नोति सर्वो हि जनः फलानि। वेदस्या

कर्त्ता न च कश्चिद् आस्ते नित्याः हि शब्दाः रचना हि नित्या। प्रामाण्यम् अस्मिन् स्वतः एव सिद्धम् अनादि सिद्धेः परतः कथं तत्।

"भुवन का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है, और न भुवन का कोई भर्त्ता या हर्त्ता ही है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुरूप ही शुभाशुभ फल प्राप्त करता है। वेद का भी कोई कर्त्ता नहीं क्योंकि इसके शब्द तथा उनकी रचना नित्य है। इसका प्रमाणत्व स्वयं सिद्ध है, क्योंकि यह अनादि सिद्ध है। अत यह अपने अतिरिक्त किसी अन्य पर किस प्रकार निर्भर हो सकता है?"

प्रोफेसर बनर्जी से मुझे यह ज्ञात हुआ है कि मीमांसक भाष्यकार प्रभाकर तथा उनके अनुगामी पूर्वमीमांसा को एक नास्तिक दर्शन के रूप में ग्रहण करते हैं, जब कि कुमारिल उसे एक आस्तिक दर्शन मानते हैं। वास्तव में इस वाद के ग्रन्थकार ने अपने वार्त्तिक, श्लोक १०, के आरम्भ में यह असन्तोष व्यक्त किया है: प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता। ताम् आस्तिक-पथे कर्त्तुम् अयं यत्नः कृतो मया॥ "यतः व्यवहारतः मीमांसा अधिकांश रूप से एक लोकायत (नास्तिक) पद्धति में परिणत हो गया है, अतः इसे आस्तिक पथ पर लाने का यह प्रयास किया है।" सांख्य सूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु द्वारा पद्म पुराण में उद्धृत पंक्तियों को भी देखिये जिन्हे मै आगे उद्धृत करूँगा।

पतञ्जलि के महाभाष्य के एक स्थल द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि इस महान वैयाकरण का मत यह था कि यद्यपि वेद का आशय नित्य है, तथापि इसके शब्दों का क्रम यथावत नहीं रह सका है, और कठ, कलाप तथा अन्य ऋषियों द्वारा इसके इसी क्रम-भेद के कारण विभिन्न श्रुतियाँ इनके नामों के आधार पर जानी जाती हैं।

महाभाष्य तथा उस पर कैय्यट और नागोजिभट्ट की टीकाओं का निम्न अंश मानव कल्पसूत्र की भूमिका (पृ० १४७ और बाद) में गोल्डस्टूकर द्वारा दिये गये उद्धरण से लिया गया है।

पतञ्जलि: ननु च उक्तं "न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि" इति। यद्यप्य् अर्थो नित्यः। या त्व् असौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या तद् भेदाच् च एतद् भवति काठक कालापकम् मौदकम् पैप्पलादकम् इत्यादि···। कैय्यट: "नित्यानि" इति। कर्त्तुर् अस्मरणात् तेषाम् इति भावः। "या त्व् असाव्" इति। महाप्रलयादिषु वर्णानुपूर्वी-विनाशे पुनर् उत्पद्य ऋषयः संस्कारातिशयाद् वेदार्थं स्मृत्वा शब्द-रचनाः विदधति इत्य् अर्थः। "तद्-भेदाद्" इति।

आनुपूर्वी-भेदाद् इत्य् अर्थः। ततश् च कठादयो वेदानुपूर्व्याः कर्त्तारः एव इत्यादि। नागोजिभट्टः अंशेन वेदस्य नित्यत्व स्वीकृत्य अशेन अनित्यत्वम् आह "यद्यप्य् अर्थः" इति। अनेन वेदत्वम् शब्दार्थोभय-वृत्ति-ध्वनित्वम्। ननु "धाता यथा पूर्वम् अकल्पयद्" इत्यादि-श्रुति-बलेन आनुपूर्वी अपि सा एव इति नव्य्-पूर्व-मीमांसा-सिद्धान्तात् सा नित्या इति अयुक्तम् अत आह "महाप्रलयादिष्व्" इति। आनुपूर्व्यास् तत्-तत्-क्षण-घटितत्वेन अनित्यत्वम् इति भावः इति केचित्। तन् न। "यद्यप्य् अर्थो नित्यः" इत्यादि-वाक्य-शेप-विरोधात्। अर्थस्यापि ज्योतिष्टोमादेर् अनित्यत्वात्। प्रवाहाविच्छेदेन नित्यत्वं तु उभयोर् अपि तस्माद् मन्वन्तर-भेदेन आनुपूर्वी भिन्ना एव "प्रति-मन्वन्तरं चैषा श्रुतिर् अन्या विधीयते" इत्य् उक्तेर् इत्य् अन्ये। परे तु। "अर्थो नित्यः" इत्य् अत्र कृतकत्व-विरोध्य्-अनित्यत्वस्य एव अभ्युपगम-पूर्व-पक्षिणा तादृश-नित्यत्वस्य एव छन्दस्सु उक्तेः। एव च अर्थ-शब्देन अत्र ईश्वरः। मुख्यतया तस्य एव सर्व-वेद-तात्पर्य्य-विषय-त्वात्। "वेदैश् च सर्वैर् अहम् एव वेद्यः" इति गीतोक्तेर् इत्य् आहुः। वर्णानुपूर्व्याः अनित्यत्वे मानम् आह "तद्-भेदाच् च" इति। अनि-त्यत्व-व्याप्य-भेदेन तत्-सिद्धिः। भेदोऽत्र नानात्वम्। ईश्वरे तु न नानात्वम्। भेदे मानं व्यवहारम् आह। "काठक" इत्यादि। अर्थैक्येऽप्य् आनुपूर्वी-भेदाद् एव काठक-कालापकादि-व्यवहारः इति भाव.। [अत्र आनुपूर्वी अनित्या इत्य् उक्तेः पदानि तान्य् एव इति ध्वनित्वम्। तद् आह "ततश् च कठाद्यः" इत्यादि। (मानव कल्पसूत्र)

यत' प्रोफेसर गोल्डस्टूकर ने उक्त पतञ्जलि के उद्धरण का ही अनुवाद किया है (अपनी भूमिका में पृ० १४६) और कैय्यट तथा नागोजिभट्ट के स्थलों को अ-अनूदित ही छोड़ दिया है, अतः यहाँ मै प्रथम अंश का उनका, तथा शेष दो का अपना अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ।

पतञ्जलि : "फिर भी क्या यह नहीं कहा गया है कि 'वेद कृत नहीं वरन् नित्य हैं ?' ऐसा ही है; फिर भी, यद्यपि इनका आशय नित्य है, तथापि इनके वर्णों का क्रम सदैव वही नहीं रहा है; और इस द्वितीय पक्ष में अन्तर की दृष्टि से ही हम कठों, कलापों, मुदकों, पिप्पलादकों, इत्यादि की शाखाओं का उल्लेख करते हैं।" पतञ्जलि पर कैय्यट : "'नित्य' शब्द से उनका यह आशय है कि वेद ऐसे ही है, क्योंकि इनके किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जाता। 'इनके वर्णों के क्रम', इन शब्दों से यह तात्पर्य है कि महाप्रल-

यादि के समय वर्णों का क्रम नष्ट हो जाने के कारण, पुनर्सृष्टि के बाद जब ऋषिगण अपने अतिशय संस्कारों के आधार पर वेद के आशय का स्मरण करते हैं तब वह उसके शब्दों के क्रम को पुनः व्यवस्थित करते हैं। 'इसके भेद से' इन शब्दों से वर्णों के क्रम की भिन्नता का तात्पर्य है। फलतः कठ तथा अन्य ऋषिगण वेद के क्रमों के कर्त्ता हैं।" पतञ्जलि और कैय्यट पर नागोजिभट्ट : "वेद के नित्यत्व को अंशतः स्वीकार करते हुये पतञ्जलि ने 'यद्यपि आशय नित्य है' इत्यादि, शब्दों में यह व्यक्त किया है कि वेद अंशतः अनित्य भी हैं। इसका तात्पर्य यह है कि 'शब्द' और 'अर्थ' इन दोनों ही शब्दों से वेदत्व का निर्माण हुआ है। किन्तु क्या क्रम भी नित्य नहीं है, क्योंकि 'विधाता ने यथापूर्व ही इनकी रचना की', इत्यादि श्रुति वाक्यों के आधार पर मीमांसकों का यह निश्चित सिद्धान्त है कि इनका क्रम भी यथावत ही है? नहीं; यह ठीक नहीं है, और इसके फलस्वरूप ही उनका (कैय्यट का) यह कथन है कि 'महाप्रलयादि के समय', इत्यादि। कुछ कहते हैं कि इसका यह तात्पर्य है कि क्रम इसलिये नित्य नहीं है कि इसका किसी क्षणविशेष में निर्माण होता है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह 'यद्यपि इनका आशय नित्य है' इत्यादि वाक्य के निष्कर्ष के विरुद्ध है, और इसलिये भी कि ज्योतिष्टोम यज्ञ इत्यादि जैसे व्यक्त अर्थ भी नित्य नहीं हैं। अन्य का कथन है कि परम्परा के अविच्छिन्न होने के कारण आशय तथा शब्दों का क्रम दोनों ही नित्य है; और फलस्वरूप 'प्रत्येक मन्वन्तर में इस श्रुति का अन्य रूप निर्मित होता है', इस उक्ति के अनुसार अलग-अलग मन्वन्तरों में ही इनका क्रम भिन्न होता है। पुनः, अन्य का विचार है कि 'आशय नित्य है' इत्यादि शब्दों में एक विरोधी द्वारा कर्तृत्व के विचार के विपरीत एक नित्यत्व की स्वीकृति है, क्योंकि वेद में ऐसे ही नित्यत्व का उल्लेख है; और इस प्रकार 'अर्थ' शब्द से यहाँ ईश्वर का तात्पर्य है, क्योंकि भगवद्गीता (१५. १५) के इन शब्दों, कि 'सम्पूर्ण वेद मुझे ही जानना चाहते हैं', के अनुसार सम्पूर्ण वेद में मुख्यतया यही (ईश्वर) प्रतिपाद्य विषय है। इसके बाद 'इसके भेद के द्वारा' इत्यादि शब्दों में वह इस उक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि वर्णों का क्रम नित्य नहीं है। क्रम-भेद अनित्य वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित वस्तुओं के भेद से सिद्ध हो जाता है। भेद का यहाँ 'नानात्व' अर्थ है। किन्तु ईश्वर में नानात्व नहीं है। 'काठक' इत्यादि शब्दों में उन्होंने व्यवहार को भेद का प्रमाण कहा है, जिसका अर्थ यह है कि यद्यपि आशय वही है, तथापि हम क्रम-भेद के कारण काठक, कालापक, इत्यादि का विभेद कहते हैं। क्रम नित्य नहीं है, ऐसा कहने से यहाँ यह

तात्पर्य निहित है कि शब्द वही होते हैं, और 'फलतः कठ तथा अन्य ऋषियों', इत्यादि, (कैय्यट के) शब्दों में यही कहा गया है।"

इन स्थलों का मेरी अपेक्षा और अधिक विस्तृत उद्धरण देते हुये प्रोफेसर गोल्डस्टूकर अपनी टिप्पणी में इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं: "मैंने (पाणिनि के) इस महत्वपूर्ण सूत्र तथा इसके वार्त्तिकों पर तीन प्रमुख भाष्यकारों के भाष्यों का पूरा-पूरा उद्धरण दिया है क्योंकि इनका अनेक दृष्टियों से पर्याप्त महत्त्व है। ...हम यह देखते हैं कि कैय्यट और नागोजिभट्ट दोनों ने ही वेद के विभिन्न शाखा-भेदों का, जो इन विभेदों के विपरीत भी वेद के प्रमाणत्व का समान रूप से प्रतिपादन करते हैं, वेद के नित्यत्व के तथ्य के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की कठिनाई के कारण विषय का तोड-मरोड़ करने का प्रयास किया है। पतञ्जलि ने इस अत्यन्त जटिल प्रश्न को कदाचित् सरल रूप से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है, और जब तक कि इनके द्वारा प्रयुक्त 'वर्ण' (जिसका अर्थ 'अक्षर' है) का 'शब्द' अनुवाद न किया जाय तब तक यह समझना भी कठिन है कि वह वेद के 'अर्थ' के नित्यत्व अथवा स्थायित्व के तथ्य को किस प्रकार सुरक्षित रखते है। अन्य के साथ-साथ नागोजिभट्ट से हमें यह पता लगता है कि मीमासक न केवल 'अर्थ के नित्यत्व' का ही नहीं वरन् मूल-पाठ के स्थायित्व का भी प्रतिपादन करते हैं जो सर्वथा एक ही पाठ मानने के एकाधिकार के समान है। किन्तु इस सिद्धान्त की स्पष्ट कठिनाइयों के कारण, जैसा कि स्वयं नागोजि ने बताया है, न तो प्राचीन मीमांसक ही मानते हैं और न स्वय नागोजि ही। अत नागोजि तथा कैय्यट हमें यह बताते हैं कि, अन्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त, एक ऐसा सिद्धान्त भी है जिसके अनुसार वेद के वर्णों (अथवा कदाचित् 'शब्दों') का क्रम विभिन्न प्रलयों में नष्ट होता रहा, और यतः प्रत्येक मन्वन्तर में इसका एक विशेष रूप से दर्शन किया जाता रहा है जिसमें अर्थ नहीं वरन् वैदिक-पाठ के उच्चारण की दृष्टि से ही भिन्नता थी, अतः इन विभिन्न भाष्यकारों को ज्ञात विभिन्न शाखाये वेद के उन्हीं उत्तरोत्तर दृष्ट रूपों को व्यक्त करती है जिनका अपनी साधना और दिव्य दृष्टि के कारण ऋषियों ने समय-समय पर 'स्मरण' किया था। इस प्रकार, इन ऋषियों ने ही वेद का समय-समय पर इस विधि के आधार पर पुनर्निर्माण करते हुये कठों, कलापों, इत्यादि शाखा-भेदों के रूप में अपने-अपने समयों में प्रचलित किया है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा समान पवित्रता की अधिकारिणी है। इसी विषय पर कुमारिल ने अपने मीमांसा-

वार्त्तिक (१. ३, १०) में एक अत्यन्त मनोरञ्जक विमर्ष प्रस्तुत किया है।"

३. वेदान्त :—अब मै ब्रह्म, शारीरक, अथवा वेदान्त सूत्रों के प्रख्यात प्रणेता बादरायण के वेद के नित्यत्व तथा प्रमाणत्व सम्बन्धी उन तर्कों का उद्धरण दूँगा जिनका शङ्कराचार्य ने अपने शारीरक-मीमांसा-भाष्य में प्रतिपादन किया है। जैसा कि हम देखेंगे, इनके विचार जैमिनि तथा उनकी परम्परा के विचारों के किसी भी प्रकार अनुकूल नहीं हैं। इस समस्या की विवेचना करते हुये कि क्या तीन उच्च वर्णों की अपेक्षा अन्य व्यक्ति भी वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, सूत्रकार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शूद्र अथवा चतुर्थ वर्ण के लोग तो वेद के अधिकारी नहीं हैं किन्तु मनुष्यों से श्रेष्ठ व्यक्तियों, जैसे देवों को, वेदाध्ययन[93] का अधिकार है (कोल० मिस० ए० १. ३४८)। १. ३, २६वें सूत्र में सूत्रकार ने यह निर्णय व्यक्त किया है कि अपने ऐश्वर्य की अनित्यता के कारण देवगण भी मोक्षार्थी होते हैं; साथ ही देवों में इसका सामर्थ्य भी होता है, क्योंकि उनमें शरीरत्व के गुण वर्तमान हैं और उनके लिये किसी कर्म का निषेध भी नहीं है। फिर भी, यह आपत्ति की गई है कि देवगण शरीरी नहीं हो सकते क्योंकि यदि वे ऐसे होते तो ऋत्विकों आदि के समान उन्हें भी स्वरूप के सन्निधान से कर्मों में सशरीर उपस्थित होना पड़ता। किन्तु ऐसे कर्मों के समय देवों को सशरीर उपस्थित नहीं देखा जाता, और वास्तव में ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योंकि, उदाहरण के लिये एक ही होने के कारण इन्द्र एक समय में ही विभिन्न कर्मों या यज्ञों में सशरीर उपस्थित नहीं हो सकते। इस आपत्ति का दो रूपों से (सूत्र १. ३, २७ के अन्तर्गत) समाधान किया गया है: (१) यह मान कर कि देवगण अनेक रूप धारण कर सकते हैं, और एक ही समय में विभिन्न यज्ञों में उपस्थित होते है, यद्यपि मनुष्यों के लिये अदृश्य रहते हैं; अथवा (२) यह मानते हुये कि यतः देवों को (देवों के द्वारा नहीं) यज्ञ समर्पित किये जाते है, अतः एक साथ ही उस देवता को अनेक व्यक्ति उसी प्रकार हवि समर्पित कर सकते हैं जिस प्रकार एक ही ब्राह्मण को एक ही समय अनेक व्यक्ति नमस्कार कर सकते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला गया है कि देवताओं के शरीरी होने के तथ्य की कर्मकाण्ड के साथ असगति नहीं है। इन समस्याओं का समाधान कर लेने के पश्चात शङ्कर, सूत्र १. ३, २८ पर आते हैं :

---

[93] इस समस्या के लिये कि क्या देवगण वेद-विहित यज्ञादि कर्मों को सम्पन्न कर सकते हैं या नही, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग।

"शब्दे इति चेत् । न । अतः प्रभवात् । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" । मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनाम् अभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद् विरोधः प्रसञ्जि । शब्दे तु विरोधः प्रसज्येत । कथम् । औत्पत्तिक हि शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धम् आश्रित्य "अनपेक्षत्वाद्" इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितम । इदानीं तु विग्रहवती देवताऽभ्युपगम्यमाना यद्यप्य् ऐश्वर्य्य-योगाद् युगपद् अनेक-कर्म-सम्बन्धीनि हवींपि भुञ्जीत तथापि विग्रह-योगाद् अस्मद्-आदि-वज् जनन-मरणवती सा इति नित्यस्य शब्दस्य अनित्येन अर्थेन नित्य-सम्बन्धे प्रलीयमाने यद् वैदिके शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्याद् इति चेत् । न अयम् अप्य् अस्ति विरोधः । कस्माद् "अतः प्रभवात्" । अतः एव हि वैदिकात् शब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति । ननु "जन्मादि अस्य यतः" (ब्रह्मसूत्र १. १, २) इति ब्रह्मप्रभवत्व जगतोऽवधारित कथम् इह शब्द-प्रभवत्वम् उच्यते । अपिच यदि नाम वैदिकात् शब्दाद् अस्य प्रभवोऽभ्युपगतः कथम् एतावता विरोधः शब्दे परिहृतः । यावता वसवो रुद्राः आदित्याः विश्वेदेवाः मरुतः इत्य् एतेऽर्थाः अनित्याः एव उत्पत्तिमत्त्वात् । तद्-अनित्यत्वे च तद्-वाचकान वैदिकानां वस्व्-आदि-शब्दानाम् अनित्यत्वं केन वार्य्यते । प्रसिद्धं हि लोके देवदत्तस्य पुत्र उत्पन्ने यज्ञदत्तः इति तस्य नाम क्रियते इति । तस्माद् विरोधः एव शब्दे इति चेत् । न । गवादि-शब्दार्थ-सम्बन्ध-नित्यत्व-दर्शनात् । न हि गवादि-व्यक्तीनाम् उत्पत्तिमत्त्वे तद्-आकृतीनाम् अप्य् उत्पत्तिमत्त्वं स्याद् द्रव्य-गुण-कर्मणां हि व्यक्तयः एव उत्पद्यन्ते न आकृतयः । आकृतिभिश् च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः । व्यक्तीनाम् आनन्त्यात् सम्बन्ध-ग्रहणानुपपत्तेः । व्यक्तिषु उत्पद्यमानास्व् अप्य् आकृतीनां नित्यत्वाद् न गवादि-शब्देषु कश्चिद् विरोधो दृश्यते । तथा देवादि-व्यक्ति-प्रभवाभ्युपगमेऽपि आकृति-नित्यत्वाद् न कश्चिद् वस्व्-आदि-शब्देषु विरोधः इति द्रष्टव्यम् । आकृति-विशेषस् तु देवादीनाम् मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्य्-अवगमाद् अवगन्तव्यः । स्थान-विशेष-सम्बन्ध-निमित्ताश् च इन्द्रादि-शब्दाः सेनापत्यादि-शब्द-वत् । ततश् च यो यस् तत् तत् स्थानम् अधितिष्ठति स स इन्द्रादि शब्दैर् अभिधीयते इति न दोषो भवति । न च इदं शब्द-प्रभवत्वम् ब्रह्म-प्रभवत्व-वद् उपादान-कारणत्वाभिप्रायेण उच्यते । कथ तर्हि स्थिति-वाचकात्मना नित्ये शब्दे नित्यार्थ-सम्बन्धिनि शब्द-व्यवहार-योग्यार्थ-व्यक्ति-निष्पत्तिर् "अतः प्रभवः" इत्य् उच्यते । कथम् पुनर् अवगम्यते शब्दात् प्रभवति जगद् इति । "प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" । प्रत्यक्षं श्रुतिः । प्रामाण्यम् प्रति

अनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः। प्रामाण्यम् प्रति सापेक्षत्वात्। ते हि शब्द पूर्वां सृष्टिम् दर्शयतः। "एते" इति वै प्रजापतिर् देवान् असृजत "असृग्रम्" इति मनुष्यान् "इन्दवः" इति पितॄस् "तिरः पवित्रम्" इति ग्रहान् "आशवः" इति स्तोत्रं "विश्वानि" इति शस्त्रम् "अभिसौभगा" इत्य् अन्याः प्रजाः इति श्रुतिः। तथाऽन्यत्रापि "स मनसा वाचम् मिथुनं समभवद्" (शतपथ ब्राह्मण १०. ६, ५, ४ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् १. २, ४) इत्यादिना तत्र तत्र शब्द-पूर्विका सृष्टिः श्राव्यते। स्मृतिर् अपि "अनादि-निधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इत्य् उत्सर्गोऽप्य् अयं वाचः सम्प्रदाय-प्रवर्त्तनात्मको द्रष्टव्यः अनादि-निधनायाः अन्यादृशस्य उत्सर्गस्य असम्भवात्। तथा "नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्। वेद-शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वर" इति। "सर्वेषां च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश् च निर्ममे" इति च। अपिच चिकीर्षितम् अर्थम् अनुतिष्ठन् तस्य वाचकं शब्दम् पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तम् अर्थम् अनुतिष्ठति इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षम् एतत्। तथा प्रजापतेर् अपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः पश्चात् तद्-अनुगतान् अर्थान् ससर्ज इति गम्यते। तथा च श्रुतिः "स भूर् इति व्याहरन् भूमिम् असृजत"[१४] इत्य्-एवम्-आदिका भूर्-आदि-शब्देभ्यः एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूर्-आदि-लोकान् प्रादुर्भूतान् सृष्टान् दर्शयति। किम्-आत्मकम् पुनः शब्दम् अभिप्रेत्य इदं शब्द-प्रभवत्वम् उच्यते। स्फोटम् इत्य् आह।......तस्माद् नित्यात् शब्दात् स्फोट-रूपाद् अभिधायकात् क्रिया-कारक-फल-लक्षणं जगद् अभिधेय-भूतम् प्रभवतीति।......ततश् च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादि-व्यक्तीनाम् प्रभवः इत्य् अविरुद्धम्।

सूत्र १. ३, २९—"अत एव च नित्यत्वम्"। स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः स्मरणाद् एव हि स्थिते वेदस्य नित्यत्वे देवादि-व्यक्ति-प्रभवाभ्युपगमेन तस्य विरोधम् आशङ्क्य "अतः प्रभवाद्" इति परिहृत्य इदानीं तद् एव वेद-नित्यत्वं स्थितं द्रढयति "अत एव च नित्यत्वम्" इति। अतः एव च नियताकृतेर् देवादेर् जगतो वेद-शब्द-प्रभवत्वाद् एव वेद-शब्द-नित्यत्वम् अपि प्रत्येतव्यम्। तथा च मन्त्र-वर्णः, "यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ताम् अन्वविन्दन्न् ऋषिषु प्रविष्टाम्" इति स्थिताम् एव वाचम् अनुविन्नां दर्शयति। वेदव्यासश् च एवम् एव स्मरति। "युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान्

---

[१४] 'तैत्तिरीय ब्राह्मण २ २, ४, २।'—अनुवादक

सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयम्भुवा" इति (महाभारत १२, २१०, १९)।

"सूत्र १.३, २८ : 'किन्तु ऐसा कहा गया है कि वेदवाक्य में विरोध होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि इससे ही देवताओं की उत्पत्ति होती है, जैसा कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध है।'

"देवता आदि का शरीरत्व स्वीकार करने से कर्म में भले ही कोई विरोध न आवे, किन्तु यह कहा जा सकता है कि शब्द में विरोध होगा। किस प्रकार ? इस प्रकार : अर्थ के साथ शब्द का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानकर 'अनपेक्षत्वात' (मीमांसा सूत्र १.२, २१) सूत्र में वेद के प्रामाण्य की स्थापना की गई है। किन्तु, यद्यपि यह स्वीकार कर लिया गया है कि देवगण, शरीरी है, तथापि यह निष्कर्ष निकलता है कि (अपने ऐश्वर्य योग से वे एक समय में अनेक कर्मों से सम्बद्ध हविषों को ग्रहण कर सकते हैं) शरीर के साथ सम्बन्ध के कारण वे भी हम लोगों के समान जन्म और मृत्यु के अधीन हो जायेंगे, और इसलिये नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध प्रतीयमान होने से वैदिक शब्द में जो प्रामाण्य था उसका अब विरोध हो जायगा। किन्तु यदि कोई ऐसा कहे तो भी यह विरोध नहीं है। किस प्रकार ? 'क्योंकि वे (देवगण) इससे (वैदिक शब्द से) ही उत्पन्न होते हैं।' अतः वैदिक शब्द से ही देव आदि जगत उत्पन्न होता है। किन्तु 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १.१, २) सूत्र में निश्चय किया गया है कि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, तब यहाँ यह कैसे कहते हैं कि शब्द से जगत की उत्पत्ति होती है ? और जब कि वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, और मरुतादि अर्थ उत्पन्न होने के कारण अनित्य ही हैं, तब यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि वैदिक शब्द से इस जगत् की उत्पत्ति होती है, तो इतने मात्र से विरोध का परिहार किस प्रकार हुआ ? क्योंकि, जब वसु आदि अर्थ ही अनित्य हैं तब इनके वाचक वैदिक 'वसु' आदि शब्दों के अनित्यत्व को कौन रोक सकता है ? यह एक लोक-प्रसिद्ध उक्ति है कि 'देवदत्त के पुत्र के उत्पन्न होने पर ही उसका यज्ञदत्त नाम रखा जाता है' (अर्थात् अस्तित्व में आने के पूर्व किसी बालक का नामकरण नहीं होता)। इसलिये शब्द (के नित्यत्व) में विरोध उत्पन्न हो जाता है। फिर भी, यदि कोई ऐसा कहे तो उसका कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'गो' आदि शब्दों तथा उनके अर्थों के बीच का सम्बन्ध नित्य दृष्टिगत होता है। क्योंकि यद्यपि अलग-अलग गायों की उत्पत्ति होती है तथापि उनकी जाति के अस्तित्व

का आरम्भ इन वैयक्तिक गायों से नहीं होता, क्योंकि द्रव्य, गुण, और कर्म ही वैयक्तिक रूप से उत्पन्न होते हैं, द्रव्यत्व आदि जातियाँ नहीं। और शब्दों का सम्बन्ध जातियों के साथ होता है, व्यक्तियों के साथ नहीं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त है और इस कारण इनके साथ शब्दों का सम्बन्ध-ग्रहण नहीं हो सकता। अतः जिस प्रकार व्यक्तियों के उत्पन्न होते रहने पर भी जाति नित्य होती है, उसी प्रकार 'गो' आदि शब्दों में कोई विरोध दृष्टिगत नहीं होता। इसी प्रकार देव आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने पर भी जाति के नित्य होने से 'वसु' आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। मंत्र, अर्थवाद, आदि से देवताओं के शरीर आदि की प्रतीति होने के आधार पर यह भी जानना चाहिये कि उनकी जाति भी है। अथवा, 'सेनापति' आदि शब्दों की ही भाँति 'इन्द्र' आदि शब्द विशिष्ट स्थान या पद के सम्बन्ध में प्रवृत्त होते हैं; इसलिये जो-जो उसी स्थान या पद पर आरूढ़ होता है उस-उस का 'इन्द्र' आदि शब्दों से अभिधान होता है, अतः कोई दोष नहीं है। और 'जगत्' शब्द से उत्पन्न होता है, यह कथन ब्रह्म से उत्पन्न होने के समान उपादान-कारण के अभिप्राय से नहीं है। तब किस अभिप्राय से है? नित्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाला जब नित्य शब्द वाचकस्वरूप से स्थित रहता है, तब ही शब्द-व्यवहार के योग्य अर्थ की निष्पत्ति होती है, इसी आशय में शब्द की उत्पत्ति कही गई है।[९५] पुन., यह कैसे माना जाय कि शब्द से जगत् की उत्पत्ति होती है? उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से। 'प्रत्यक्ष' का अर्थ है श्रुति, क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिये किसी की अपेक्षा नहीं होती। 'अनुमान' का अर्थ है स्मृति क्योंकि उसके प्रामाण्य के लिये श्रुति की अपेक्षा होती है। 'एते' पद से देवताओं का स्मरण करके प्रजापति ने देवताओं की, 'इन्दवः' से पितरों का स्मरण करके पितरों की 'तिरः पवित्रम्' से ग्रहों का स्मरण करके ग्रहों की, 'आशव.' से स्तोत्र का स्मरण करके स्तोत्र की, 'विश्वानि' से शस्त्र का स्मरण करके शस्त्र की, और 'अभिसौभगा' से अन्य प्रजाओं का स्मरण करके अन्य प्रजाओं की सृष्टि की, ऐसी श्रुति है।[९६] इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी यह कहा है कि

---

[९५] मूल लेखक इस वाक्य को अस्पष्ट मानते हैं जिसके कारण उनका अनुवाद भी कुछ अस्पष्ट हो गया है। अतः प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद मे इस वाक्य मे स्पष्टता लाने के लिये मूल लेखक के अंग्रेजी अनुवाद की अपेक्षा भिन्न अनुवाद किया गया, जो अधिक उपयुक्त है।—अनुवादक।

[९६] गोविन्द आनन्द के भाष्य के अनुसार यह स्थल छान्दोग्य ब्राह्मण से लिया गया है। इस स्थल पर प्रयुक्त ऋग्वेद, ९.६२, १ (=सामवेद २.१८०)

'प्रजापति ने मन से वाणी का आलोचन किया', (शतपथ ब्राह्मण १०.६, ५, ४; बृहदारण्यक उपनिषद १.२, ४)। इस तथा इसी समान अन्य स्थलों पर श्रुति शब्दपूर्वक सृष्टि का निर्देश करती है। और जब स्मृति यह कहती है कि 'सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू ने अनादि, अनन्त, नित्य और दिव्य वेदमयी वाणी का उत्सर्ग किया जिससे अन्य सृष्टियाँ उत्पन्न हुईं', तो यहाँ भी 'वाणी के उत्सर्ग' से सम्प्रदाय-प्रवर्तन का ही तात्पर्य है, क्योंकि अनादि अनन्त वाणी का अन्य किसी प्रकार उत्सर्ग नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक अन्य वचन यह है: 'आरम्भ में' महेश्वर ने वेद-शब्दों से ही भूतों के नाम, रूप, और सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति उत्पन्न की'; तथा पुनः, यह कि 'उसने आरम्भ में सबके पृथक्-पृथक् नाम और कर्म, एव अवस्थाओं का वेद-शब्दों से ही निर्माण किया'। और यह हम सब को प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है कि जब कोई पुरुष किसी वस्तु का निर्माण करना चाहता है तो पहले वह उसके वाचक शब्द का स्मरण करता है और तदुपरान्त ही उस वस्तु का

से लिये गये शब्दो की एक रहस्यवादी व्याख्या है। यह शब्द इस प्रकार है: 'एते असृग्रम् इन्दवस् तिर पवित्रम् आशव.। विश्वानि अभि सौभग', अर्थात् 'सोम के यह द्रुतगामी बिन्दु समस्त समृद्धि प्राप्त करने के लिये छनने के भीतर से गिराये गये हैं', (देखिये बेनफे का अनुवाद)। मैं डा० पट्'स द्वारा बनाई गई ऋग्वेद के मन्त्रो के प्रथम शब्दो की अनुक्रमणिका (वेबर: इन्डिशे स्टूडियन भाग, ३, मे मुद्रित) की सहायता से ही यह जान पाया कि यह ऋग्वेद का मंत्र है। इस स्थल पर निम्न टिप्पणी करते हुए गोविन्द आनन्द हमे अपने वेद-व्याख्याता होने का परिचय देते हैं: "इत्य् एतन्-मन्त्र-स्थैः पदैः स्मृत्वा ब्रह्मा देवादीन् असृजत। तत्र 'एते' इति पदम् सर्वनामत्वाद् देवाना स्मारकम् असृग् रुधिरं तत् प्रधाने देहे रमन्ते इति 'असृगाः' मनुष्याः। चन्द्र-स्थानाम् पितॄणाम् इन्दु-शब्दः स्मारकः इत्यादि।" अर्थात् "इस मन्त्र मे स्थित पदो से स्मरण करके ब्रह्मा ने देवता आदि की सृष्टि की: इनमे 'एते' पद सर्वनाम होने से देवताओ का स्मारक है। असृग् अथवा रुधिर-प्रधान देह के अभिमानी मनुष्य हैं क्योकि 'असृग' शब्द मनुष्यो का स्मारक है। 'इन्दु' शब्द चन्द्रमण्डल मे निवास करने वाले पितरो का स्मारक है। 'तिर पवित्र' शब्द सोम-स्थान का अपने मे तिरस्कार करने वाले ग्रहो का स्मारक है। इत्यादि।" ऊपर मूल मे 'असृग्रम्' का अर्थ 'गिराया गया' है। गोविन्द आनन्द इसे नि.सन्देह ठीक-ठीक समझते रहे होंगे, यद्यपि उन्होने इससे एक रहस्यवादी अर्थ निकालना ही आवश्यक समझा।

निर्माण करता है। इसी प्रकार सृष्टि करनेवाले प्रजापति के मन में सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुये और उसके पश्चात् उन्होंने शब्द के अनुगत अर्थों की रचना की, ऐसा समझा जाता है। इसी प्रकार यह वैदिक वचन कि 'उसने 'भू' ऐसा उच्चारण करके पृथिवी की सृष्टि की, मन में प्रादुर्भूत हुये 'भू' आदि शब्दों से ही 'भू' आदि लोकों की सृष्टि व्यक्त करता है। शब्द से जो जगत् की सृष्टि कही गई है वह शब्द को वर्णरूप मानकर कही गई है अथवा स्फोट रूप मानकर? यह कहा गया है कि स्फोट मान कर कही गई है।"

मैं यहाँ इस शब्द की शङ्कर द्वारा की गई विस्तृत विवेचना का उद्धरण नहीं दूँगा। (देखिये कोल० मि० ए० १.३०५ और बाद; वैलनटाइन: क्रिश्चियानिटी कन्ट्रास्टेड विथ हिन्दू फिलॉसफी, पृ० १९२ और बाद; इसी लेखक का महाभाष्य के आरम्भ का अनुवाद, पृ० १०; और महाभाष्य पर प्रो० मैक्समूलर का जर्नल ऑफ जर्मन ओरि० सोसा० ७.१७०, में लेख)। शङ्कर ने अपना निष्कर्ष इस प्रकार व्यक्त किया है: "इसलिये स्फोट रूप नित्य वाचक शब्द से क्रिया, कारक, और फलरूप जगत् उत्पन्न होता है।" अपने इस निष्कर्ष को शङ्कर इन शब्दों में समाप्त करते हैं: "इससे यह सिद्ध हुआ कि नित्य शब्दों से देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है, अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।" इसके बाद सूत्र १.३, २९: "अतः वेदों का नित्यत्व सिद्ध होता है", पर शङ्कर यह मत व्यक्त करते हैं: "कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद की नित्यता सिद्ध हो जाती है। किन्तु यहाँ यह शङ्का की गई है कि देवता आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति मानने से वेद की नित्यता नहीं बन सकती। फिर भी, इस आशङ्का का 'अतः प्रभवात्' से परिहार करके अब पूर्वसिद्ध इसी वेद-नित्यता को 'अत एव च् नित्यत्वम्' से दृढ़ करते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि नियत आकृतिवाले देव आदि जगत् की वेद-शब्द से उत्पत्ति होने के कारण वेद शब्द में नित्यता समझनी चाहिये। इसी प्रकार इस वैदिक वचन से कि 'याज्ञिकों ने पहले यज्ञ द्वारा वेद को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त की, और तत्पश्चात् ऋषियों में विद्यमान उस वेद-रूप वाणी को पाया (ऋग्वेद १०.७१, ३)', यह प्रकट होता है कि पूर्वसिद्ध वेदरूप वाणी की ही प्राप्ति हुई। और इसी प्रकार वेद व्यास (महाभारत १२.२१०, १९) भी कहते हैं कि 'प्राचीन काल में महर्षियों ने ब्रह्मा की अनुज्ञा पाकर युग के अन्त में गुप्त हुये इतिहास सहित वेदों को तप से प्राप्त किया।'

सायण ने अपनी ऋग्वेद-भाष्यभूमिका में ऊपर उद्धृत सूत्र (१.३,२९) तथा एक अन्य सूत्र (१.१, ३) का इन शब्दों में उल्लेख किया है :

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्म-कार्य्यत्वं सूत्रितम्। "शास्त्र-योनित्वाद्" इति। ऋग्वेदादि-शास्त्र-कारणत्वाद् ब्रह्म सर्वज्ञम् इति सूत्रार्थः। बाढम्। न एतावता पौरुषेयत्वम् भवति। मनुष्य-निर्मितत्वाभावात्। ईदृशम् अपौरुषेयत्वम् अभिप्रेत्य व्यवहार-दशायाम् आकाशादि-वद् नित्यत्वम् बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्। "अत एवच नित्यत्वम्" इति।

"किन्तु यह आपत्ति की गई है कि भगवान बादरायण ने 'वही शास्त्र के स्रोत हैं' (ब्रह्मसूत्र १.१, ३), सूत्र में यह बताया है कि वेद की ब्रह्म से उत्पत्ति हुई है। इस सूत्र का यह अर्थ है कि यतः ऋग्वेद तथा अन्य शास्त्रों का कारण ब्रह्म ही है, अतः वह सर्वज्ञ है। यह सत्य है; किन्तु पौरुषेय न होना वेद के अपौरुषेयत्व का प्रमाण नहीं है। स्वयं बादरायण ने ही देवताधिकरण में इस प्रकार के औपरुषेयत्व के अभिप्राय से आकाश आदि की भाँति वेद का नित्यत्व माना है"[१७]

उपरोद्धृत ब्रह्मसूत्र (१.१, ३) पर शङ्कर का भाष्य इस प्रकार आरम्भ होता है :

महतः ऋग्-वेदादेः शास्त्रस्य अनेक-विद्या-स्थानोपबृंहितस्य प्रदीप-वत् सर्वार्थ-द्योतिनस् सर्वज्ञ-कल्पस्य योनिः कारणम् ब्रह्म। न हि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि-लाक्षणस्य सर्वज्ञ-गुणान्वितस्य सर्वज्ञाद् अन्यतः सम्भवोऽस्ति। यद् यद् विस्तरार्थं शास्त्र यस्मात् पुरुष-विशेषात् सम्भवति यथा व्याकरणादि पाणिन्य्-आदेर् ज्ञेयैकदेशार्थम् अपि स

---

[१७] वैशेपिको के अनुसार 'आकाश' की सृष्टि नहीं हुई है (देखिए कणाद सूत्र : २.१, २८ और इस पर शङ्करमिश्र का भाष्य, तथा वेदान्त सूत्र २.३, ३ पर शङ्कराचार्य का भाष्य, 'न हि आकाशस्य उत्पत्ति' सम्भावयितु शक्या श्रीमत्-कणभुग्-अभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु।' अर्थात् "जब तक कणाद के मतानुयायियो मे शक्ति है तब तक आकाश की सृष्टि की कल्पना को सम्भव नही माना जा सकता।") दूसरी ओर वेदान्त सूत्र २ ३, १-७ तैत्तिरीयको के इस कथन के साथ सहमत होते हुये कि 'तस्माद् वै एतस्माद् आत्मन. आकाशः सम्भूत', अर्थात् 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ', आकाश को ब्रह्म से उत्पन्न मानता है।

ततोऽप्य् अधिकतर-विज्ञानः इति प्रसिद्धं लोके। किमु वक्तव्यम् अनेक-शाखा-भेद-भिन्नस्य देव-तिर्यङ्-मनुष्य-वर्णाश्रमादि-प्रविभाग-हेतोर् ऋग्-वेदाद्-आख्यस्य सर्व-ज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेन एव लीला-न्यायेन पुरुष-निश्वास-वद् यस्माद् महतो भूताद् योनेः सम्भवः। ("अस्य महतो-भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्-वेदः" इत्य्-आदेः श्रुतेस्) तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च इति (ब्रह्मसूत्र १.१, ३ पर शाङ्कर भाष्य)।

"अनेक विद्यास्थानों से उपकृत, प्रदीप के समान समस्त अर्थों के प्रकाशन में समर्थ, और सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि रूपी सर्वज्ञ गुण-सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य से नहीं हो सकती। जब किसी व्यक्ति द्वारा किसी विषय पर कोई विस्तृत शास्त्र रचा जाता है, जैसे पाणिनि तथा अन्य द्वारा रचे गये व्याकरण आदि,—यद्यपि चाहे इन शास्त्रों का विषय-वस्तु ज्ञान के किसी एक क्षेत्र से ही सम्बद्ध हो—तब, ऐसी लोक-प्रसिद्धि है कि वह रचयिता पुरुष अपने रचित शास्त्र से अधिक ज्ञानवान होता है।[९८] अतः अनेक शाखा-भेद से भिन्न, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम, आदि विभागों का हेतु, सर्वज्ञान का आकार, तथा जिसके महान् सत्ययोनि से ऋग्वेद आदि का अनायास ही लीलान्याय से पुरुष-निःश्वास के समान सृजन हुआ है (श्रुति के अनुसार ऋग्वेद इसी महान्

---

[९८] डा० बैलनटाइन (वेदान्त सूत्र, पृ० ८) इन अन्तिम शब्दो का इस प्रकार अनुवाद करते हैं: "वह व्यक्ति, अपनी कृति की दृष्टि से भी, अत्यधिक ज्ञानवान प्रतीत होता है।" किन्तु गोविन्द आनन्द की टीका मेरे अनुवाद की ही पुष्टि करती है। उनकी टीका का कुछ अश इस प्रकार है: 'यद् यच् छास्त्रं यस्माद् आप्तात् सम्भवति स ततः शास्त्राद् अधिकार्थ-ज्ञानः इति प्रसिद्धम्।' अर्थात्, "यह सुविदित है कि कोई भी विद्वान् कृतिकार जो शास्त्र की रचना करता है, अपने रचित शास्त्र की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है।" यहाँ निहित विचार बिशप बटलर के द्वितीय सर्मन, 'अपॉन, दि लव ऑफ गॉड', के बहुत कुछ समान हैं, यथा "यदि हम किसी कृति को भली प्रकार जान भी ले तो वह हमे ज्ञान तथा शक्ति का एक अपूर्ण-सा आभास देगी; उस व्यक्ति के सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नहीं जिसमे वह निहित थी।"· "यह इस कथन से अधिक और कुछ नही कि सृष्टिकर्त्ता अपनी सृष्टि से कही अधिक श्रेष्ठ होता है।"

भूत का निःश्वास है) उस महान्, सत्ययोनि के निरतिशय सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व के सम्बन्ध में कहना ही क्या है।"[९९]

ऊपर अन्त में उद्धृत सूत्र से यह स्पष्ट है कि वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त के सिद्धान्तों में अन्तर है क्योंकि प्रथम ब्रह्म से वेद की उत्पत्ति के विषय में सर्वथा मौन है, जब कि द्वितीय में इसका ही प्रतिपादन किया गया है। यह भी देखा जा सकता है कि ब्रह्मसूत्र द्वारा प्रतिपादित वेद की नित्यता को सायण ने सर्वथा नहीं वरन् एक विशिष्ट प्रकार की नित्यता के अर्थ में ही ग्रहण किया है।

यहाँ मैं यह कहना उचित समझता हूँ कि अपने द्वारा उद्धृत वैदिक स्थलों की विवेचना में ब्रह्म-सूत्र के रचयिता बादरायण तथा उनके भाष्यकार शङ्कराचार्य की पद्धतियाँ वेद को प्रमाण मानने के सिद्धान्त के अनुकूल हैं। सूत्रों में निहित तथा उसके भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित और समर्थित सिद्धान्तों को वेद पर आधारित किया गया है; और अपनी पुष्टि के लिये इन लोगों ने अनेक ग्रन्थों का उद्धरण दिया है। ऐसे स्थलों को, जो सूत्रों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के समान हैं, उनके मुख्य आशय में ही ग्रहण किया गया है; जब कि वेदान्त के विरुद्ध तथा अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुकूल प्रतीत होनेवाले स्थलों को या तो केवल 'गौण' अथवा 'भाक्त' बताया गया है अथवा उनकी एक भिन्न व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिये देखिये शाङ्करभाष्य सहित ब्रह्मसूत्र १. १, ६; २. ४, और बाद, इत्यादि। धर्म ग्रन्थों की विभिन्न उक्तियों में किसी वास्तविक असंगति को एक क्षण के लिये भी स्वीकार नहीं किया गया है।[१००] फिर भी वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों, और यहाँ

[९९] भाष्यकार ने इस सूत्र का एक वैकल्पिक अर्थ भी दिया है जिसके अनुसार इसका अर्थ यह होगा : "ऋग्वेद इत्यादि शास्त्र वह स्रोत, वह कारण, वह प्रमाण हैं जिनके आधार पर ही हम इस ब्रह्म के ठीक-ठीक स्वरुप का निर्णय करते हैं।' (अथवा यथोक्तम् ऋग्वेदादि-शास्त्र योनिः कारणम् प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे)।

[१००] देखिये ब्रह्मसूत्र ३ ३१, पर शङ्कर, जहाँ उनका यह कथन है : "यदि पुनर् एकस्मिन् ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषाम् एकम् अभ्रान्तम् भ्रान्तानि इतराणि इत्य् अनश्वास-प्रसङ्गो वेदान्तेषु तस्माद् न तावत् प्रतिवेदान्तम् ब्रह्म-विज्ञान-भेदः आशङ्कितुं शक्यते।" अर्थात् "पुनः यदि विभिन्न वेदान्तों (अर्थात् उपनिषदों) में एक ब्रह्म के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाओं की स्थापना की जाती है तो इनमें एक ही

तक कि उपनिषदों के विभिन्न रचयिताओं द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति तथा ईश्वर और विश्व के परस्पर सम्बन्ध के संन्दर्भ में अपने अस्पष्ट और अव्यवस्थित विचारों तथा अनुमानों की मुक्त अभिव्यक्ति, और उनके द्वारा किसी आस्तिक सिद्धान्त-विशेष के प्रति अपने को आबद्ध करने के लिये किसी प्रतिमान को स्वीकार न करने के कारण, उनके द्वारा परस्पर असंगत ऐसे अनेक प्रकार के विचारों का प्रतिपादन अनिवार्य था। किन्तु, यतः बाद के समय में वेदों को अपौरुषेय तथा स्वयं-प्रमाण माना जाने लगा, अतः यह भी आवश्यक हो गया कि विश्व और सृष्टि के सम्बन्ध में इनके (वेदों के) विषय-वस्तु द्वारा एक संगत-सिद्धान्त को विकसित करनेवाले व्यवस्थित धर्मशास्त्री यह दिखाने का भी प्रयास करें कि विभिन्न ग्रन्थों में लचित होनेवाली परस्पर असंगतियाँ या कमियाँ केवल आभास मात्र ही है।

खण्ड ६—वेदों के प्रमाण्य के पक्ष किन्तु शब्द के नित्यत्व के विपक्ष में न्याय, वैशेषिक और सांख्य दर्शनों के अनुयायियों के तर्क।

१—न्याय—जैसा कि हम मीमांसक भाष्यकारों के उद्धरणों के आधार पर देख चुके हैं, न्याय मतानुयायी शब्द की नित्यता को अस्वीकार करते हैं। गोतम के न्याय-सूत्र की विश्वनाथ भट्टाचार्य ने अपनी न्याय-सूत्रवृत्ति, २.२, १३ में जैसी व्याख्या की है उसके अनुसार इस विषय की विवेचना का आरम्भ इस प्रकार होता है :

वेदस्य प्रामाण्यम् आप्त-प्रामाण्यात् सिद्धम्। न च इदं युज्यते वेदस्य नित्यत्वाद् इत्य् आशङ्कायां वर्णानाम् अनित्यत्वात् कथं तत्-समुदाय-रूपस्य वेदस्य नित्यत्वम् इत्य् आशयेन शब्दानित्यत्व-प्रकरणम् आरभते। तत्र सिद्धान्त-सूत्रम्। "आदिमत्त्वाद् ऐन्द्रियकत्वात् कृतकत्वाद् उपचाराच् च"। शब्दोऽनित्यः इत्यादिः। आदिमत्त्वात् सकारणकत्वात्। ननु न सकारणकत्वं कण्ठ-ताल्व्-आद्य्-अभिघातादेर् व्यञ्जकत्वेनाप्य् उपपत्तेर् अतः आह ऐन्द्रियकत्वाद् इति सामान्यवत्त्वे सति वहिर्-इन्द्रिय-जन्य-लौकिकिक-प्रत्यक्ष-विषयत्वाद् इत्य् अर्थः। ..... अप्रयोजकत्वम् आशङ्क्य आह कृतकेति। कृतके घटादौ यथा उपचारो ज्ञानं तथैव कार्य्यत्व-प्रकारक-प्रत्यक्ष-विषयत्वाद् इत्य् अर्थः। तथा च

ठीक होगी और शेष त्रुटिपूर्ण, और इस प्रकार अप्रामाणिकता का दोष उपनिषदो पर भी प्रक्षिप्त हो जायगा। अत यह कदापि नही मानना चाहिये कि विभिन्न उपनिषदो मे ब्रह्म के सम्बन्ध मे पृथक्-पृथक् धारणाये हो सकती हैं।"

[illegible] सामान्यवत्त्वे [illegible] प्रत्यक्षत्वाद् अनित्यत्वम् इव सिद्धति ([illegible] भाष्यकर्ता न्यायसूत्रवृत्ति २ २, १३, और बाद)।

"[illegible] सिद्ध किया जा चुका है (६८वें सूत्र में, देखिये नीचे) कि 'वेद [illegible] ऋषियों के प्रामाण्य द्वारा सिद्ध होता है जिन्होंने इसका निर्माण किया है।' किन्तु यहाँ यह आपत्ति की जा सकती है कि नित्य [illegible] वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये यह आधार उपयुक्त नहीं है। इसका विरोध करते हुये यह सिद्ध करने के लिये कि शब्द, वर्ण [illegible], क्योंकि वे वर्णों के संघात मात्र हैं, नित्य नहीं हो सकते, सूत्रकार शब्द के अनित्यत्व का प्रकरण आरम्भ करता है। इससे सम्बद्ध सिद्धान्त-सूत्र इस प्रकार है : 'शब्द नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि (१) इसकी उत्पत्ति होती है, (२) यह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, और (३) इसे कृत्रिम कहा जाता है।' शब्द अनित्य, इत्यादि है, क्योंकि (१) इसका एक आरम्भ है, अर्थात् यह [illegible] है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि इसका कोई कारण नहीं है, क्योंकि मीमांसकों के सिद्धान्त के अनुसार कण्ठ और तालु आदि इसके (शब्द के) केवल [illegible] मात्र हैं इसका सृजन नहीं करते। इस आपत्ति के उत्तर में कहा गया है कि (२) शब्द को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता, क्योंकि [illegible], इसकी एक जाति होती है, तथापि यह लौकिक आशय में बाह्येन्द्रियों के [illegible] का विषय है।" (यहाँ भाष्यकार द्वारा एक [illegible] की गई है जिसको मैंने उद्धृत नहीं किया है)। [illegible] "इसके बाद, यह निष्कर्ष निकालते हुये कि [illegible] परिभाषा को यथा-तथ्य नहीं माना जा सकता, भाष्यकार इस प्रकार से लिखता है। 'पुनः इसे कृत्रिम कहा गया है' [illegible] आदि को उत्पादित वस्तुयें कहते, या जानते हैं, [illegible] शब्द को भी [illegible] के आधार पर उत्पादित वस्तु माना जा सकता है। [illegible] सामान्यवत्त्वे [illegible] प्रत्यक्षत्व के [illegible] सिद्ध होता है कि यह नित्य नहीं हो सकता।" (इसके [illegible] अन्य व्याख्यायें दी गई हैं)।

इस विषय के विस्तृत विवरण का अध्ययन करने के लिये पाठकों से [illegible] सूत्र-अनुवाद को [illegible] आग्रह करते हुये मैं [illegible] सूत्रकार के [illegible] निष्कर्षों को ही उद्धृत [illegible] ५३वें सूत्र के निष्कर्ष पर जो ६८वें सूत्र में इस [illegible] है

"प्राग् उच्चारणाद् अनुपलम्भाद् आवरणाद्य्-अनुपलब्धेः"। शब्दो यदि नित्यः स्याद् उच्चारणात् प्राग् अप्य् उपलभ्येत श्रोत्र-सन्निकर्ष-सत्त्वात्। न च अत्र प्रतिबन्धकम् अस्ति इत्य् आह आवरणेति आवरणादेः प्रतिबन्धकस्य अनुपलब्ध्या अभाव-निर्णयात्। देशान्तरगमनं तु शब्दस्य अमूर्त्तत्वाद् न सम्भाव्यते। अतीन्द्रियानन्त-प्रतिबन्धकत्व-कल्पनाम् अपेक्ष्य शब्दानित्यत्व-कल्पना एव लघीयसी इति भावः (न्याय सूत्र २.२, १८, और उस पर वृत्ति)।

"शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि न तो उच्चारण के पूर्व इसकी उपलब्धि होती है और न हमें किसी ऐसे आवरण का ही प्रत्यक्ष होता है जो इसे ढँके हो। यदि शब्द नित्य होता, तो कान के साथ इसके सम्पर्क के कारण उच्चारण के पूर्व भी इसकी उपलब्धि होती। (जैसी कि डा० बैलनटाइन ने व्याख्या की है: 'शब्द सर्वव्यापी आकाश का गुण है')। और बाद के शब्दों में सूत्रकार यह कहता है कि इसके इस प्रकार सुने जाने में कोई अवरोध भी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के किसी अवरोधक का प्रत्यक्ष न होने से इसके अनस्तित्व का निर्णय हो जाता है। और अमूर्त्त होने के कारण शब्द के देशान्तर गमन की भी सम्भावना नहीं है। शब्द के अनित्यत्व की कल्पना इस कल्पना से कहीं सरल है कि इसके प्रत्यक्षीकरण में अनेक इन्द्रियान्तर प्रतिबन्ध हैं।'

२२वें और २३वें सूत्र, तथा इन पर टीका के कुछ अंश इस प्रकार हैं:

"अस्पर्शत्वात्"। शब्दो नित्यः। अस्पर्शत्वाद् गगन-वद् इति भावः। "न कर्मानित्यत्वात्" अस्पर्शत्वं न शब्द-नित्यत्व-साधकं कर्मणि व्यभिचारात् (न्याय सूत्र २. २, २२-२३, और इस पर वृत्ति)।

"आकाश की ही भाँति अस्पर्शत्व के गुण से युक्त होने के कारण शब्द को भी नित्य कहा जा सकता है। किन्तु यह कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि शब्द का अस्पर्शत्व उसके नित्यत्व को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यह दोनों गुण सदैव साथ-साथ नहीं रहते। अस्पर्शत्व, यद्यपि पहले से बताया जा सकता है, जैसे कर्म का, तथापि यह इसके नित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है।"

२.२, ३३ तथा उसके बाद के सूत्र इस प्रकार हैं:

३३. "विनाश-कारणानुपलब्धेः"। ३४. "अश्रवण-कारणानुपलब्धेः सतत-श्रवण-प्रसङ्गः"। यद्य् अप्रत्यक्षाद् अभाव-सिद्धिस् तदाऽश्रवण-कारणस्य अप्रत्यक्षत्वाद् अश्रवणं न स्याद् इति सतत-श्रवण-प्रसङ्गः

इति भावः। ३५. "उपलभ्यमाने च अनुपलब्धेर् असत्त्वाद् अनपदेशः"। अनुमानादिना उपलभ्यमाने विनाश-कारणे अनुलब्धेर् अभावात् त्वदीयो हेतुर् अनपदेशः असाधकः असिद्धत्वात् । जन्य-भावत्वेन विनाश-कल्पनम् इति भावः।

"यह कहा गया है (३३वां सूत्र) कि 'शब्द को नित्य ही होना चाहिये, क्योंकि इसके विनाश के किसी कारण की उपलब्धि नहीं होती।' इसका उत्तर यह है (३४ वाँ सूत्र) कि, प्रथमतः 'यदि अश्रवण के किसी कारण के अभाव को केवल उसके अप्रत्यक्षत्व के आधार पर ही मान लिया जाय तो ऐसे अप्रत्यक्षत्व का अर्थ सतत् श्रवण होगा, जो एक असंगति होगी।' और (३५ वाँ सूत्र) द्वितीयतः, 'इस प्रकार का अप्रत्यक्षत्व सत्य नहीं है क्योंकि शब्द के विनाश के कारण का प्रत्यक्ष होता है, अत. उक्त तर्क निरर्थक है।' यतः शब्द के विनाश के कारण का अनुमान इत्यादि के आधार पर पता लग सकता है, और इस प्रकार किसी कारण का अप्रत्यक्षत्व असत्य सिद्ध हो जाता है, अतः आपका यह तर्क कुछ भी सिद्ध नहीं करता क्योंकि इसकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। तात्पर्य यह है कि शब्द के उत्पन्न होने के तथ्य के आधार पर हम यह मान लेते हैं कि इसका विनाश भी हो सकता है।"

२.२. ३९-५० सूत्रों का विषय यह है कि वर्ण परिवर्तित हो सकते हैं अथवा नहीं (इस विषय का ऊपर पृष्ठ ८०-८२ पर मीमांसा के १०वें और १६वें सूत्रों में विवेचन किया जा चुका है)। गोतम का निष्कर्ष यह है कि किसी वर्ण के द्रव्य में विकार नहीं हो सकता, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि लघु अथवा दीर्घ होने के कारण इनके गुण में विकार आ जाता है।

२.१, ५७-६८ सूत्रों में गोतम ने वेद का विवेचन, तथा इसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में की गई कुछ आपत्तियों का प्रतिवाद किया है। मैं इनमें से अधिकांश सूत्रों तथा इनकी वृत्तियों को डा० वैलनटाइन की अपेक्षा और अधिक विस्तार से उद्धृत करूँगा।

शब्दस्य दृष्टादृष्टार्थकत्वेन द्वैविध्यम् उक्तं तत्र च अदृष्टार्थक-शब्दस्य वेदस्य प्रामाण्यम् परीक्षितुम् पूर्व-पक्षयति। ५७ "तद्-अप्रामाण्यम् अनृत-व्याघात-पुनरुक्त-दोषेभ्यः"। तस्य दृष्टार्थक-व्यतिरिक्त-शब्दस्य वेदस्य अप्रामाण्यम्। कुतः। अनृतत्वादि-दोषात्। तत्र च पुत्रेष्टि-कार्यादौ क्वचित् फलानुत्पत्तिदर्शनाद् अनृतत्वम्। व्याघातः पूर्वापर-विरोधः। यथा "उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति समयाध्युषिते जुहोति। श्यावो-

ऽस्य आहुतिम् अभ्यवहरति य उदिते जुहोति शवलोऽस्य आहुतिम् अभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति श्याव-शवलाव् अस्य आहुतिम् अभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" अत्र च उदितादि-वाक्याणां निन्दानुमितानिष्ट-साधनता-बोधक-वाक्य विरोधः। पौनरुक्त्याद् अप्रामाण्यम्। यथा "त्रिः प्रथमाम् अन्वाह। त्रिर् उत्तमाम् अन्वाह"। इत्य् अत्र उत्तमत्वस्य प्रथमत्व-पर्यवसानात् त्रिः कथनेन च पौनरुक्त्यम्। एतेषाम् अप्रामाण्ये तद्-दृष्टान्तेन तद्-एक कर्त्तृकत्वेन तद्-एक जातीयत्वेन वा सर्व-वेदाप्रामाण्यं साधनीयम् इति भावः। सिद्धान्त-सूत्रम्। ५८. "न कर्म-कर्त्तृ-साधन-वैगुण्यात्"। न वेदाप्रामाण्यं कर्म-कर्त्तृ-साधन-वैगुण्यात् फलाभावोपपत्तेः। कर्मणः क्रियायाः वैगुण्यम् अयथाविधित्वादि। कर्त्तुर् वैगुण्यम् अविद्वत्त्वादि। साधनस्य हविर्-आदेर् वैगुण्यम् आप्रोक्षितत्वादि। यथोक्त-कर्मणः फलाभावे ह्य् अनृतत्वम्। न च एवम् अस्ति इति भावः व्याघातम् परिहरति। ५९. "अभ्युपेत्य काल-भेदे दोष-वचनात्"। न व्याघातः इतिः शेषः। अग्न्य्-आधान-काले उदित-होमादिकम् अभ्युपेत्य स्वीकृत्य अनुदित-होमादि-करणे पूर्वोक्त-दोष-कथनाद् न व्याघातः इत्य् अर्थः। पौनरुक्त्यम् परिहरति। ६०. "अनुवादोपपत्तेश् च"। चः पुनर् अर्थे। अनुवादोपपत्तेः पुनर् न पौनरुक्त्यम्। निष्प्रयोजनत्वे हि पौनरुक्त्यं दोषः। उक्त-स्थले त्व् अनुवादस्य उपपत्तेः प्रयोजनस्य सम्भवात्। एकादश-सामिधेनीनाम् प्रथमोत्तमयोस् त्रिर् अभिधाने हि पञ्चदशत्वं सम्भवति। तथा च पञ्चदशत्वं श्रूयते। "इमम् अहम् भ्रातृव्यम् पञ्चदशावरेण वाग्-वज्रेण च बाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" इति। अनुवादस्य सार्थकत्वं लोक-प्रसिद्धम् इति आह। ६१. "वाक्य-विभागस्य च अर्थ-ग्रहणात्"। वाक्य-विभागस्य। अनुवादत्वेन विभक्त-वाक्यस्य अर्थ-ग्रहणात् प्रयोजन-स्वीकारात्। शिष्टैर् इति शेषः। शिष्टाः हि विधायकानुवादकादि-भेदेन वाक्यां विभज्य अनुवादकस्यापि सप्रयोजनत्वम् मन्यन्ते। वेदेऽप्य् एवम् इति भावः। एवम् अप्रामाण्य-साधकं निरस्य प्रामाण्यं साधयति। ६२. "मन्त्रायुर्वेद-वच् च तत्-प्रामाण्यम् आप्त-प्रामाण्यात्।" आप्तस्य वेदकर्त्तुः प्रामाण्याद् यथार्थोपदेशकत्वाद् वेदस्य तद्-उक्तत्वम् अर्थाल् लब्धम्। तेन हेतुना वेदस्य प्रामाण्यम् अनुमेयम्। तत्र दृष्टान्तम् आह मन्त्रायुर्वेद-वद् इति। मन्त्रो विषादि-नाशकः। आयुर्वेद-भागश् च वेद-स्थः एव। तत्र संवादेन प्रामाण्य-ग्रहात् तद्-दृष्टान्तेन वेदत्वावच्छेदेन प्रामाण्यम् अनुमेयम्।

आप्तं गृहीतम् प्रामाण्यं यत्र स वेदस् तादृशेन वेदत्वेन प्रामाण्यम् अनुमेयम् इति केचित्।

"यहाँ कहा जा चुका है (न्यायसूत्र १. १. ८) कि शाब्दिक प्रमाण दो प्रकार का होता है, (१) दृष्टार्थक, और (२) अदृष्टार्थक। अदृष्टार्थक अथवा वेद से सम्बद्ध शब्द के प्रामाण्य की परीक्षा करने की दृष्टि से गोतम पूर्वपक्ष का वर्णन करते हैं। सूत्र ५७—'वेद में कोई प्रामाणिकता नहीं है क्योंकि इसमें मिथ्यत्व, व्याघात, और पुनरुक्ति के दोष विद्यमान हैं।' वह शब्द-प्रमाण जो दृष्टार्थकता, अर्थात् वेद से भिन्न है वह प्रामाण्य नहीं है। क्यों? क्योंकि इसमें मिथ्यत्व इत्यादि के दोष होते हैं। इन दोषों में से 'मिथ्यत्व' की इस तथ्य द्वारा सिद्धि हो जाती है कि हम कभी-कभी पुत्रेष्टि इत्यादि कर्मों का कोई फल नहीं देखते। पूर्वापर-विरोध को 'व्याघात' कहते हैं। इस प्रकार वेद कहता है कि 'वह सूर्योदय के समय यज्ञ करता है, वह सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करता है; वह ऐसे समय में यज्ञ करता है जब न तो सूर्य ही दिखाई पड़ते हैं और न तारागण ही।'[१०१] एक श्याव (कुत्ता?) उसकी हवि ले जाता है जो सूर्योदय के बाद यज्ञ करता है; एक शबल (कुत्ता?) उसकी हवि ले जाता है जो सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करता है।'……अब यहाँ 'उदितादि' वाक्यों तथा उन निन्दात्मक वाक्यों में विरोध है जो इन यज्ञों को अनिष्टकर बताते हैं। पुनः वेद का अप्रामाण्यत्व पुनरुक्ति दोष के कारण भी है, जैसे कहीं कहा गया है कि 'वह प्रथम का तीन वाचन करता है, वह अन्तिम का तीन वाचन करता है।' यतः यहाँ उत्तमत्व का प्रथमत्व के साथ पर्यवसान हो जाता है (?) और यतः यहाँ 'त्रि' कथन को दुहराया गया है, अतः इस वाक्य में पुनरुक्ति दोष है। अब, यतः इन विशेष वाक्यों में प्रामाण्य नहीं है, अतः इनके दृष्टान्त के आधार पर सम्पूर्ण वेद का अप्रामाण्यत्व सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि इसके अन्य सभी अंशों के कर्ता एक ही हैं, अथवा यह सब एक-जातीय हैं।"

इसके बाद सिद्धान्त सूत्र (५८वाँ) आता है: "वेद में अप्रामाण्यत्व नहीं है; वास्तव में कर्म, अथवा कर्म करनेवाले, अथवा साधनों में दोष के कारण ही किसी यज्ञ में फल का अभाव होता है।' कर्म में विधि की अयथार्थता आदि दोष होते हैं। कर्त्ता में अज्ञान आदि दोष होते हैं। साधन,

[१०१] यहाँ प्रयुक्त 'समयाध्युषित' शब्द का अनुवाद करने मे मूल लेखक (मूइर) ने अपने को असमर्थ कहा है। फिर भी इसका हिन्दी अनुवाद कर दिया गया है।

—अनुवादक।

अर्थात् हविष्य आदि में अप्रोक्षितत्व आदि दोष होते हैं। अतः वेद पर मिथ्यत्व का आक्षेप उसी दशा में किया जा सकता है जब यथोक्त कर्मानुसार यज्ञ करने पर भी फल की प्राप्ति न हो; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।"

इसके बाद वेदों पर व्याघात के आक्षेप का परिहार करते हैं: "(५९वाँ सूत्र)—'यहाँ कोई व्याघात नहीं है, क्योंकि उसी दशा में व्याघात का आरोप होगा जब पूर्वोद्दिष्ट से भिन्न समय पर यज्ञ किया जाय।' इन यज्ञों पर आरोपित दोष उसी दशा में सिद्ध हो सकता है जब अग्न्याधान के समय सूर्योदय के बाद यज्ञ करने का निश्चय कर लेने के पश्चात् कोई उसे सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करने के समय में परिवर्तित कर दे। अतः उक्त स्थल पर कोई व्याघात नहीं है।"

इसके बाद वह पुनरुक्ति के आक्षेप का परिहार करते हैं। "(६०वाँ सूत्र) 'वेद में पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि पुनरुक्ति सप्रयोजन हो सकती है।' 'च' का अर्थ 'पुनः' है। 'पुनः, पुनरुक्ति की सप्रयोजनता के कारण पुनरुक्ति-दोष नहीं होता', क्योंकि पुनरुक्ति उसी दशा में दोष होती है जब वह निरर्थक होती है। किन्तु उक्त स्थल पर पुनरुक्ति की सप्रयोजनता के कारण उसकी उपयोगिता स्पष्ट है, क्योंकि, तब ग्यारह सामिधेनियों में से प्रथम तथा अन्तिम में से प्रत्येक को तीन-तीन बार दुहराने से मन्त्रों की सम्पूर्ण संख्या पन्द्रह[१०२] हो जायगी। तदनुसार वेद में इसी पन्द्रह की संख्या को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है: 'जो हमसे द्वेष रखता है और जिससे हम द्वेष रखते हैं उस शत्रु पर हम पन्द्रह मन्त्रों में से अन्तिम से, तथा अपने वाग्-वज्र से प्रहार करते हैं'।"

इसके बाद वह यह बताते हैं कि पुनरुक्ति का सार्थकत्व लोकप्रसिद्ध है। "(६१वाँ सूत्र) 'और वेद में पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि इस वाक्य के इस विभाजन की सार्थकता को स्वीकार किया जा चुका है', अर्थात् वाक्य के इस विभाजन के अर्थग्रहणात्मक प्रयोजन को विद्वानों ने स्वीकार किया है; क्योंकि वाक्य का 'विधायक', 'अनुवाद' आदि भेदों के अन्तर्गत विभाजन करके विद्वानों ने 'अनुवाद' (पुनरुक्ति) के सप्रयोजनत्व को भी मान लिया है। और वेद के लिये भी यही स्थिति है।"

---

[१०२] यदि कुल मंत्रो की संख्या ग्यारह है, और इनमे से दो को तीन-तीन बार दुहराया जाता है तो हमे (२ × ३) = ६ को उन नौ मे जोडना होगा जो दो के अतिरिक्त ग्यारह मे से बच जाती हैं, और इस प्रकार कुल संख्या (६ + ९) = १५ हो जाती है।

इसके बाद सूत्रकार ६२–६७ सूत्रों में वेदों में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के वाक्यों का वर्णन और उनकी परिभाषा देता है और उनके अनुवचन के औचित्य का समर्थन करता है। 'वेद के अप्रामाण्यत्व सम्बन्धी तर्कों को इस प्रकार निरस्त करने के पश्चात् वह वेद के प्रामाण्यत्व को सिद्ध करते हैं: (६८वाँ सूत्र)—'मन्त्रों और आयुर्वेद के समान ही वेद का प्रामाण्य भी उन आप्तजनों के प्रामाण्य का परिणाम है जिन्होंने इसकी (वेद की) रचना की है।' यतः आप्त वेदकर्त्ता प्रामाण्य से युक्त होता है, अर्थात् वह यथार्थ का उपदेश करता है, अतः उक्तियों की शक्ति से यह सिद्ध होता है कि वेद का उच्चारण भी इसी प्रकार के व्यक्तियों ने किया था; और इस तर्क के आधार पर वेद के प्रामाण्य का अनुमान किया जाना चाहिये। वह मन्त्रों और आयुर्वेद के दृष्टान्त द्वारा इसको सिद्ध करते हैं। 'मन्त्र' से ऐसे वाक्यों का तात्पर्य है जो विष आदि का नाश करते हैं, और आयुर्वेद कहा जानेवाला भाग वेद का ही अंश है। अब, यतः इन दो वर्ग की रचनाओं के प्रामाण्य को सामान्य रूप से ग्रहण कर लिया गया है, अतः इस दृष्टान्त के आधार पर वेदवत् समस्त वस्तुओं के प्रामाण्य का अनुमान करना चाहिये। फिर भी, कुछ लोग सूत्र की इस प्रकार व्याख्या करते हैं: वेद वह है जिसमें प्रामाण्य उपलब्ध अथवा गृहीत होता है। इस प्रकार के वेदत्व के आधार पर किसी भी कृति के प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है।"

मैं यहाँ वात्स्यायन द्वारा किये गये इस सूत्र के और अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत भाष्य का उद्धरण दे रहा हूँ।

किम् पुनर् आयुर्वेदस्य प्रामाण्यम्। यद् आयुर्वेदेन उपदिश्यते इदं कृत्वा इष्टम् अधिगच्छति इदं वर्ज्जयित्वाऽनिष्टं जहाति तस्य अनुष्ठीयमानस्य तथा-भाव सत्यार्थता-ऽविपर्य्ययः। मन्त्र-पदानां च विष-भूताशनि-प्रतिषेधार्थानाम् प्रयोगेऽर्थस्य तथा-भाव. एतत् प्रामाण्यम्। किं कृतम् एतत्। आप्त-प्रामाण्य-कृतम्। किम् पुनर् आप्तानाम् प्रामाण्यम्। साक्षात्-कृत-धर्मता भूत-दया यथा भूतार्थ-चिख्यापयिषा इति। आप्ताः खलु साक्षात्-कृत-धर्माणह् इदं हातव्यम् अयम् अस्य हानि-हेतुर् इदम् अस्य अधिगन्तव्यम् अयम अस्य अधिगमन-हेतुर् इति भूतान्य् अनुकम्पन्ते। तेषां खलु वै प्राण-भृतां स्वयम् अनवबुध्य-मानानां न अन्यद् उपदेशाद् अवबोध-कारणम् अस्ति। न च अनव-बोधे समीहा वर्ज्जनं वा। न वा अकृत्वा स्वस्ति-भावः। नाऽप्य् अस्य अन्यः उपकारकोऽप्य् अस्ति। हन्त वयम् एभ्यो यथा-दर्शन यथा-भूतम्

उपदिशामः । ते इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमानाः हेयं हास्यन्त्य् अधिगन्तव्यम् एव अधिगमिष्यन्ति इति । एवम् आप्तोपदेशः एतेन त्रि-विधेन आप्त-प्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको भवति । एवम् आप्तोपदेशः प्रमाणम् एवम् आप्ताः प्रमाणम् । दृष्टार्थेन आप्तोपदेशेन आयुर्वेदेन अदृष्टार्थो वेद-भागोऽनुमातव्यः प्रमाणम् इति । आप्त-प्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वाद् इति । अस्य अपि च एक-देशो "ग्राम-कामो यजेत" इत्य् एवम्-आदि-दृष्टार्थस् तेन अनुमातव्यम् इति । लोके च भूयान् उपदेशाश्रयो व्यवहारः । लौकिकस्य अप्य् उपदेष्टुर् उपदेष्टव्यार्थ-ज्ञानेन परानुजिघृक्षया यथा-भूतार्थ-चिख्यापयिषया च प्रामाण्यम् । तत्-परिग्रहाद् आप्तोपदेशाद् प्रमाणम् इति । द्रष्टृ-प्रवक्तृ-सामान्याच् च अनुमानम् ये एव आप्ताः वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश् च ते एव आयुर्वेद-प्रभृतीनाम् । इत्य् आयुर्वेद-प्रामाण्य-वद् वेद-प्रामाण्यम् अनुमातव्यम् इति । नित्यत्वाद् वेद-व्याख्यानाम् प्रमाणत्वे तत्-प्रामाण्यम् आप्त-प्रामाण्याद् इत्य् अयुक्तम् । शब्दस्य वाचकत्वाद् अर्थ-प्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात् । नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच् छब्दार्थ-व्यवस्थाऽनुपपत्तिः । न अनित्यत्वे वाचकत्वम् इति चेत् । न । लौकिकेष्व् अदर्शनात् । तेऽपि नित्याः इति चेत् । न । अनाप्तोपदेशाद् अर्थ-विसंवादोऽनुपपन्नः ।……मन्वन्तर-युगान्तरेषु च अतीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यास-प्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम् आप्त-प्रामाण्याच् च प्रामाण्यम् । लौकिकेषु शब्देषु च एतत् समानम् ।

"तब आयुर्वेद का प्रामाण्य किस पर आधारित है ? आयुर्वेद हमें यह बताता है कि अमुक प्रकार के कार्य करने से इष्ट की प्राप्ति होती है, और अमुक कार्यों के वर्जन से अनिष्ट से बचा जा सकता है : और इस प्रकार के कार्यों को करने से वाञ्छित फल की प्राप्ति का तथ्य इस मान्यता के समान है कि यह ग्रन्थ सत्यता को ही व्यक्त करता है । इसी प्रकार विष का नाश, और राक्षसों तथा विद्युत का प्रतिषेध करनेवाले मंत्रों का प्रामाण्य उनके प्रयोग की सार्थकता द्वारा सिद्ध होता है । यह फल किस प्रकार प्राप्त किया जाता है ? आप्तजनों के प्रामाण्य के आधार पर । किन्तु आप्तजनों के प्रामाण्य से क्या तात्पर्य है ? इससे इनके द्वारा कर्त्तव्यों के साक्षात्, समस्त भूतों के प्रति दयाभाव, और वस्तुओं की सत्यता को व्यक्त करने की इनकी इच्छा का तात्पर्य है । आप्तजन वही होते हैं जिन्हें कर्त्तव्यों (कृत-धर्म) का साक्षात् होता है; और वह समस्त भूतों को यह बताते हुये उनके प्रति अपनी दया को व्यक्त करते हैं कि अमुक बातों से बचना चाहिये तथा उनसे बचने के

अमुक उपाय हैं, और अमुक बातों को प्राप्त करना चाहिये तथा इनकी प्राप्ति के अमुक उपाय हैं। इन भूतों के लिए वह अपने मन में यह चिन्तन करते हैं कि 'ऐसी बातों से अनभिज्ञ होने के कारण इन समस्त जीवों को इन्हें सीखने के लिये इस प्रकार के उपदेश के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, और उपदेश के अभाव में ये किसी बात की प्राप्ति अथवा उससे बचाव की दिशा में कोई प्रयास नहीं कर सकते; जबकि ऐसे प्रयास के बिना इनका हित नहीं हो सकता; इनका उपकार करनेवाला भी अन्य कोई नहीं है; अतः हमें अपने दार्शनिक-ज्ञान तथा वास्तविकता के अनुसार इन्हें उपदेश देना चाहिये; इन उपदेशों को सुन तथा समझकर उन सबका वर्जन करेंगे जो वर्ज्य हैं और उनको प्राप्त करेंगे जो प्राप्ति के योग्य हैं।' इस प्रकार त्रिविध प्रामाण्य के अनुसार आप्तों द्वारा प्रदान किये गये उपदेशों को ग्रहण करने तथा उनके अनुसार कार्य करने से वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है। इसलिये आप्तजनों द्वारा प्रदत्त उपदेश प्रमाण होता है, और यह आप्तजन स्वयं-प्रमाण होते हैं। इन्द्रिय-गम्य (दृष्ट) विषयों के सन्दर्भ में आप्तजनों के उपदेशों को व्यक्त करनेवाले आयुर्वेद से यह अनुमान करना चाहिये कि वेद का वह भाग भी, जो अदृष्टार्थक है, प्रमाण है क्योंकि आप्तजनों का प्रामाण्य दोनों ही दशाओं में समान है; और इस तथ्य से भी इसी समान अनुमान करना चाहिये कि वेद के उक्त भाग के उपदेशों का कुछ अंश दृष्टार्थक भी है, जैसा कि 'ग्राम-कामी व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिये', इत्यादि, इत्यादि, आदेशों से व्यक्त होता है। लौकिक जीवन में भी व्यक्ति सामान्यतः उपदेशों पर आश्रित रहते हैं। और एक लौकिक उपदेशक का प्रामाण्य (१) उपदेश्य विषय सम्बन्धी उसके ज्ञान, (२) दूसरे के प्रति दया दिखाने की उसकी प्रवृत्ति, और (३) सत्य को व्यक्त करने की उसकी इच्छा पर आधारित होता है। ग्रहण कर लिये जाने के कारण आप्तोपदेश प्रमाण हो जाता है। और इस तथ्य से कि दोनों ही दशाओं में द्रष्टा और प्रवक्ता समान होते हैं, अर्थात् वेदार्थ के आप्त द्रष्टा तथा प्रवक्ता भी आयुर्वेद इत्यादि (द्रष्टाओं तथा प्रवक्ताओं) के ही समान होते हैं, हमें यह अनुमान करना चाहिये कि वेदप्रामाण्य भी आयुर्वेद-प्रामाण्य के ही समान है। किन्तु इस आधार पर कि वेद-वाक्यों का प्रामाण्य उनके नित्यत्व के तथ्य से उत्पन्न होता है, यह कहना अयुक्त होगा कि इनकी उत्पत्ति आप्त-प्रामाण्य से होती है, क्योंकि वाचकों के रूप में शब्दों का प्रामाण्य उनके अर्थप्रतिपादनत्व से उत्पन्न होता है, नित्यत्व से नहीं। अन्यथा, शब्दों की नित्यता मान लेने पर सब शब्द सब कुछ के वाचक हो जायेंगे, जो उनकी

निश्चित शब्दार्थ व्यवस्था के विपरीत होगा। यदि यह आपत्ति की जाय कि जब तक शब्द नित्य नहीं होंगे वह वाचक नहीं हो सकते, तो हम इसे अस्वीकार करेंगे, क्योंकि लौकिक शब्दों की दशा में ऐसा नहीं देखा जाता। पुनः, यदि यह कहा जाय कि लौकिक शब्द भी नित्य हैं, तो हम पुनः असहमत होंगे, क्योंकि अनाप्त व्यक्तियों के उपदेशों से उत्पन्न अर्थ-विसंवाद इस तथ्य को अप्रमाणित कर देगा।" कुछ और तर्क-वितर्क के पश्चात् वात्स्यायन यह निष्कर्ष निकालते हैं: "वेदों का नित्यत्व, गत तथा आगत मन्वन्तरों और युगों की अविच्छिन्न परम्परा, अध्ययन, और प्रयोग के आधार पर सिद्ध होता है; जब कि इनका प्रामाण्य इनका उच्चारण करनेवाले आप्तजनों के प्रामाण्य के द्वारा सिद्ध होता है। और लौकिक शब्दों की भी इनसे यही समानता है।

गत उद्धरण में 'आप्ताः' की परिभाषा में वात्स्यायन द्वारा व्यवहृत 'साक्षात्-कृत-धर्माणः' शब्द वैसे ही हैं जैसे कि यास्क (निरुक्त १. २०) ने ऋषियों के वर्णन के सन्दर्भ में प्रयुक्त किये हैं: साक्षात्-कृत धर्माणः ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्-कृत-धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर् वेदं च वेदाङ्गानि च। "ऋषियों ने, जिन्हें कर्त्तव्य (धर्म) का साक्षात् हुआ था, उपदेशों के द्वारा बाद के काल के उन मनुष्यों को मन्त्रों का ज्ञान दिया जिन्हें इस प्रकार का साक्षात् नहीं हुआ था। इन्होंने उपदेश देने की अपनी शक्ति के ह्रास के कारण इस कृति (निरुक्त), वेद, और वेदाङ्ग आदि का संग्रह किया जिससे इनके विवरणों को ग्रहण किया जा सके।"

२—वैशेषिक—इस सम्प्रदाय के सूत्रों में भी कुछ ऐसे हैं जिनमें मीमांसकों के विपरीत, प्रथमतः यह कहा गया है कि वेद आप्तों की कृति हैं; और द्वितीयतः (यदि भाष्यकारों की व्याख्या को मान लिया जाय तो) यह कि इनका उच्चारण देवता ने किया।

प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय का द्वितीय सूत्र इस प्रकार है:

यतोऽभ्युदय-निश्श्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

"धर्म वही है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो।"[१०३]

तदुपरान्त भाष्यकार निम्न वक्तव्य के साथ बाद के सूत्र की विवेचना आरम्भ करता है:

---

[१०३] भाष्यकार ने 'अभ्युदय = तत्त्व-ज्ञान' और 'निःश्रेयस = आत्यन्तिकी दुःख निवृत्तिः' के रूप मे व्याख्या की है।

ननु निवृत्ति-लक्षणो धर्मस् तत्त्व-ज्ञान-द्वारा निश्श्रेयस-हेतुर् इत्य् अत्र श्रुतिः प्रमाणम्। श्रुतेर् एव प्रामाण्ये वयं विप्रतिपद्यामहे "अनृत-व्याघात-पुनरुक्त-दोषेभ्यः"।... 'न च आम्नाय-प्रतिपादकं किञ्चिद् अस्ति नित्यत्वे विप्रतिपत्तौ। नित्य-निर्दोषत्वम् अपि सन्दिग्धम्। पौरुषेयत्वे तु भ्रम-प्रमाद-विप्रतिपत्ति-करणापाटवादि-सम्भावनया आप्तोक्तत्वम् अपि सन्दिग्धम् एव इति न निश्श्रेयसं न वा तत्र तत्त्व-ज्ञान द्वारं न वा धर्मः इति सर्वम् एतद् आकुलम्। अतः आह "तद्-वच-नाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्"। "तद्" इत्य् अनुपक्रान्तम् अपि प्रसिद्धि-सिद्धतया ईश्वरम् परामृशति। यथा "तद्-अप्रामाण्यम् अनृत-व्याघात-पुनरुक्त दोषेभ्यः" इति गौतमीय-सूत्रे तच्-छब्देन अनुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते। तथा च तद्-वचनात् तेन ईश्वरेण प्रणयनाद् आम्नायास्य वेदस्य प्रामाण्यम्। यद्वा "तद्" इति सन्निहितं धर्मम् एव परामृशति। तथा च धर्मस्य 'वचनात्' प्रतिपादनाद् "आम्नायस्य" वेदस्य प्रामाण्यम्। यद् हि वाक्यम् प्रामाणिकम् अर्थम् प्रतिपादयति तत् प्रमाणम् एव यतः इत्य् अर्थः। ईश्वरस् तद्-आप्तत्वं च साधयिष्यते।

'किन्तु, क्या यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि वेद ही, जो निवृत्ति के रूप में धर्म का लक्षण बताता है, तत्त्वज्ञान के द्वारा भक्ति का कारण है; किन्तु यह कि हम वेद के प्रामाण्य का इसलिये प्रतिवाद करते हैं कि इस पर मिथ्यात्व, व्याघात और पुनरुक्ति आदि दोषों का आक्षेप किया जा सकता है।[१०४] और वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये कोई आधार नहीं, क्योंकि इसका नित्यत्व विवादास्पद, और इसका नित्य-निर्दोषत्व सन्दिग्ध है। यदि यह पौरुषेय है तो इस पुरुष का आप्त वक्ता होना सन्दिग्ध है; क्योंकि इसमें त्रुटि, असावधानी तथा विरोध की उपस्थिति, और रचना-कौशल के अभाव की सम्भावना हो सकती है। अतः, न तो निःश्रेयस जैसी कोई वस्तु है और न तत्त्वज्ञान जैसा उसकी प्राप्ति का उपाय अथवा धर्म। इस प्रकार सब कुछ परस्पर अस्तव्यस्त है।"

इसके उत्तर में सूत्रकार का कथन है कि :

"आम्नाय (वेद) का प्रामाण्य ईश्वर के वचन पर आधारित है।"

भाष्यकार कहता है कि "यहाँ 'तद्' शब्द से 'ईश्वर' का तात्पर्य है; क्योंकि, यद्यपि अभी तक ईश्वर का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि

---

[१०४] यहाँ उपरोद्धृत न्यायसूत्र के भाष्य मे दिये गये उदाहरणों को ही दुहराया गया है।

लोक-प्रसिद्धि के आधार पर उसके (ईश्वर के) तात्पर्य की सिद्धि होती है। उसी प्रकार, जैसे गौतम के सूत्र में, 'मिथ्यत्व, व्याघात और पुनरुक्ति दोषों से उसका (तद्) अप्रामाण्यत्व सिद्ध होता है', इस कथन में पहले उल्लेख न होने पर भी 'तद्' से वेद का ही तात्पर्य है। और इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह है कि आम्नाय का प्रामाण्य उसके, अर्थात् 'ईश्वर' के वचन होने और उसके द्वारा ही प्रगति होने पर आधारित है। अथवा 'तद्' से उसके ठीक पहले आनेवाले 'धर्म' का तात्पर्य हो सकता है, और इस दशा में आशय यह होगा कि आम्नाय, अर्थात् वेद का प्रमाणत्व उसके द्वारा धर्म के प्रतिपादन करने पर आधारित है, क्योंकि किसी भी ऐसे प्रमाण में, जो एक प्रामाणिक विषय का प्रतिपादन करता है, स्वयं भी प्रमाणत्व होना चाहिये। इसके बाद ईश्वर तथा उसके आप्तत्व को सिद्ध किया जायगा।" तदुपरान्त भाष्यकार वेद पर किये गये मिथ्यत्व, व्याघात और पुनरुक्ति आदि आक्षेपों का उत्तर देता है।

अब दूसरा सूत्र (६.१, १) जो मैं उद्धृत करूँगा उसके प्रसङ्ग को भाष्यकार ने इस प्रकार आरम्भ किया है :

बुद्धि-पूर्वा वाक्य-कृतिर् वेदे। संसार-मूल-कारणयोर् धर्माधर्मयोः परीक्षा षष्ठाध्यायार्थः। धर्माधर्मौ च "स्वर्ग-कामो यजेत" "न कलञ्जम् भक्षयेद्" इत्यादि-विधि-निषेध-बलकल्पनीयौ विधि-निषेध-वाक्ययोः प्रामाण्ये सति स्याताम्। तत्-प्रामाण्यं च वक्तुर् यथार्थ-वाक्यार्थ-ज्ञान-लक्षण-गुण-पूर्वकत्वाद् उपपद्यते। स्वतः प्रामाण्यस्य निषेधात्। अतः प्रथमं वेद-प्रामाण्य-प्रयोजक-गुण-साधनं उपक्रमते। "वाक्य-कृतिर्" वाक्य-रचना। सा बुद्धि-पूर्वा वक्तृ-यथार्थ-वाक्यार्थ-ज्ञान-पूर्वा। वाक्य-रचनात्वात्। "नदी-तीरे पञ्च फलानि सन्ति" इत्य् अस्मद्-आदि-वाक्य-रचना-वत्। "वेदे" इति वाक्य-समुदाये इत्य् अर्थः। तत्र समुदायिनां वाक्यानां कृतिः पक्षः। न च अस्मद्-आदि-बुद्धि-पूर्वकत्वेन अन्यथा-सिद्धिः। "स्वर्ग-कामो यजेत" इत्यादाव् इष्ट-साधनतायाः कार्य्यतायाः वा अस्मद्-आदि-बुद्ध्य्-अगोचरत्वात्। तेन स्वतन्त्रपुरुष-पूर्वकत्वं वेदे सिद्ध्यति। वेदत्वं च शब्द-तद्-उपजीवि-प्रमाणातिरिक्त-प्रमाण-जन्य-प्रमित्य-अविषयार्थकत्वे सति शब्द-जन्य-वाक्यार्थ-ज्ञानाजन्य-प्रमाण-शब्दत्वम्।

"संसार के मूल कारण धर्म और अधर्म की परीक्षा ही छठवें अध्याय का विषय है। धर्म और अधर्म के अन्तर्गत इस प्रकार के विधान और निषेध आते हैं, जैसे, 'स्वर्ग की कामना करनेवाले व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिये',

'कलञ्ज का भक्षण नहीं करना चाहिये', इत्यादि। किन्तु इन विधानों और निषेधों को प्रामाणिक भी होना चाहिये, और यह प्रामाणिकता इन विधानों और निषेधों के वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञान के गुण पर निर्भर होती है, क्योंकि स्वतः प्रामाण्य की मान्यता सम्भव नहीं। अतः सूत्रकार सर्वप्रथम उस गुण की विवेचना करता है जो वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करता है।"

"सूत्र ६. १, १—'वेद में ऐसे वाक्य हैं जिनकी बुद्धि-पूर्वक रचना की गई है।"

"वाक्य-रचना बुद्धि-पूर्वक, अर्थात वक्ता द्वारा वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञान के आधार पर की गई है; और यह इस तथ्य द्वारा सिद्ध होता है कि इन वाक्यों की रचना भी हम लोगों जैसे व्यक्तियों द्वारा रचित ऐसे वाक्यों की रचना के समान है, जैसे, 'नदी के तट पर पाँच प्रकार के फल हैं'। वेद में भी ऐसे वाक्य-समुदाय है। यहाँ वाक्य-समुदाय की रचना ही प्रमुख विषय है। और हम लोगों जैसे सीमित बुद्धि वालों की रचना मानकर इन वाक्यों की रचना का एक अन्यथा कारण नहीं मानना चाहिये, (क्योंकि इन वाक्यों की रचना सीमित बुद्धि के लोगों ने नहीं की है) क्योंकि इस प्रकार के इष्ट-साधक विधान, जैसे 'स्वर्ग की कामना करनेवाले को यज्ञ करना चाहिये', हम लोगों जैसे व्यक्तियों के लिये बुद्धि-गोचर नहीं हैं। अतः वेद की दशा में स्वतन्त्र पुरुष का कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। और एक ओर जहाँ वेद का विषय-वस्तु शब्द तथा शब्द-जन्य प्रमाण से भिन्न किसी अन्य प्रमाण के ज्ञान का विषय नहीं है, वहीं वेदत्व ऐसे (प्रामाणिक) शब्दों से निर्मित है जिनका प्रामाण्य शब्द-जन्य वाक्यार्थों के ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता।"

"अथवा वेदत्व ऋक्, यजुष्, सामन्, अथवा अथर्वन् नामक चार संग्रहों से निर्मित है।"[१०५]

अब मैं जिस वाद के सूत्र (१०. २, ९) को उद्धृत करना चाहता हूँ (और जो सूत्र १. १, ३, की ही पुनरावृत्ति है) उसका अध्ययन उसके ठीक पूर्व के सूत्र (१० २, ८) पर किये गये भाष्यकार के भाष्य के उद्धरण से आरम्भ करता हूँ :

ननु श्रुति-प्रामाण्ये सति स्याद् एवम्। तद् एव तु दुर्लभम्। न हि मीमांसकानाम् इव नित्य-निर्दोषत्वेन श्रुति-प्रामाण्यं त्वया इष्यते पौरुषेयत्वेनाभ्युपगमात् पुरुषस्य च भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादि-सम्भ-

[१०५] यह अन्तिम पंक्ति जयनारायण-भाष्य के निष्कर्ष का अनुवाद है।

वात्। अतः आह "दृष्टाभावे" इति। दृष्टम् पुरुषान्तरेऽस्मद्-आदौ भ्रम-प्रमाद-(विप्रति?) लिप्सादिकं पुरुष-दूषणं तद्-अभावे सति इत्य् अर्थः। क्षिति-कर्तृत्वेन वेद-वक्तृत्वेन् वाऽनुमितस्य पुरुष-धौरेयस्य निर्दोषत्वेन एव उपस्थितेः। तथा च तद्-वचसां न निरभिधेयता न विपरीताभिधेयता न निष्प्रयोजनाभिधेयता। भूतेन्द्रिय-मनसां दोषाद् भ्रम-प्रमाद-करणपाटवादि प्रयुक्ताः एव वचसाम् अविशुद्धयः सम्भाव्यन्ते। न च ईश्वर-वचसि तासां सम्भवः। तद् उक्तम् "रागाज्ञानादिभिर् वक्ता ग्रस्तत्वाद् अनृतं वदेत्। ते चेश्वरे न विद्यन्ते स ब्रूयात् कथम् अन्यथा।" ननु तेन ईश्वरेण वेदः प्रणीतः इत्य् अत्र एव विप्रपत्तिर् अतः आह। "तद्-वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यम्।" इति शास्त्र-परिसमाप्तौ "तद्-वचनात्" तेन ईश्वरेण वचनात् प्रणयनाद् "आम्नायस्य" वेदस्य प्रामाण्यम्। तथा हि। वेदास् तावत् पौरुषेयाः वाक्यत्वाद् इति साधितम्। न च अस्मद्-आदयस् तेषां सहस्र-शाखावच्छिन्नानां वक्तारः सम्भाव्यन्ते अतीन्द्रियार्थत्वात्। न च अतीन्द्रियार्थ दर्शिनोऽस्मदादयः। किञ्च आप्तोक्ताः वेदाः महाजन-परिगृहीतत्वात्। यद् न आप्तोक्तं न तद् महाजन-परिगृहीतं। महाजन-परिगृहीतं च इदम्। तस्माद् आप्तोक्तम्। स्व-तन्त्र-पुरुष-प्रणीतत्वं च आप्तोक्तत्वम्। महाजन-परिगृहीतत्वं च सर्व-दर्शनान्तःपाति-पुरुषानुष्ठीय-मानार्थत्वम्। क्वचित् फलाभावः कर्म-कर्तृ-साधन-वैगुण्याद् इत्य् उक्तम्। कर्तृ-स्मरणाभावाद् न एवम् इति चेत्। न। कर्तृ-स्मरणस्य पूर्वम् एव साधितत्वात्। तत्-प्रणीतत्वं च स्व-तन्त्र-पुरुप-प्रणीतत्वाद् एव सिद्धम्। न त्व् अस्मद्-आदीनां सहस्र-शाख-वेद-प्रणयने स्वातन्त्र्यं सम्भवति इत्य् उक्तत्वात्। किञ्च प्रमायाः गुण-जन्यत्वेन वैदिक-प्रमायाह् अपि गुण-जन्यत्वम् आवश्यकम्। तत्र च गुणो वक्तृ यथार्थ-वाक्यार्थ-ज्ञानम् एव वाच्यः। तथा च तादृशः एव वेदे वक्ता यः स्वर्गापूर्वादि-विषयक-साक्षात्कारवान्। तादृशश् च न ईश्वराद् अन्यः इति सुष्ठु।

"यदि वेद प्रामाणिक होता तो यह सब कुछ ऐसा ही होता : किन्तु ऐसी स्थिति दुर्लभ है, क्योंकि मीमांसकों की भाँति आप यह नहीं मानते कि वेद का प्रामाण्य उसके नित्यनिर्दोषत्व पर आधारित है, और आप यह भी स्वीकार करते हैं कि यह पौरुषेय हैं, तथा ऐसे पुरुषों में भ्रम, प्रमाद, और लिप्सा की उपस्थिति की सम्भावना हो सकती है। इसी आपत्ति को उद्दिष्ट

करके सूत्रकार ने अपने सूत्र में 'दृष्टाभावे', अर्थात् यह कहा है कि 'हम लोगों[१०८] जैसे अन्य व्यक्तियों में दृष्टिगत होनेवाले व्यक्तिगत दोष, जैसे भ्रम, प्रमाद, और लिप्सा आदि की अनुपस्थिति में' : क्योंकि परम पुरुष, जिसका सृष्टि-दर्शन के आधार पर अनुमान किया जा सकता है, अथवा वेद-वक्तृत्व का केवल निर्दोष स्थिति में ही अस्तित्व हो सकता है; और परिणामस्वरूप, उसके शब्दों के लिये न तो निरभिधेयता, अथवा विपरीताभिधेयता, और न निष्प्रयोजनाभिधेयता का ही आरोप किया जा सकता है। शब्दों की अशुद्धता को भूतों, इन्द्रियों अथवा मन के दोषों से उत्पन्न भ्रम, प्रमाद, और रचना की अपटुता के आधार पर देखा जाना चाहिये। किन्तु ईश्वर-वचन में इनमें से किसी की भी सम्भावना नहीं हो सकती। इसी को इस श्लोक में व्यक्त किया गया है, 'एक वक्ता राग, अज्ञान, आदि से वशीभूत होकर मिथ्या वचन बोल सकता है; किन्तु ईश्वर में यह दोष नहीं होता, तब वह (ईश्वर) अन्यथा कैसे बोलेगा ?'

"किन्तु क्या वेद के ईश्वर-प्रणीत होने के तथ्य का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता ? इसी के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र (१०. २, ९) में कहता है कि : 'उसका वचन होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है।'

"इस प्रकार अपने भाष्य के अन्त में भाष्यकार यह कहता है कि उसका (ईश्वर का) शब्द होने से ही वेद का प्रामाण्य है, अर्थात् उसके द्वारा उच्चरित होने अथवा रचित होने के कारण। जैसा कि इस प्रकार है : वेद पौरुषेय हैं क्योंकि यह वाक्यों से बने हैं—इसे सिद्ध किया जा चुका है। और हम लोगों जैसे व्यक्तियों को उन वेदों का वक्ता नहीं कहा जा सकता जिनकी सहस्रों शाखायें हैं; क्योंकि उनका विषय-वस्तु ऐसा है जो इन्द्रिय से अगोचर है; और हम लोगों जैसे व्यक्तियों में इन्द्रिय से अगोचर वस्तुओं का दर्शन करने की क्षमता नहीं है। साथ ही, वेद (न केवल पौरुषेय हैं, वरन्) आप्तोक्त हैं क्योंकि इनका महान व्यक्तियों ने परिग्रहण किया है। जो आप्तोक्त नहीं है उसका महान व्यक्ति परिग्रहण नहीं कर सकते : किन्तु इसका महान व्यक्तियों ने परिग्रहण किया है : अतः यह आप्तोक्त हैं। अब

---

[१०८] एक आरम्भिक सूत्र (६. २, १) में जहाँ यह आता है, भाष्यकार ने 'दृष्टाभावे' की भिन्न व्याख्या की है। वहाँ भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ यह है : 'जहाँ किसी कार्य के लिये कोई दृष्ट प्रयोजन न उपलब्ध हो वहाँ एक अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना कर लेनी चाहिये' (यत्र दृष्टम् प्रयोजनं नोपलभ्यते तत्र अदृष्टम् प्रयोजनं कल्पनीयम्)।

स्वतन्त्र पुरुष से प्रणीत रचना ही आप्तोक्त है; और विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के पुरुषों द्वारा इसके विषय-वस्तुओं के अनुष्ठान को ही महान व्यक्तियों द्वारा परिग्रहण कहते हैं : और वेद की निर्दोषता का उस तर्क से समर्थन हो जाता है जिसे पहले कहा जा चुका है, अर्थात्, (वेदविहित कर्मों का) फलाभाव, कर्म, साधन, अथवा साधक के किसी दोष के कारण का परिणाम होता है (वेद के दोष का नहीं)।

"यदि इस तर्क के प्रति यह आपत्ति की जाय कि वेद के किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं किया जा सकता, तो हम यह उत्तर देंगे कि यह ठीक नहीं है क्योंकि पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि कर्त्ता का स्मरण किया जाता है। इसका ईश्वर-प्रणीत होना स्वतन्त्र पुरुष द्वारा प्रणीत होने के तथ्य से ही सिद्ध हो जाता है; और यह पहले ही कहा जा चुका है कि सहस्रों शाखाओं वाले वेद की रचना के लिये हम लोगों जैसे व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य की कल्पना नहीं की जा सकती। और यतः प्रामाण्य गुणजन्य होता है अतः वेद का प्रामाण्य भी गुणजन्य होना आवश्यक है। यहाँ वक्ता द्वारा वाक्यार्थों के शुद्ध ज्ञान को ही यह गुण कहना चाहिए। इस प्रकार हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि वेद का एक ऐसा वक्ता है जिसे स्वर्ग तथा कर्मों के अदृश्य फलों इत्यादि का साक्षात् ज्ञान है, और ऐसा वक्ता ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। इस प्रकार सब सन्तोषजनक है।"

इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार वेद के प्रामाण्य को, प्रथमतः उसके विषय-वस्तु के विस्तार, और द्वितीयतः विभिन्न आस्तिक सम्प्रदाय के अनुयायी महान व्यक्तियों द्वारा सर्वसम्मत ग्रहण के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। वेद में कुछ अलौकिक तत्वों को देखने वाले व्यक्तियों और वेद को ग्रहण करने वाले महान व्यक्तियों के निर्दोषत्व की मान्यता के अतिरिक्त इन तर्कों में कोई प्रामाणिकता नहीं है; अतः वेद में किसी अलौकिकता का दर्शन न करने वाले और वेदानुयायियों को भ्रमित मानने वाले बौद्धों तथा अन्य नास्तिकों की भाँति इन तर्कों को निरर्थक माना जा सकता है। किन्तु सम्भवतः भाष्यकार का उद्देश्य (क्योंकि उसके तर्क का अधिकांश सूत्रकार का नहीं वरन् उसका ही है) उन कारणों को व्यक्त करना नहीं था जिनके आधार पर नास्तिकों के विरुद्ध वेद के प्रामाण्य का समर्थन किया जा सकता है; वरन् ऐसे उपयुक्त तर्कों की व्याख्या करना मात्र था जिन पर वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक सम्प्रदाय उसे आधारित मानते हैं, अर्थात् उसका उद्देश्य मीमांसकों की भाँति नित्य निर्दोषत्व को सिद्ध करना नहीं वरन् इस तथ्य पर ही जोर देना है कि सर्वज्ञ और प्रबुद्ध व्यक्ति द्वारा ही

वेद का उच्चारण हुआ है, क्योंकि वेद में ऐसे अदृश्य और भावी विषयों के समावेश के कारण भी, जिसका केवल सर्वज्ञ व्यक्तियों को ही ज्ञान हो सकता है, इस प्रकार के रचनाकार की सिद्धि हो जाती है। अदृश्य विषयों के सम्बन्ध में इस प्रकार के साक्षात ज्ञान का ईश्वर प्रणीत होना, तथा फलस्वरूप सत्य होना, आस्तिक समुदाय के योग्यतम व्यक्तियों के सर्वसम्मत प्रामाण्य के आधार पर ही सिद्ध माना गया है।

वैशेषिकों की धारणा के अनुसार प्रेरणा स्रोत अथवा अलौकिक ज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध में भी कुछ जानना उपयोगी हो सकता है। अतः मैं इस विषय से सम्बद्ध कुछ सूत्रों अथवा उन पर शंकर मिश्र के भाष्यों के कुछ स्थलों का उद्धरण दूँगा। सूत्र ८. १, २ पर भाष्य करते हुये भाष्यकार ने दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की है, यथा : विद्या और अविद्या। इस विद्या के भी चार लक्षण होते हैं : प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृत्य, और आर्ष (तच् च ज्ञानं द्विविध विद्या च अविद्या च। विद्या चतुर्विधा प्रत्यक्ष-लैङ्गिक-स्मृत्य-आर्ष-लक्षणा)। प्रत्यक्ष, पुन., अनेक प्रकार का होता है (सूत्र ९. १, ११–१५)। सूत्र ९. १, ११ इस प्रकार है :

तद् एवम् भावाभाव-विषयकं लौकिक-प्रत्यक्षं निरूप्य योगिप्रत्यक्षं निरूपयितुम् प्रकरणान्तरम् आरभते। ६. १, ११. "आत्मन्य् आत्म-मनसोः संयोग-विशेषाद् आत्म-प्रत्यक्षम्"। ज्ञानम् उत्पद्यते इति शेषः। द्विविधास् तावद् योगिनः समाहितान्तःकरणाः ये "युक्ताः" इत्य् अभिधीयन्ते असमाहितान्तःकरणाश् च ये "वियुक्ताः" इत्य् अभिधीयन्ते। तत्र युक्ताः साक्षात्कर्तव्ये वस्तुन्य् आदरेण मनो निधाय निदिध्यासनवन्तः। तेषाम् आत्मनि स्वात्मनि परात्मनि च ज्ञानम् उत्पद्यते। "आत्म-प्रत्यक्षम्" इति। आत्मा-साक्षात्कारविषयो यत्र ज्ञाने तत् तथा। यद्यप्य् अस्मद्-आदीनाम् अपि कदाचिद् आत्मज्ञानम् अस्ति तथाप्य् अविद्या-तिरस्कृतत्वात् तद् असत्-कल्पम् इत्य् उक्तम्। "आत्म-मनसोस् सन्निकर्ष-विशेषाद्" इति योग-ज-धर्मानुग्रह. आत्म-मनसोः सन्निकर्ष-विशेषस् तस्माद् इत्य् अर्थः।

"भाव और अभाव विषयक लौकिक प्रत्यक्ष का इस प्रकार निरूपण करने के पश्चात योगिप्रत्यक्ष के निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं : 'आत्मा में आत्मा और मन[१०७] के एक विशेष प्रकार के संयोग को आत्मप्रत्यक्ष कहते

[१०७] भारतीय दार्शनिक 'मनस्' को आत्मा से भिन्न और केवल एक आन्तरिक इन्द्रिय मात्र मानते हैं।

हैं।' इस पर भाष्यकार इस प्रकार कहता है : 'योगिन् दो प्रकार के होते हैं : (१) युक्त, अर्थात् वह जिनका अन्तःकरण समाहित होता है, और (२) वियुक्त, अर्थात् जिनका अन्तःकरण असमाहित होता है।[१०८] इनमें से प्रथम वर्ग के योगिन्, जिन्हें 'युक्त' कहते हैं, साक्षात् की जाने वाली वस्तु पर आदरपूर्वक अपने मन को केन्द्रित करके निदिध्यासन करते हैं। इस प्रकार उनकी आत्मा में ही स्वयं उनकी आत्मा तथा अन्य की आत्माओं के ज्ञान का उदय होता है। आत्मप्रत्यक्ष उस ज्ञान को कहते हैं जिसका विषय आत्म-साक्षात्कार हो। अब, यद्यपि हम लोगों जैसे व्यक्तियों को भी कभी-कभी आत्म-ज्ञान होता है, तथापि अविद्या से प्रभावित होने के कारण इस ज्ञान को असत् कहा गया है। 'आत्मा और मन के विशेष सन्निकर्ष' से मन और आत्मा के उस संयोग का तात्पर्य है जो योग द्वारा उत्पन्न होता है।"

तृतीय प्रकार की विद्या, अर्थात् 'स्मृत्य्' के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को व्यक्त करते हुये भाष्यकार यह कहता है कि सूत्रकार चतुर्थ, अर्थात् आर्ष ज्ञान का कोई पृथक् उल्लेख नहीं करता :

९. २, ६...'आर्षं ज्ञानम् सूत्र-कृता पृथङ् न लक्षितम्। योगि-प्रत्यक्षान्तर्भावितम्। पदार्थ-प्रदेशाख्ये तु प्रकरणे तद् उक्तम्। तद् यथा। "आम्नाय-विधात्रीणाम् ऋषीणाम् अतीतानागत-वर्त्तमानेष्व् अतीन्द्रियार्थेष्व् अर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेपु वा लिङ्गाद्य-अनपेक्षाद् आत्म-मनसोः संयोगाद् धर्म-विशेषाच् च प्रातिभं ज्ञानं यद् उत्पद्यते तद् आर्षम् इति। तच् च कदाचिल् लौकिकानाम् अपि भवति यथा कन्यका वदति "श्वो मे भ्राता गन्ता इति हृदयम् मे कथयति" इति।

उसका कथन है कि 'सूत्रकार ने आर्षज्ञान की कोई पृथक् परिभाषा नहीं दी है वरन् इसे योगि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर लिया है।[१०९] किन्तु पदार्थ-प्रदेश का निरूपण करने वाले प्रकरण में इस प्रकार कहा गया

---

[१०८] दोनों में से यह वर्ग अधिक विशिष्ट है, जैसा कि जयनारायण की इस टीका से स्पष्ट हो जाता है : अयम् अपि विशिष्ट-योगवत्त्वाद् वियुक्त' इत्य् उच्यते।

[१०९] मैक्समूलर ने ज० ज० ओ० सो०, vii, पृ० ३११ पर यह कहा है कि "कपिल की भांति वैशेषिक भी आर्ष-साक्षात् को 'प्रत्यक्ष' के अन्तर्गत ही रखते हैं और इस प्रकार इसे 'ऐतिह्य' से स्पष्टतः पृथक् कर देते हैं।" उन्होंने लौकिको द्वारा भी इस प्रकार के प्रत्यक्ष के सम्बन्ध मे भाष्यकार के भाष्य का उद्धरण दिया है, जो उनके विचार से 'व्यङ्ग रहित' नही है।

है : "आर्पज्ञान उसे कहते हैं जो लिङ्गादि की अपेक्षा न करते हुये आत्मा और मन के संयोग तथा धर्म विशेष के कारण उन ऋषियों में उत्पन्न होता है जिन्होंने अतीत, अनागत अथवा वर्तमान से सम्बन्धित इन्द्रियागोचर विषयों अथवा ग्रन्थों में उपनिबद्ध धर्मादि विषयों के विवरण से युक्त आम्नाय (वेद) की रचना की है। और इस प्रकार का ज्ञान कभी-कभी लौकिकों को भी होता है, जैसे, जब कोई कन्या यह कहती है कि, 'मेरा हृदय ऐसा कहता है कि मेरा भ्राता कल जायेगा'।" देखिये सूत्र ९. २, १३ भी।

तर्क संग्रह नामक एक अन्य वैशेषिक कृति भी इन शब्दों में वेद को ईश्वरोक्त बताता है :[११०] वाक्यं द्विविध लौकिकं वैदिकं च। वैदिकम् ईश्वरोक्तत्वात् सर्वम् एव प्रमाणम् लौकिकं तु आप्तोक्तम् प्रमाणम् अन्यद् अप्रमाणम्। अर्थात् "वाक्य दो प्रकार के होते हैं : वैदिक और लौकिक। ईश्वरोक्त होने के कारण वैदिक वाक्य सर्वप्रमाण होते हैं। लौकिक वाक्यों में से केवल वही प्रमाण होते हैं जो आप्तोक्त होते हैं; अन्य प्रमाण नहीं होते।"

इस उद्धरण में वेद के प्रामाण्य को उसके ईश्वरोक्त होने पर आधारित किया गया है : और इस गुण को केवल वेद तक ही सीमित माना गया है। दूसरी ओर आप्त-प्रणीत लौकिक कृतियों को भी प्रमाण से युक्त बताया गया है। अतः यहाँ वेद के प्रमाण तथा अन्य कितनी भी प्रामाणिक कृतियों के बीच इस दृष्टि से विभेद किया गया है कि प्रथम ईश्वरोक्त है जब कि द्वितीय केवल आप्तोक्त। किन्तु उपरोद्धृत न्याय सूत्र (पृ० १२४) में स्वयं वेद के प्रामाण्य को उसके आप्त रचयिताओं पर आधारित किया गया है।[१११] इसलिये इस सूत्र में या तो 'आप्त' शब्द का अर्थ 'ईश्वर' होना चाहिये अथवा हमें न्यायसूत्र के सूत्रकार तथा वैशेषिक सूत्रकार और तर्क संग्रह के प्रणेता के बीच मतभेद मानना चाहिये। दूसरे उद्धरण के आधार पर हम यह देखेंगे कि कुसुमाञ्जलि उक्त द्वितीय ग्रन्थ से सहमत है।

---

[११०] देखिये सस्कृत और अंग्रेजी दोनो से युक्त डा० वैलैन्टाइन द्वारा सम्पादित सस्करण मे पृ० ४० पर सस्कृत।

[१११] बौद्ध अथवा अन्य नास्तिक दर्शनो के प्रतिपादक के मुख से विष्णु पुराण (३ १८) मे निम्न शब्द कहलाये गये हैं ' 'न ह्य् आप्त-वादा नभसो निपतन्ति महासुराः। युक्तिमद् वचनं ग्राह्यम् मयाऽन्यैश् च भवद्-विधैः।' अर्थात् "हे महा असुरो, आप्तो के शब्द आकाश से नही गिरते। हमे तथा आप जैसो को केवल युक्तियुक्त वचनो को ग्रहण करना चाहिये।"

मै उपरोल्लिखित ग्रन्थ (जिसके रचयिता उदयन आचार्य हैं) तथा उसके भाष्य[112] से वेद की उत्पत्ति और प्रामाण्य के सन्दर्भ में कुछ वक्तव्यों को उद्धृत करूँगा। कोलब्रुक (मिस० ए०, १. २६३) ने इस कृति को नारायण तीर्थ की टीका से युक्त बताया है किन्तु कलकत्ते से मुद्रित संस्करण अथवा प्रो० कोवेल द्वारा सम्पादित जो संस्करण उपलब्ध हैं उनमें हरिदास भट्टाचार्य की टीका है। इस कृति का उद्देश्य विभिन्न विरोधी सिद्धान्तों के विपरीत ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना है।

१. कुसुमाञ्जलिः—अन्यथाऽपि परलोक-साधनानुष्ठान-सम्भवाद् इति द्वितीय-विप्रतिपत्तिः। अन्यथा ईश्वरं विनाऽपि परलोक-साधन-यागाद्य्-अनुष्ठानं सम्भवति यागादेः स्वर्ग-साधनत्वस्य वेद-गम्यत्वात्। नित्य-निर्दोषतया च वेदस्य प्रामाण्यम्। महाजन-परिग्रहाच् च प्रामाण्यस्य ग्रहः इति वेद-कारणतया न ईश्वर-सिद्धिः। योगर्धि-सम्पादित-सार्वज्ञ्य-कपिलादि-पूर्वकः एव वा वेदोऽस्त्व् इत्य् अत्र आह। "प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्ग-प्रलय-सम्भवात्। तद्-अन्यस्मिन्न् अविश्वासाद् न विधान्तर-सम्भवः"। शाब्दी प्रमा वक्तृ-यथार्थ-वक्यार्थ-धी-रूप-गुण-जन्या इति गुणाधारतया ईश्वर-सिद्धिः। ननु सकर्तृकेऽस्तु यथार्थ-वाक्यार्थ-धीर् गुणः। अकर्तृके च वेदे निर्दोषत्वम् एव प्रामाण्य-प्रयोजकम् अस्तु महाजन-परिग्रहेण च प्रामाण्य-ग्रहः इत्य् अत आह। "सर्ग-प्रलय-सम्भवाद" इति। प्रलयोत्तरम् पूर्व-वेद-नाशाद् उत्तर वेदस्य कथम् प्रामाण्यम् महाजन-परिग्रहस्यापि तदा अभावात्। शब्दस्य अनित्यत्वम् उत्पन्नो ग-कारः इति प्रतीति-सिद्धम्। प्रवाहाविच्छेद-रूप-नित्यत्वम् अपि प्रलय-सम्भवाद् नास्ति इति भावः। कपिलादयः एव सर्गादौ पूर्व-सर्गाभ्यस्त-योग-जन्य-धर्मानुभवात् साक्षात्-कृत-सकलार्थाः कर्त्तारः सन्तु। इत्य् अत आह। "तद्-अन्यस्मिन्न्" इति। विश्व-निर्माण-समर्थाः अणिमादि-शक्ति-सम्पन्नाः यदि सर्वज्ञास् तदा लाघवाद् एक एव तादृशः स्वीक्रियताम्। स एव भगवान् ईश्वरः। अनित्यासर्व-विषयक-ज्ञानवति च विश्वासः एव नास्ति। इति वैदिक-

---

[112] यह ग्रन्थ सर्वप्रथम सस्कृत प्रेस कलकत्ता से शक स० १७६९ मे प्रकाशित हुआ था। अंग्रेजी अनुवाद सहित इसका एक नवीन संस्करण सन् १८६४ मे प्रो० कोवेल ने प्रकाशित कराया था। अपनी अनेक त्रुटियो के परिमार्जन के लिये मैंने इसी उत्कृष्ट सस्करण का उपयोग किया है।

व्यवहार-विलोपः। इति न विधान्तर-सम्भवः ईश्वरानङ्गी-कर्तृ-नये इति शेषः (न्याय कुसुमाञ्जलि २. १, तथा उस पर हरीदास भट्टाचार्य की व्याख्या)।

"दूसरी विप्रपत्ति यह है कि (ईश्वर का कोई प्रमाण नहीं है), क्योंकि विना किसी ईश्वर के भी परलोक-साधन के अनुष्ठान किये जा सकते हैं। अर्थात् ईश्वर के विना भी 'परलोक-साधन', अर्थात 'यागादि' का अनुष्ठान हो सकने से (ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है)। यागादि की स्वर्ग-साधनता वेद से ज्ञात होती है, जब कि वेद के नित्यनिर्दोष होने से वेद का प्रामाण्य है, और महाजनों के द्वारा स्वीकृत होने से वेद के प्रामाण्य को ग्रहण किया जाता है। इसलिये वेद के कारण के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। अथवा यही मान लें कि योग सामर्थ्य से सर्वज्ञता का सम्पादन करने वाले कपिल आदि ऋषियों ने ही वेद की रचना की है।

"इन सब आपत्तियों के उत्तर में कहते हैं: 'यतः प्रमा बाह्य स्रोत पर निर्भर है, यतः सर्ग और प्रलय होते हैं, और यतः ईश्वर से भिन्न किसी में विश्वास नहीं होता, अतः (ईश्वर के अतिरिक्त) ऐसा कोई भी मार्ग सम्भव नहीं (जिससे वेद की उत्पत्ति हुई हो)।' यतः शाब्दी प्रमा वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञान के गुण से उत्पन्न होती है (अर्थात् वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य भी उनके वक्ता के प्रामाण्य पर निर्भर है; इसलिये वेद का कोई ऐसा वक्ता होना चाहिये जिसे वेद प्रतिपादित समस्त विषयों का पूर्ण ज्ञान हो), और यतः ईश्वर ही इस गुण का आधार है, अत. ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है।

"किन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि वेद का कोई कर्त्ता है, तब ऐसे यथार्थ वाक्यार्थ-ग्रहण को उसका ही गुण मानना चाहिये; किन्तु यदि वेद का कोई कर्त्ता नहीं है तब वेद में नित्यत्व तथा निर्दोषत्व को ही प्रामाण्य का प्रयोजक मानना चाहिये, और महाजनों का स्वीकार करना ही इस प्रामाण्य-ग्रहण का आधार है।

"इसके उत्तर में ही कहा गया है. 'यतः सर्ग और प्रलय होते हैं।' प्रलय के बाद पूर्व वेद का नाश हो जाने से उत्तर वेद का प्रामाण्य-ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि उस समय महाजन-परिग्रह का भी अभाव था (क्योंकि यह महाजन भी प्रलय काल में समाप्त हो गये थे)। और, शब्द का अनित्यत्व 'गकार' उत्पन्न हुआ इस प्रतीति से सिद्ध है: और यहाँ तक कि प्रवाह के अविच्छिन्नत्व पर आधारित नित्यत्व भी प्रलय के सम्भव होने से सिद्ध नहीं होता।[११३]

[११३] प्रलय के समय वेद के प्रवाह के विच्छिन्न हो जाने की नैय्यायिको की इस आपत्ति के विरोधी यह उत्तर देते हैं कि प्रलय काल मे वेद ब्रह्मा अथवा

किन्तु पुनः, पूर्व-सृष्टि में अभ्यस्त योगजन्य धर्म के अनुभव से समस्त अर्थों का साक्षात्कार करनेवाले कपिल आदि को ही सृष्टि के आरम्भ में वेद का कर्त्ता मान लेने का आग्रह किया गया है। इसका ही 'अतः ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी में विश्वास नहीं किया जा सकता' इन शब्दों में उत्तर दिया गया है। यदि विश्व के निर्माण में समर्थ और अणिमादि शक्तियों से सम्पन्न व्यक्तियों को ही सर्वज्ञ मान लिया जाय, तो समस्या की सरलता के लिये केवल एक ही ऐसे व्यक्ति को स्वीकार कर लेना चाहिये, अर्थात् 'वही ऐश्वर्यशाली ईश्वर है' ऐसा मान लेना चाहिये।[११८] किसी भी ऐसे व्यक्ति में विश्वास नहीं किया जा सकता जो नित्य और सर्वज्ञ न हो। इसलिये वैदिक व्यवहार का विलोप हो जायगा। अतः निष्कर्ष यह है कि (वेद के प्रामाण्य के लिये ईश्वर की स्वीकृति के अतिरिक्त) कोई दूसरा मार्ग नहीं है; अर्थात् ईश्वर को स्वीकार न करनेवालों के मत में किसी भी मार्ग का निर्देश नहीं है।"

२. कुसुमाञ्जलिः—"न प्रमाणम् अनाप्तोक्तिर् नादृष्टे क्वचिद् आप्तता। अदृश्य-दृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः"। अयं हि सर्व-कर्तृत्वाभावा-वेदकः शब्दः अनाप्तोक्तश् चेद् न प्रमाणम्। आप्तोक्तश् चेद् एतद्-अर्थ गोचर-ज्ञानवतो नित्य-सर्व-विषयक-ज्ञानवत्त्वम् इन्द्रियाद्य् अभावात्। आगमस्य च नित्यत्वं दूषितम् एव प्राग् इति वेद-कारो नित्यः सर्वज्ञः सिद्ध्यति (३. १६, और उस पर व्याख्या)।

"'अनाप्तोक्त शब्द प्रमाण नहीं है और न अदृश्य अर्थ में कहीं आप्तता होती है। अदृश्य अर्थ का दर्शन करने के लिये व्यक्ति को सर्वज्ञ होना होगा; और एक नित्य आगम असम्भव है।' यह कर्तृत्वाभाव बोधक शब्द यदि अनाप्तोक्त है तो प्रमाण नहीं है और यदि आप्तोक्त है तो इस विषय के ज्ञान वाला वक्ता इन्द्रिय आदि के न होने से नित्य और सर्वज्ञ होगा। और हम किसी भी आगम के नित्यत्व को पहले ही अप्रमाणित कर चुके हैं (देखिये ऊपर कुसुमाञ्जलि का प्रथम उद्धरण)। इसलिये एक सर्वज्ञ और नित्य वेद-कर्त्ता सिद्ध हो जाता है।"

३. कुसुमाञ्जलिः—कार्य्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् सङ्ख्या-विशेषाच् च साध्यो विश्वविद् अव्ययः"।...प्रत्ययतः

ऋषियो की स्मृति मे सुरक्षित था। देखिये मनुस्मृति १. २३ पर कुल्लूक (ऊपर पृ० ८); और महाभाष्य पर कैय्यट (ऊपर पृ० १०३–४)।

[११८] 'मितव्ययिता का नियम केवल एक ही ऐसे को स्वीकृत करने का आग्रह करता है, इत्यादि—कोवेल।

प्रामाण्यात्। वेद-जन्य-ज्ञानं कारण-गुण-जन्यम प्रमात्वात्। प्रत्यक्षादि-प्रमा-वत्। श्रुतेर् वेदात्। वेदः पौरुषेयो वेदत्वाद् आयुर्वेद-वत्। किञ्च वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वाद् भारतादि-वत्। वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वाद् अस्मद्-आदि-वाक्य-वत् (कुसुमाञ्जलि ५. १, और उस पर व्याख्या)।

"'कार्यात्, आयोजनात्, धृति, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य, तथा सख्या विशेष, इन (आठ हेतुओं) से सर्वज्ञ विश्ववित् अव्यय साध्य है।'

निम्न स्थल व्याख्या के केवल उतने ही अंश का अनुवाद है जो प्रत्यय, श्रुति और वाक्य, इन तीन शब्दों से सम्बद्ध है: " 'प्रत्यय', अर्थात् प्रामाण्य से। वेद-जन्य ज्ञान प्रमा होने के कारण गुणजन्य है। श्रुति, अर्थात् वेद से। वेद भी आयुर्वेद के समान होने से पौरुपेय है। महाभारत आदि के समान वाक्य होने से भी वेद पौरुपेय है। हम लोगों जैसे व्यक्तियों के वाक्यों के समान होने से भी वेद पौरुपेय है।"

४. कुसुमाञ्जलि:—"स्याम्" "अभूवम्" "भविष्यामी"ऽत्यादौ सङ्ख्या प्रवक्तृ-गा। समाख्याऽपि च शाखानां नाद्य-प्रवचनाद् ऋते। वैदिकोत्तम-पुरुषेण स्वतन्त्रोच्चारयितुः सङ्ख्या वाच्या। "तद् ऐक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्" इत्यादि-बहुषु उत्तम-पुरुष-श्रुतेः। सङ्ख्या-पदार्थम् अन्यम् आह "समाख्या" इत्यादि। सर्वासां शाखानां हि काठक-कालापकाद्याः समाख्याः संज्ञा-विशेषाः श्रूयन्ते। ते च न अध्ययन-मात्र-निबन्धनाः। अध्येतॄणाम् आनन्त्यात्। आदाव्-अन्यैर् अपि तद्-अध्ययनात्। तस्माद् अतीन्द्रियार्थ-दर्शी भगवान् एव ईश्वरः कारुणिकः सर्गादाव्-अस्मद्-आद्य्-अदृष्टाकृष्ट-काठकादि-शरीर-विशेषम् अधिष्ठाय यां शाखाम् उक्तवास् तस्याः शाखायास् तन्नाम्ना व्यपदेशः इति सिद्धम् ईश्वर-मननम् मोक्ष-हेतुः (कुसुमाञ्जलि ५. १६, और उस पर व्याख्या)।

" 'स्याम्', 'अभूवम्', 'भविष्यामि', इत्यादि वाक्यों में उत्तम पुरुष की संख्याओं से प्रवक्ता का तात्पर्य है, शाखाओं के नाम भी उनके आदि प्रवचन के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर उत्पन्न नहीं हो सकते।' वेद में आने पर उत्तम पुरुष को उनका उच्चारण करने वाले स्वतन्त्र पुरुष का वाचक मानना चाहिये। इस प्रकार के उत्तम पुरुष के प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसा कि इन शब्दों से व्यक्त होता है: 'उसने देखा, मैं एक हूँ, मुझे अनेक होना चाहिये।' इसके पश्चात् सख्या शब्द का 'समाख्या' इत्यादि दूसरा अर्थ कहते हैं। वेदों की सब शाखाओं की 'काठक', 'कालापक', इत्यादि विशेष

संज्ञायें सुनाई देती हैं। ये संज्ञायें केवल, इन शाखाओं के अध्येताओं के कारण ही नहीं हो सकतीं, क्योंकि अध्येताओं की संख्या अनन्त है और इनके पूर्व भी अनेक अन्य ने इनका अध्ययन किया होगा। इसलिये अतीन्द्रिय अर्थों का साक्षात् करने वाले परम कारुणिक ईश्वर ने ही सृष्टि के आदि में अस्मदादि के अदृष्ट वश उत्पन्न काठक आदि शरीर विशेष को ग्रहण कर जिस शाखा का उपदेश किया है वह शाखा उसी नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ईश्वर का मनन मोक्ष का हेतु है यह सिद्ध हो गया।"

मैं यह कह सकने मे असमर्थ हूँ कि, जैसे कि वैशेषिक सूत्र (कम से कम शंकर-मिश्र ने जैसी व्याख्या की है) प्रतीत होते हैं, और जैसे कि कुसुमाञ्जलि, तर्क संग्रह[११५], और सिद्धान्त मुक्तावली निःसन्देह हैं, प्राचीन नैय्यायिक सिद्धान्त भी आस्तिक है अथवा नहीं (देखिये वैलेन्टाइनः प्रि० फी०, पृ० १२, और डा० रूअर : भाषा परिच्छेद विब० इ० संस्करण, पृ० १३)। डाक्टर रूअर के उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना (पृ० XV-XVI) को इस विषय के लिये देखा जा सकता है। हिन्दू फिलॉसफी (पृ० १४४–१५३) नामक अपने ग्रन्थ में प्रो० बनर्जी ने इस विषय की विवेचना की है। इस समस्या का समाधान बहुत कुछ गौतम सूत्रों (४. १, १९–२१) की व्याख्या के स्वरूप पर निर्भर करता है।

३—सांख्यः—वेद के प्रामाण्य तथा इस प्रामाण्य के आधारभूत सिद्धान्तों से सम्बद्ध सांख्य सूत्रकार के विचार सांख्य सूत्र ५. ४५–५१ में निहित हैं जिन्हें मैं विज्ञानभिक्षु के भाष्य के साथ उद्धृत करूँगा :[११६]

४५. "न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्व-श्रुतेः"। "स तपोऽप्यत तस्मात् तपस् तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" इत्य् आदि-श्रुतेर् वेदानां न नित्यत्वम् इत्य् अर्थः। वेद-नित्यता-वाक्यानि च सजातीयानुपूर्वी-प्रवाहानुच्छेद-

---

[११५] ज्ञानाधिकरणम् आत्मा। स द्विविधो जीवात्मा परमात्मा च। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवात्मा प्रति शरीरम् भिन्नो विभुर् नित्यश्च।

अर्थात् "ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। यह दो प्रकार का होता है: जीवात्मा और परमात्मा। इनमे से परमात्मा केवल एक सर्वज्ञ ईश्वर ही है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न, सर्वव्यापी और नित्य है।"

[११६] साख्य सूत्र (५ वां और ६ वां अध्याय) का सन् १८५६ मे मिर्जापुर से प्रकाशित डा० वैलैन्टाइन के अनुवाद के पृ० २६ और बाद, तथा इन्ही के बिब० इ० (सन् १८६५) मे प्रकाशित इसके सस्करण के पृ० १२७ और बाद, को भी देखिये।

पराणि। तर्हि किम् पौरुषेयाः वेदाः। न इत्य् आह। ४६. "न पौरुषेयत्वं तत्-कर्त्तुः पुरुषस्य अभावात्" ईश्वर-प्रतिषेधाद् इति शेषः। सुगमम्। अपरः कर्त्ता भवत्व् इत्य् आकाङ्क्षायाम् आह। ४७. "मुक्तामुक्तयोर् अयोग्यत्वात्"। जीवन्-मुक्त-धुरीणो विष्णुर् विशुद्ध-सत्त्वतया निरतिशय-सर्वज्ञोऽपि वीत-रागत्वात् सहस्र-शाख-वेद-निर्माणायोग्यः। अमुक्तस् त्व् असर्वज्ञत्वाद् एव अयोग्यः इत्य् अर्थः। नन्व् एवम् अपौरुषेयत्वाद् नित्यत्वम् एव आगतम्। तत्राह। ४८. "न अपौरुषेयत्वाद् नित्यत्वम् अङ्कुरादि-वत्"। स्पष्टम्। नन्व् अङ्कुरादिष्व् अपि कार्यत्वेन घटादि-वत् पुरुषेयत्वम् अनुमेयम्। तत्राह। ४६. "तेषाम् अपि तद्-योगे दृष्ट-बाधादि-प्रसक्तिः"। यत् पौरुषेयं तच् छरीर-जन्यम् इति व्याप्तिर् लोके दृष्टा तस्याः बाधादिर् एवम् सति स्याद् इति अर्थः। नन्व् आदि-पुरुषोच्चरितत्वाद् वेदाः अपि पौरुषेयाः एव इत्य् आह। ५०. "यस्मिन् अदृष्टेऽपि कृत-बुद्धिर् उपजायते तत् पौरुषेयम्"। दृष्टे इव अदृष्टेऽपि यस्मिन् वस्तुनि कृत-बुद्धिर् बुद्धिपूर्वकत्व-बुद्धिर् जायते तद् एव पौरुषेयम् इति व्यवह्रियते इत्य् अर्थः। एतद् उक्तम् भवति। न पुरुषोच्च-रितता-मात्रेण पौरुषेयत्वं श्वास-प्रश्वासयोः सुषुप्ति-कालीनयोः पौरुषेयत्व-व्यवहाराभावात् किन्तु बुद्धि-पूर्वकत्वेन। वेदास् तु निःश्वास-वद् एव अदृष्ट-वशाद् अबुद्धि-पूर्वकाः एव स्वयम्भुवः सकाशात् स्वयम् भवन्ति। अतो न ते पौरुषेयाः। तथा च श्रुतिः "तस्यैतस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो इत्य् आदिर्" इति। नन्व् एवम् यथार्थ-वाक्यार्थ ज्ञानापूर्वकत्वात् शुक-वाक्यस्येव वेदानाम् अपि प्रामाण्यं न स्यात् तत्राह। ५१. "निज-शक्त्य्-अभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्"। वेदानाम् निजा स्वाभाविकी या यथार्थ-ज्ञान-जनन-शक्तिस् तस्याः मन्त्रायुर्वेदादाव् अभिव्यक्तेर् उपलम्भाद् अखिल-वेदानाम् एव स्वतः एव प्रामाण्यं सिद्ध्यति न वक्तृ-यथार्थ-ज्ञान-मूलकत्वादिना इत्य् अर्थः। तथा च न्याय-सूत्रम्। "मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्य-वच् च तत्-प्रामाण्यम्" इति (सांख्य सूत्र ५. ४५-५१, और उस पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)।

"सूत्र ४५ : 'वेद को नित्य नहीं माना जा सकता क्योंकि स्वयं श्रुति में भी उन्हें कृति कहा गया है।' 'उसने तप किया और तप करने से तीन वेद उत्पन्न हुये', इत्यादि श्रुति से वेद का कार्य होना और नित्य न होना सिद्ध होता है। जो अन्य शास्त्र वेद का नित्यत्व बताते हैं वह केवल सजातीयानुपूर्वी प्रवाहानुच्छेद मात्र का उल्लेख करते हैं। तब क्या वेद पौरुषेय हैं ? 'ऐसा नहीं है' यह कहते हुये सूत्र ४६ में इसका उत्तर देते हैं। 'वेद पौरुषेय

नहीं हैं क्योंकि उनके कर्त्ता किसी पुरुष का अभाव है।' यहाँ हमें, 'यतः ईश्वर को अस्वीकृत किया गया है', इन शब्दों को जोड़ लेना चाहिये। आशय सरल है। किसी अन्य कर्त्ता की मान्यता के उत्तर में सूत्र ४७ में इस प्रकार कहा गया है : 'नहीं; क्योंकि मुक्त अथवा अमुक्त कोई भी योग्य कर्त्ता नहीं हो सकता।' जीवन-मुक्त व्यक्तियों में प्रमुख विष्णु भी यद्यपि विशुद्ध सत्त्व सम्पन्न, निरतिशय और सर्वज्ञ हैं, तथापि वीतरागत्व के कारण वह सहस्र शाखाओं से युक्त वेद-निर्माण के अयोग्य हैं; जब कि अमुक्त व्यक्ति सर्वज्ञता के अभाव में इस कार्य के अयोग्य होंगे। (देखिये ब्रह्मसूत्र १. १, ३ पर शांकरभाष्य, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)। तब क्या अपौरुषेयत्व के कारण वेद का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता? इसका यह उत्तर है (सूत्र ४८): अङ्कुरों आदि के समान, वेद का नित्यत्व उनके अपौरुषेयत्व से सिद्ध नहीं होता। यह स्पष्ट है। किन्तु क्या घटादि की भाँति कृति होने के कारण अङ्कुर आदि के भी पौरुषेय होने का अनुमान नहीं किया जा सकता? इसका उत्तर देते हैं (सूत्र ४९): 'यदि इस प्रकार की मान्यता को (अङ्कुरादि) के लिये व्यवहृत किया जाय तो यह भी आपत्ति हो सकती है कि ऐसा दृष्टार्थ के विपरीत होगा'। जो कुछ भी पौरुषेय है वह शरीरजन्य होता है। यह एक ऐसा नियम है जो लोक में व्याप्त दिखाई देता है। किन्तु हम यह कहें कि अङ्कुर आदि पौरुषेय हैं तो हम उक्त नियम का प्रतिवाद कर देंगे। किन्तु आदि पुरुषोच्चरित होने के कारण वेद पौरुषेय नहीं हैं? इसका उत्तर देते हैं (सूत्र ५०). 'जिसका, चाहे वह अदृष्ट ही हो, बनाने वाला उसके कर्तृत्व से अवगत होता है उसे ही उस पुरुष द्वारा कृत माना जा सकता है।' केवल ऐसी ही वस्तुओं को, चाहे वह दृष्ट हों अथवा अदृष्ट, पौरुषेय कहा जा सकता है जिनका सृजन उनके कृत होने के तथ्य से अवगत होते हुये किया जाता है। आशय यह है कि केवल पुरुषोच्चरित मात्र को ही पौरुषेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम साधारणतया सुषुप्ति के समय के श्वास प्रश्वास को उस पुरुष द्वारा कृत नहीं कहते, वरन् केवल बुद्धि पूर्व किये गये उच्चारण को ही पौरुषेय कहते हैं। किन्तु वेद अदृष्टवशाद् स्वयंभू के निश्वास से बिना उनके किसी बुद्धिपूर्वक प्रयास के ही स्वतः उत्पन्न हुये थे, अतः वेद पौरुषेय नहीं हैं। श्रुति इस प्रकार कहती है : 'यह ऋग्वेद आदि उस महत्पुरुष के निश्वास हैं।' किन्तु क्या इस प्रकार शुक-वाक्य की भाँति वेद भी प्रामाण्य रहित नहीं हो जायेंगे, क्योंकि यथार्थ वाक्यार्थ के ज्ञानपूर्वक इनकी उत्पत्ति नहीं हुई है? इसके उत्तर में कहते हैं : (सूत्र ५१): 'वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि उनमें निज की अभिव्यक्ति होती है।' सम्पूर्ण वेद का स्वतः प्रामाण्य उनके कुछ स्थलों,

जैसे मंत्रायुर्वेद, इत्यादि में व्यक्त होने वाली यथार्थ ज्ञान जनक उनकी निज की शक्ति से सिद्ध होता है, और यह उनके वक्ता[११७] के यथार्थ ज्ञान अथवा इस प्रकार के किसी अन्य मूल पर आधारित नहीं है। इस विषय पर यह न्यायसूत्र है : 'उनका प्रामाण्य मंत्र-आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान है'।"

उक्त ४६ वें सूत्र के सन्दर्भ में मैं प्रथम अध्याय के ९८ वें सूत्र तथा उसके आदि और अन्त की व्याख्या का उद्धरण दे रहा हूँ :

ननु चेत् सदा सर्वज्ञः ईश्वरो नास्ति तर्हि वेदान्त-महावाक्यार्थस्य विवेकस्य उपदेशेऽन्ध-परम्पराशङ्कया अप्रामाण्यम् प्रसज्येत। तत्र आह। ९८. सिद्ध-रूप-बोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः। हिरण्यगर्भादीनां सिद्ध-रूपाणां[११८] यथार्थार्थस्य बोद्धृत्वात् तद्-वक्तृकायुर्वेदादि-प्रामाण्येन अवधृताच् च एषां वाक्यार्थोपदेशः प्रमाणम् इति शेषः (सांख्य सूत्र १. ९८, और इसके पूर्व और पश्चात की व्याख्या)।

"किन्तु क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यदि नित्य और सर्वज्ञ ईश्वर न हो तो प्रामाण्याभाव का यह आक्षेप इस संदेह के कारण विवेकात्मक उपदेशों से युक्त महावाक्यार्थ वेदान्त पर आरोपित हो जायगा कि कहीं ये शास्त्र भी अन्धपरम्परा के परिणाम तो नहीं हैं? इसका उत्तर देते हैं : "(९८) : 'सिद्धार्थ रूपों के यथार्थ ज्ञाता होने से उनके वाक्यार्थ का उपदेश प्रमाण है।' जिस प्रकार हिरण्यगर्भ आदि का उपदेश सिद्ध रूप और यथार्थ ज्ञान से युक्त होने के कारण आयुर्वेदादि के रूप में प्रामाण्य है, उसी प्रकार उनका वाक्यार्थ उपदेश भी प्रामाण्य है, ऐसा सूत्र का सम्पूर्ण आशय है।"

पाँचवें अध्याय के ५७ वें तथा उसके बाद के सूत्रों में कपिल इस बात को अस्वीकार करते हैं कि शब्द में स्फोट का गुण है और अक्षर नित्य है :

५७. "प्रतीत्य-अप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः"। प्रत्येक-वर्णेभ्यो-ऽतिरिक्तं कलशः इत्यादि-रूपम् अखण्डम् एक-पदम् स्फोटः इति योगैर् अभ्युपगम्यते। कम्बु-ग्रीवाद्य्-अवयवेभ्योऽतिरिक्तो घटाद्य्-अवयवीव।

---

[११७] यह वैशेषिक सूत्रो और कुसुमाञ्जलि के सिद्धान्तो का प्रत्यक्ष विरोधी है।

[११८] यह डा० हॉल द्वारा साख्य प्रवचन भाष्य के अपने सस्करण मे दी गई परिशिष्ट के पाठ की अपेक्षा एक भिन्न पाठ है, और मैंने उनके 'सिद्ध रूपस्य' की अपेक्षा 'सिद्धरूप' पाठ को इसलिये ग्रहण किया है कि यह आशय को अधिक अच्छी तरह व्यक्त करता है।

स च शब्द-विशेषो पदाख्योऽर्थ-स्फुटीकरणात् स्फोटः इत्य् उच्यते। स शब्दोऽप्रामाणिकः। कुतः। "प्रतीत्य्-अप्रतीतिभ्याम्"। स शब्दः किम् प्रतीयते न वा। आद्ये येन वर्ण-समुदायेन आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्टेन सोऽभिव्यज्यते तस्य एव अर्थ-प्रत्यायकत्वम् अस्तु। किम् अन्तर्गडुना तेन। अन्त्ये त्व् अज्ञात-स्फोटस्य नास्त्य् अर्थ-प्रत्यायनशक्तिर् इति व्यर्था स्फोट-कल्पना इत्य् अर्थः। पूर्वं वेदानां नित्यत्वम् प्रतिषिद्धम्। इदानीं वर्ण-नित्यत्वम् अपि प्रतिषेदति। ५८. "न शब्द-नित्यत्वं कार्यता-प्रतीतेः"। स एव अयं ग-कारः इत्यादि-प्रत्यभिज्ञा-बलाद् वर्ण-नित्यत्वं न युक्तम्। उत्पन्नो ग-कारः इत्यादि-प्रत्ययेन अनित्यत्व सिद्धेर् इत्य् अर्थः। प्रत्यभिज्ञा तज्-जातीयता-विषयिणी। अन्यथा घटादेर् अपि प्रत्यभिज्ञायाः नित्यतापत्तेर् इति। शङ्कते। ५९. "पूर्व-सिद्ध-सत्त्वस्य अभिव्यक्तिर् दीपेनेव घटस्य"। ननु पूर्व-सिद्ध-सत्ताकस्यैव शब्दस्य ध्वन्य्-आदिभिर् याऽभिव्यक्तिस् तन्-मात्रम् उत्पत्तिः प्रतीतेर् विषयः। अभिव्यक्तौ दृष्टान्तो दीपेनेव घटस्य इति। परिहरति। ६०. "सत्-कार्य्य-सिद्धान्तश् चेत् सिद्ध-साधनम्"। अभिव्यक्तिर् यद्य् अनागतावस्था-त्यागेन वर्त्तमानावस्था-लाभः इत्य् उच्यते तदा सत्-कार्य्य सिद्धान्तः। तादृश-नित्यत्व च सर्व-कार्याणाम् एव इति सिद्ध-साधनम् इत्य् अर्थः। यदि च वर्त्तमानतया सतः एव ज्ञान-मात्र-रूपिण्य् अभिव्यक्तिर् उच्यते तदा घटादीनाम् अपि नित्यत्वापत्तिर् इत्यादि। (सांख्य सूत्र ५. ५७–६० और उस पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य)।

" 'प्रतीति और अप्रतीति दोनों के होने से शब्द स्फोटात्मक नहीं है'। अखण्ड एक पद और प्रत्येक वर्ण से भिन्न कलशादि शब्दों के रूपों में वर्त्तमान, कम्बु ग्रीवादि जैसे शब्दों के अवयवों के अतिरिक्त और घटादि जैसे सम्पूर्ण शब्द का निर्माण करने वाले स्फोट को योग में मान्यता है। और पद कहे जाने वाले शब्द विशेष के इस रूप को अर्थ का स्फुटीकरण करने के कारण स्फोट कहते हैं। किन्तु शब्द का यह रूप प्रमाण रहित है। क्यों? 'प्रतीति और अप्रतीति की द्विधा के कारण'। शब्द का यह रूप प्रतीत होता है अथवा नहीं? यदि यह प्रतीत होता है तब अर्थ को प्रगट करने वाली शक्ति को एक विशेष आनुपूर्वी से युक्त वर्ण समुदाय में निहित मानना चाहिये, जिससे स्फोट की अभिव्यञ्जना होती है। तब इस निरर्थक स्फोट की क्या आवश्यकता है? इसके विपरीत यदि इसकी प्रतीति नहीं होती तब इस अज्ञात स्फोट में अर्थ की प्रतीति कराने की शक्ति नहीं हो सकती और फलस्वरूप स्फोट की कल्पना व्यर्थ है।

"वेद की नित्यता को पहले ही अस्वीकृत किया जा चुका है। अब वह

वर्ण के नित्यत्व को अस्वीकार करते हैं। ५८ : 'शब्द नित्य नहीं है क्योंकि इसमें कार्य की प्रतीति होती है।' अर्थ यह है कि गकार आदि को पहले सुने हुये अर्थ में ही ग्रहण कर लेने के आधार पर अक्षर को नित्य मानना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि गकार आदि उत्पन्न होते हैं और इसलिये नित्य नहीं हो सकते। इन वर्णों की प्रत्यभिज्ञा से यह तात्पर्य है कि हम पहले भी इनका इसी जाति के रूप में प्रत्यक्षीकरण कर चुके हैं; अन्यथा हम इस आपत्ति के वशीभूत हो जायेंगे कि यतः हम घटादि किसी भी वस्तु को उसी प्रकार ही ग्रहण करते हैं अतः उन्हें भी नित्य होना चाहिये।

"यहाँ एक शंका करते हैं : ५९ : 'हम जो कुछ श्रवण करते हैं वह केवल पूर्व सत्ता की ही अभिव्यक्ति हो सकता है, जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से घटादि की अभिव्यक्ति होती है' (देखिये मीमांसा सूत्र १. १२-१३)। क्या यह सत्य नहीं कि ध्वनि इत्यादि के द्वारा हमें जो उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है वह केवल एक पूर्व सत्ता युक्त शब्द की ही अभिव्यक्ति है? दीपक के द्वारा घट की अभिव्यक्ति इस प्रकार का एक उदाहरण है।

"इस शंका का समाधान करते हैं : ६० : 'यदि यहाँ किसी कार्य के उसके कारण में निहित होने के सिद्धान्त से तात्पर्य है तो यह केवल पूर्व सिद्ध बात को ही प्रमाणित करना है।' यदि अभिव्यक्ति से अनागतावस्था के त्याग और वर्तमान अवस्था के लाभ का तात्पर्य है तो हमें केवल सत्कार्य सिद्धान्त ही उपलब्ध होता है (देखिये सांख्य कारिका, सूत्र ९), और यतः समस्त कार्यों को नित्यता प्रदान की जा सकती है, अतः यह एक सिद्ध तथ्य को ही सिद्ध करना होगा। दूसरी ओर, यदि अभिव्यक्ति से केवल पूर्व सत्ता-युक्त किसी वस्तु के ज्ञान मात्र से तात्पर्य है तो हम इस आपत्ति के वशीभूत हो जायेंगे कि घटादि भी नित्य हैं।"

खण्ड १०—विभिन्न दर्शनों के प्रतिपादकों द्वारा वैदिक स्थलों के उपयोग और व्याख्या की पद्धति।

मैं ऊपर इस बात की कुछ विवेचना कर चुका हूँ कि ब्रह्मसूत्र के प्रणेता और उसके भाष्यकार शंकराचार्य ने प्रमुखतः उपनिषदों और ब्राह्मणों से गृहीत उन वैदिक स्थलों की, जिन पर वेदान्त के सिद्धान्त आधारित हैं, किस प्रकार व्याख्या की है, अथवा किस प्रकार उनका समर्थन किया है, अथवा उनमें से किनके साथ उनके सिद्धान्तों की संगति है। फिर भी, इस बात का कुछ और विस्तृत रूप से अध्ययन करना उपयोगी होगा कि किस सीमा तक श्रुतियों

का आश्रय लिया गया है और किस प्रकार विभिन्न दर्शनों के प्रतिपादकों ने उनकी विवेचना की है। पूर्व मीमांसा का एक उद्देश्य 'धर्म-जिज्ञासा' (सूत्र १) है। धर्म की वेद-विहित भाव व्यक्त करने वाले के रूप में परिभाषा की गई है (सूत्र २ : 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः), और इन वेद-विहित विधानों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से धर्म का निर्धारण नहीं किया जा सकता।[११९] कोलब्रुक के अनुसार मीमांसा के प्रथम छः पादों में 'निश्चित आदेश' है; शेष छः पादों में 'परोक्ष निर्देश' है। प्रथम पाद का विषय धर्म प्रामाण्य की विवेचना करना है; धर्म के विभेद और प्रकार, उसके अङ्ग, और धर्म का प्रयोजन, क्रमशः बाद के तीन पादों का विषय है। पाँचवे पाद में धर्म विषयक क्रियापदों का निरूपण है। और छठवें में कर्मरूप धर्म के अनेक भेदों का वर्णन है। सातवें पाद में परोक्ष उपदेशों के विषय का सामान्य रूप से और आठवें में विशेष रूप से उल्लेख है। नवें पाद में किसी कर्म विशेष के लिये निर्धारित विधि में परिवर्तनों के अनुमान का, और दसवें में प्रतिषेधों का निरूपण किया गया है। विभिन्न कर्मों के सहकारी फलों का ग्यारहवें में, और समवर्गीय फलों का बारहवें में उल्लेख है। ....अन्य विषयों का मूल-विषय के प्रसङ्ग में अथवा अपवादों के ही रूप में उल्लेख है। (कोल० मिस० ए०, १. ३०४ और बाद)।" इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व मीमांसा का प्रमुख उद्देश्य वेद के प्रामाण्य को सिद्ध करना, और उसके बाद वेद के आधार पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष धर्म का निर्धारण, धर्म सम्बन्धी विभिन्न कर्मों और स्थितियों की विवेचना, और उनके फलों का निर्देश करना है। इसे 'विशेष फलों की प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों' के सन्दर्भ में कर्म मीमांसा भी कहा गया है (कोल० मिस० ए० १. २९६, ३२५)।

इसी लेखक (कोलब्रुक) के अनुसार ब्रह्ममीमांसा अथवा वेदान्त कर्ममीमांसा का ही प्रतिपूरक है, और इसीलिये 'पूर्व' के विपरीत 'उत्तर' विशेषण के साथ व्यक्त किया गया है और इसका प्रयोजन धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में वेदों से निष्कृष्ट प्रमाणों का अनुसन्धान करना है, जब कि प्रथम में श्रुतियों और उनके गुणों का अध्ययन किया गया है। इस प्रकार इन दोनों को सम्मिलित रूप से वेद के उपदेशों और सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाले व्यावहारिक और धर्मशास्त्रीय दोनों ही प्रकार की, वैदिक उपदेशों और सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाली पद्धति कहा जा सकता है। यह एक ही पूर्ण पद्धति के दो अङ्ग हैं। उत्तर मीमांसा, पूर्वमीमांसा का प्रतिपूरक है और इसे स्पष्ट रूप से ऐसा कहा भी गया है : किन्तु कुछ विषयों में सहमत होते हुये

[११९] देखिये वैलेन्टाईन : मीमासा सूत्र पृ० ७।

अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर इनमें मतभेद होने के कारण यह दोनों ही धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से स्पष्टतः भिन्न हैं। (कोल० मिस० ए० १. ३२५)।" वास्तव में ब्रह्ममीमांसा, कर्म मीमांसा द्वारा प्रतिपादित फलों और उद्देश्यों का अवमूल्यन करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि कर्म-मीमांसा जिन पारलौकिक फलों का संकेत करता है वह अल्पस्थायी हैं। शंकर के अनुसार ब्रह्मजिज्ञासु के लिये ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ करने के पूर्व कर्म-मीमांसा का अध्ययन करना भी आवश्यक नहीं ('नन्व् इह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेष'। न। धर्म-जिज्ञासायाः प्राग् अप्य् अधीत वेदान्तस्य ब्रह्म-जिज्ञासोपपत्तेः', ब्रह्मसूत्र १. १, १ पर शांकरभाष्य)। इसी को निम्न स्थल पर और स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है :

तस्मात् किम् अपि वक्तव्यम् यद्-अनन्तरम् ब्रह्म-जिज्ञासा उपदिश्यते इति। उच्यते। नित्यानित्य-वस्तु-विवेकः इहामुत्तरार्थ-फल-भोग-विरागः शम-दमादि-साधन-सम्पद् मुमुक्षत्वं च। तेषु हि सत्सु प्राग् अपि धर्म-जिज्ञासायाः ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासयितु ज्ञातुं च न विपर्य्यये। तस्माद् "अथ" शब्देन यथोक्त-साधन-सम्पत्त्य्-अनन्तर्य्यम् उपदिश्यते। 'अतः' शब्दो हेत्व्-अर्थः। यस्माद् वेदः एव अग्निहोत्रादीनां श्रेयस्-साधनानाम् अनित्य-फलतां दर्शयति "तद यथा इह कर्म-चितो लोकः क्षीयते एवम् एव अमुत्र पुण्य-चितो लोकः क्षीयते" इत्य्-आदि। तथा ब्रह्म-विज्ञानाद् अपि परम् पुरुषार्थम् दर्शयति ब्रह्म-विद् आप्नोति परम्' इत्य्-आदि। तस्माद् यथोक्त-साधन-सम्पत्त्य्-अनन्तरम् ब्रह्म-जिज्ञासा कर्त्तव्या (ब्रह्मसूत्र १. १, १ और उस पर शांकरभाष्य)।

यहाँ भाष्यकार सूत्र के आरम्भ के 'अथ' शब्द की व्याख्या और इस बात की जिज्ञासा कर रहा है कि किस बात को ब्रह्म जिज्ञासा का पूर्ववर्ती कहा गया है। "तब हमें उसे क्या कहना चाहिये जिसके अनन्तर ही ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश किया जाता है? उत्तर यह है, नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक और परलोक में विषयभोग के प्रति विराग, शम, दम, आदि साधन-सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा, यह सब हों तो धर्मजिज्ञासा के पूर्व और पश्चात भी ब्रह्मज्ञान की इच्छा हो सकती है, और ब्रह्मज्ञान भी हो सकता है; किन्तु इन चार साधनों के बिना यह दोनों ही नहीं हो सकते। इसलिये 'अथ' शब्द से पूर्वोक्त साधन-सम्पत्ति से अनन्तर्य का उपदेश होता है। बाद का 'अतः' शब्द हेतु-वाचक है। इस प्रकार के शब्दों, जैसे 'खेती आदि से उपार्जित इस लोक के भोग्यपदार्थ जिस प्रकार क्षीण हो जाते हैं उसी प्रकार परलोक में पुण्य से सम्पादित किये हुये लोकों का क्षय हो जाता है',

इत्यादि से स्वयं श्रुति कल्याण के साधक अग्निहोत्र आदि के फलस्वरूप प्राप्त स्वर्गादि की अनित्यता दर्शाती है। इसी प्रकार 'ब्रह्म को जानने वाला मोक्ष प्राप्त करता है' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान से ही परम पुरुषार्थ को दिखातीं हैं; इसलिये उपर्युक्त साधन-सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।"

जैसा कि हम ऊपर (पृ० ७८) देख चुके हैं, मीमांसा सूत्र १. १, ५ में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध प्रणेता बादरायण को इस मीमांसा सूत्र में वर्णित सिद्धान्तों से सहमत होने के रूप में उद्धृत किया गया है। किन्तु ब्रह्मसूत्र के अनेक स्थलों पर जैमिनि के मतों का तर्क और श्रुति दोनों के आधार पर बादरायण से भिन्न होने के रूप में खण्डन किया गया है।

मैं इन दोनों सम्प्रदायों के मतभेद को व्यक्त करनेवाले कुछ स्थलों का उद्धरण दूँगा :

हम ऊपर (पृ० १०७) देख चुके हैं कि ब्रह्मसूत्र के अनुसार देवों को भी ब्रह्मज्ञान अर्जित करने का अधिकार है। फिर भी, जैमिनि ने इसका विरोध किया है (देखिये ब्रह्मसूत्र १. ३, ३१)। जैमिनि की आपत्ति यह है : (१) ब्रह्मविद्या में देवताओं का अधिकार मानने पर मधुविद्या आदि में भी उनका अधिकार मानना पड़ेगा क्योंकि ये भी विद्यायें हैं। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि मधुविद्या के आधार पर आदित्य की उपासना मनुष्य कर सकते हैं, परन्तु देवता आदि को भी यदि उपासक माना जाय तो आदित्य किस अन्य आदित्य की उपासना करेगा ? इसी प्रकार अन्य स्थितियों द्वारा भी ऐसी ही कठिनाईयाँ उपस्थित होती हैं, जैसे इस मान्यता के आधार पर वसुगण, रुद्रगण, तथा देवों के अन्य तीन वर्गों के देवगण एक साथ ही उपासक और उपास्य हो जायेंगे। दूसरे सूक्त में द्वितीय आपत्ति इस प्रकार व्यक्त की गई है : (२) द्युलोक में रहनेवाले देवगण वास्तव में संवेदना और कामना से रहित माने गये हैं; और इस आधार पर उक्त मान्यता देवों के लिये उपयुक्त नहीं है। बादरायण ने ३३वें सूक्त में उत्तर दिया है कि (१) यद्यपि देवता आदि से सम्बन्ध रखनेवाली मधुविद्या आदि में देवताओं का अधिकार असम्भव है तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्या में उनका अधिकार हो सकता है क्योंकि अधिकार के कारण कामना, सामर्थ्य, और प्रतिषेध के अभाव आदि हैं (तथाप्य् अस्ति हि शुद्धायाम् ब्रह्म-विद्यायां सम्भवोऽर्थित्व सामर्थ्याप्रतिषेधाद्य-अपेक्षत्वाद् अधिकारस्य)। बादरायण का कथन है कि कहीं असम्भव होने के कारण ही जहाँ सम्भव हो वहाँ भी अधिकार का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा हो तो तीन उच्चवर्ण के मनुष्यों के लिये राजसूय जैसे किसी यज्ञ विशेष का निषेध होने पर उनके लिये अन्य सभी यज्ञों का निषेध हो जायगा।

आगे वह अनेक ऐसी श्रुतियों के उदाहरण देते हैं जो देवताओं में ब्रह्मज्ञान के सामर्थ्य और इच्छा की पुष्टि करती हैं, जैसे 'तद् यो यो देवानाम् प्रत्यबुध्यत् स एव तद् अभवत् तथा ऋषीनां तथा मनुष्याणाम्'[120] अर्थात् 'देवताओं, ऋषियों, और मनुष्यों में जिस-जिस को ब्रह्म का प्रत्यक् रूप से ज्ञान हुआ वही ब्रह्म हो गया।" पुनः : 'ते ह ऊचुर् "हन्त तम् आत्मानम् अन्विच्छामो यम् आत्मानम् अन्विष्य सर्वान् लोकान् आप्नोति सर्वांश् च कामान्" इति। इन्द्रो ह वै देवानाम् अभि प्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्, 'इति'।[121] अर्थात् "उन्होंने कहा, 'आओ हम उस आत्मा की खोज करें जिसके ज्ञान से सब लोकों और कर्मों की प्राप्ति होती है'। ऐसा परामर्श करके देवताओं में इन्द्र और असुरों में विरोचन (गोविन्दानन्द के अनुसार ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाले प्रजापति के पास) गये।" दूसरी आपत्ति के उत्तर में शंकर का कथन है कि ज्योतिर्मण्डल आदि में प्रयुक्त होने पर भी देवतावाचक आदित्य आदि शब्द चेतनाशील और ऐश्वर्यशाली उन्हीं-उन्हीं देवताओं का बोध कराते हैं, क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, आदि में ऐसा ही व्यवहार है। तदुपरान्त वह ३२वें सूत्र के अन्तर्गत मीमांसकों की इस आपत्ति का समाधान करते हैं कि मन्त्र और अर्थवाद के अन्यार्थक होने के कारण उनमें देवता के विग्रह आदि पर प्रकाश डालने का सामर्थ्य नहीं है। शंकर का उत्तर यह है कि वस्तु के सद्भाव और असद्भाव के प्रति उसकी प्रतीति और अप्रतीति ही कारण है, उसके वाचक पद का अन्यार्थकत्व अथवा अनन्यार्थकत्व नहीं। मीमांसक को इतने पर भी असन्तुष्ट कहा गया है : किन्तु मैं अपने इस सारांश को और अधिक विस्तृत न करते हुये शंकर के इस निष्कर्ष की ओर संकेत कर देना मात्र पर्याप्त समझता हूँ कि किसी देवता के प्रति किसी हवि का विधान करनेवाले निर्देश का तात्पर्य यह है कि इन देवताओं का एक विशेष रूप होता है जिसका उपासक ध्यान कर सकता है; और वास्तव में इस प्रकार के ध्यान का विधान श्रुतियों में भी है, जैसे 'यस्यै देवतायै हविर् गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट् करिष्यन्'[122], अर्थात् 'जिस देवता के लिये हवि को ग्रहण किया गया हो उसका वषट्कार करने के पूर्व ध्यान करना चाहिये।'[123]

---

[120] बृहदारण्यक उपनिषद् १ ४, १०। अनुवादक

[121] छान्दोग्य उपनिषद् ८ ७, २। अनुवादक

[122] ऐतरेय ब्राह्मण ३ ८, १ अनुवादक।

[123] वह स्थल, जहाँ शंकर इस आपत्ति का समाधान करते हैं कि ऐसी दशाओं में इतिहास-पुराण कोई स्वतन्त्र प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते, नीचे उद्धृत किया जायगा।

ब्रह्मसूत्र ३. ४, १ में बादरायण के सिद्धान्त के रूप में यह कहा गया है कि उपनिषदों में वर्णित स्वतन्त्र आत्मज्ञान ही पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है (अतः। अस्मात् वेदान्तविहिताद् आत्म-ज्ञानात् स्वतन्त्रात् पुरुषार्थः सिद्ध्यति इति बादरायणः आचार्य्यो मन्यते)। इसे शंकर विभिन्न श्रुतियों के आधार पर सिद्ध करते हैं (इत्य्-एवं-जातीयका श्रुतिर् विद्यायाः केवलायाः पुरुपार्थ-हेतुत्वं श्रावयति), जैसे 'तरति शोकम् आत्म-वित्'[124] अर्थात् 'आत्मवेत्ता शोक का अतिक्रमण करता है'; 'स यो ह वै तत् परम् ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति'[125], अर्थात् 'जो कोई उस ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है'; 'ब्रह्म-विद् आप्नोति परम्'[126], अर्थात् 'ब्रह्मविद् परमब्रह्म को प्राप्त होता है'; इत्यादि।[127] दूसरे सूत्र में जैमिनि को इस सिद्धान्त का विरोधी और यह कहते हुये बताया गया है कि विभिन्न कर्मों को सम्पन्न करने के लिये हि आत्मज्ञान की फलश्रुति है। शकर की व्याख्या के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि 'कर्त्ता होने से आत्मा कर्म का अंग है अतः उसका विज्ञान भी व्रीहि प्रोक्षण आदि के समान विषय द्वारा कर्म-सम्बन्धी ही है' (कर्त्तृत्वेन आत्मनः कर्मशेषत्वात् तद् विज्ञानम् अपि ''विषय-द्वारेण कर्म सम्बन्ध्य् एव इति)। बाद के तीसरे से सातवें सूत्रों में इसी मत को और विस्तार से व्यक्त करते हुये, ब्रह्मज्ञानी होते हुये भी यज्ञ करनेवाले ऋषियों (सूत्र ३), कर्म और विद्या को फलोत्पादन में सहकारी माननेवाली फलश्रुति (सूत्र ५), और एक अन्य ऐसी श्रुति जो सेवा सुश्रूषारूपी कर्म के साथ-साथ वेद के यथाविधि अध्ययन का विधान करती है (सूत्र ६), तथा अन्य के उदाहरण के आधार पर इसका और अधिक समर्थन किया गया है। दूसरे सूत्र में व्यक्त मत को आधारहीन बताते हुये शंकर आठवें सूत्र में यह उत्तर देते है कि 'उपनिषदों में व्यक्त आत्मा जीवात्मा से भिन्न, वह परम आत्मा है जिसका विज्ञान कर्मों का प्रवर्त्तक नहीं होता वरन् कर्मों का उच्छेद करता है (न च तद् विज्ञानं कर्मणाम् प्रवर्त्तकम् भवति प्रत्युत तत् कर्माण्य् उच्छिनत्ति)। १६वें सूत्र के अन्तर्गत शंकर ने यह बताया है कि किस प्रकार ऐसा होता है : 'कर्माधिकार के हेतु क्रियारूप, कारकरूप, और फलरूप अविद्याकृत समस्त

---

[124] छान्दोग्योपनिषद् ७ १, ३। अनुवादक

[125] मुण्डकोपनिषद् ३. २, ९। अनुवादक

[126] तैत्तिरीयोपनिषद् २ १, १। अनुवादक

[127] उक्त तीनो उद्धरणो को मूल लेखक ने छान्दोग्य उपनिषद् से ही गृहीत बताया है, जो ठीक नही है। अनुवादक

प्रपञ्चों का विद्या के सामर्थ्य से नाश हो जाता है' (अपि च कर्माधिकार-हेतोः क्रिया-कारक-फल-लक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्य अविद्या-कृतस्य विद्या-सामार्थ्यात् स्वरूपोपमर्दम् आमनन्ति)। तीसरे सूत्र के प्रति बादरायण का उत्तर यह है कि ऋषियों के कर्म वही रहते हैं चाहे वे कर्म सम्बन्धी विद्या का अर्जन करें अथवा नहीं; पाँचवें सूत्र के उत्तर में उनका कथन है कि इस सूत्र में कर्म और विद्या एक ही व्यक्ति में नहीं वरन् एक में कर्म और दूसरे से विद्या उत्पन्न हैं; और छठवें सूत्र के उत्तर में उनका कथन है कि इस सूत्र में वेद विषयक ज्ञान नहीं वरन् वेदाध्यायन का ही उल्लेख है। यह दिखाने के लिये कि ब्रह्मविद्या कर्माङ्ग नहीं है १७वें सूत्र में जो अन्य तर्क प्रस्तुत किया गया है वह यह है कि 'वैदिक कर्मों का अनुष्ठान न करनेवाले सन्यासियों को भी वेद में, विद्या का, अधिकारी माना गया है (ऊर्ध्वरेतस्सु च अश्रमेषु विद्या श्रूयते न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्यायाः उपपद्यते कर्माभावात्। न ह्यु अग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति)। बाद के अठारहवें सूत्र में जैमिनि को इस तर्क की प्रामाणिकता पर इस आधार पर आपत्ति करते हुये बताया गया है कि इसकी पुष्टि के लिये उद्धृत श्रुतियाँ केवल संन्यासियों के अस्तित्व की ही ओर संकेत करती है, और इस प्रकार के किसी विधान की वैदिक प्रचलन के साथ कोई संगति नहीं स्थापित करतीं; साथ ही, या तो यह श्रुतियाँ सन्दिग्ध हैं अथवा इनका प्रयोजन भिन्न है। इनके अतिरिक्त, एक अन्य श्रुति सन्यास आश्रम को ही अमान्य कर देती है, इस आपत्ति का बादरायण ने १९वें सूत्र में यह उत्तर दिया है कि उक्त श्रुतियाँ सन्यास आश्रम को भी उतना ही अनुष्ठेय मानती हैं जितना अन्य को; और इन स्थलों में से एक की असन्दिग्धता का इस आधार पर निवारण हो जाता है कि तीन आश्रमों में से दो, गृहस्थ और ब्रह्मचर्य, का स्पष्ट उल्लेख होने से तृतीय सन्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। २०वें सूत्र में इस विषय का और विस्तार से विवेचन किया गया है जहाँ सूत्रकार, और भाष्यकार (जो कुछ और श्रुतियों का उद्धरण देते हैं) इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्यास आश्रम का अनुष्ठान वेदों में न केवल उल्लिखित ही है वरन् उद्दिष्ट भी है। फलस्वरूप ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम सिद्ध है, और ऊर्ध्वरेताओं के लिये विद्या का विधान होने से विद्या स्वतंत्र है (तस्मात् सिद्धा ऊर्ध्वरेतसः आश्रमाः सिद्धं च ऊर्ध्वरेतस्सु विधानाद् विद्यायाः स्वातन्त्र्यम्)।

पुनः, ब्रह्मसूत्र ४. ३, ७–१४ में इस समस्या का विवेचन किया गया है कि 'स एतान् ब्रह्म गमयति' (वह उन्हें ब्रह्म के पास पहुँचाता है) शब्दों

से परम ब्रह्म का तात्पर्य है अथवा कार्य-ब्रह्म का। बादरि (सूत्र ७) का मत है कि इससे कार्य-ब्रह्म का तात्पर्य है, जबकि जैमिनि (सूत्र १२) के विचार से परम ब्रह्म का तात्पर्य है। १४वें सूत्र के अन्त में भाष्यकार जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है वह यह है कि बादरि का मत उपयुक्त है, जबकि जैमिनि का मत केवल पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र है (तस्मात् "कार्य्यम् बादरिर्" इत्य् एष एव पक्षः स्थितः। "परम जैमिनिर्" इति च पक्षान्तर-प्रतिपादन-मात्र-प्रदर्शनम् प्रज्ञा-विकाशनाय इति द्रष्टव्यम्)।

आगे ब्रह्मसूत्र ४. ४, १० में बादरि का यह मत व्यक्त किया गया है कि ऐश्वर्य प्राप्त किये हुये विद्वान् में शरीर और इन्द्रियों का अभाव होता है और वह केवल मन से मनोरथों को देखता हुआ रमता है; जब कि ११वें सूत्र में यह कहा गया है कि जैमिनि के अनुसार ऐसे व्यक्ति में शरीर और इन्द्रियों का अभाव नहीं रहता। १२वें सूत्र में बादरायण का यह मत व्यक्त किया गया है कि उक्त दोनों ही स्थितियाँ साधुओं द्वारा उचित मानी गई हैं।

जैमिनि और उनके विचारों का ब्रह्मसूत्र १. २, २८. ३१; १. ४, १८; और ४. ४, ५ में उल्लेख है।

अब मैं कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के संस्थापकों के उन मतों का उदाहरण प्रस्तुत करूँगा, जिनके द्वारा उन्होंने अपने सिद्धान्तों को वेद के अनुकूल बताया है। मैं इस विषय पर ब्रह्मसूत्र १. १, ५ और बाद, पर शंकर की प्रस्तावना से एक उद्धरण दे रहा हूँ :

ब्रह्म च सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगद्-उत्पत्ति-स्थिति-नाश-कारणम् इत्य् उक्तम्। सांख्यादयस् तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तर-गम्यम् एव इति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराणि अनुमिमानास् तत्-परतया एव वेदान्त-वाक्यानि योजयन्ति। सर्वेष्व् एव तु वेदान्त-वाक्येषु सृष्टि-विषयेषु अनुमानेन एव कार्य्येण कारणम् लिलक्षयिषितम्। प्रधान-पुरुष-संयोगाः नित्यानुमेयः इति सांख्याः मन्यन्ते। काणादास् त्व् एतेभ्यः एव वाक्येभ्यः ईश्वरं निमित्त-कारणम् अनुमिमते अणूंश् च समवायि-कारणम्। एवम् अन्येऽपि तार्किकाः वाक्याभास-युक्त्य्-आभासावष्टम्भाः पूर्व-पक्ष-वादिनः इह उत्तिष्ठन्ते। तत्र पद-वाक्य-प्रमाणज्ञेन-आचार्य्येन वेदान्त-वाक्यानाम् ब्रह्मावगति-परत्व-प्रदर्शनाय वाक्याभास-युक्त्य्-आभास-प्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते। तत्र सांख्याः प्रधानम् त्रिगुणम् अचेतनं जगतः कारणम् इति मन्यमानाः आहुर् "यानि वेदान्त-वाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वसक्तेर् ब्रह्मणो जगत्-कारणत्वम् प्रतिपादयन्ति

इत्य् अवोचस् तानि प्रधान-कारण-पक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्व-शक्तित्व तावत् प्रधानस्यापि स्व-विकार-विषयम् उपपद्यते। एवं सर्वज्ञ-त्वम् उपपद्यते। कथम्। यत् त्वं ज्ञानम् मन्यसे स सत्त्व-धर्मः "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इति स्मृतेः। तेन च सत्त्व-धर्मेण ज्ञानेन कार्य्य-कारण-वन्तः पुरुषाः सर्वज्ञाः योगिनः प्रसिद्धाः। सत्त्वस्य हि निरतिशयो-त्कर्षे सर्वज्ञत्वम् प्रसिद्धम्। न च केवलस्य अकार्य्य-कारणस्य पुरुषस्य उपलब्धि-मात्रस्य सर्व-ज्ञत्व किञ्चिज्-ज्ञत्वं वा कल्पयितु शक्यम्। त्रिगु-णत्वात् तु प्रधानस्य सर्व-ज्ञान-कारण-भूतं सत्त्वम् प्रधानावस्थायाम् अपि विद्यते इति प्रधानस्य अचेतनस्य एव सत. सर्वज्ञत्वम् उपचर्य्यते वेदान्त-वाक्येषु। अवश्यं च त्वयाऽपि सर्वज्ञम् ब्रह्म अभ्युपगच्छता सर्व-ज्ञान-शक्तिमत्त्वेन एव सर्वज्ञत्वम् अभ्युपगन्तव्यम्। न हि सर्व-विषयं ज्ञानं कुर्वद् एव ब्रह्म वर्त्तते। तथा हि ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञान-क्रियाम् प्रति स्वातन्त्र्यं हीयेत। अथ अनित्यं तद् इति ज्ञान-क्रियायाः उपरमे उपरमेत अपि ब्रह्म। तदा सर्व-ज्ञान-शक्तिमत्त्वेन एव सर्वज्ञत्वम् आप-तति। अपि च प्राग् उत्पत्तेः सर्व-कारक-शून्यम् ब्रह्म इष्यते त्वया। न च ज्ञान-साधनाना शरीरेन्द्रियादीनाम् अभावे ज्ञानोत्पत्तिः कस्यचिद् उपपन्ना। अपि च प्रधानस्य अनेकात्मकस्य परिणाम-सम्भवात् कारण-त्वोपपत्तिर् मृद्-आदि-वत्। न असंहतस्य एकात्मकस्य ब्रह्मणः। इत्य् एवम् प्राप्ते इदम् सूत्रम् आरभ्यते। ५. "ईक्षतेर् न। अशब्दम्"। न सांख्य-परिकल्पितम् अचेतनम् प्रधान जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्व् आश्रयि-तुम्। अशब्द हि तत्। कथम् अशब्दम्। "ईक्षितेः"। ईक्षितृत्व-श्रवणात् कारणस्य। कथम्। एवं हि श्रूयते "सद् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्" इत्य् उपक्रम्य "तद् ऐक्षत 'बहु स्याम् प्रजायेय' इति तत् तेजोऽसृजत" इति। तत्र इदं-शब्द-वाच्य नाम-रूप-व्याकृतं जगत् प्राग् उत्पत्तेः सद्-आत्मनाऽवधार्य्य तस्य एव प्रकृतस्य सच्-छब्द-वाच्यस्य ईक्षण-पूर्वकं तेजःप्रभृतेः स्रष्टृत्व दर्शयति। तथा च अन्यत्र "आत्मा वै इदम् एकः एव अग्रे आसीत्। न अन्यत् किन्चन मिषत्। स ऐक्षत 'लोकान् नु सृजै' इति स इमान् लोकान् असृजत" इति ईक्षा-पूर्वि-काम् एव सृष्टिम् आचष्टे।...इत्य् एवम्-आदीन्य् अपि सर्वज्ञेश्वर-कारण-पराणि वाक्यान्य् उदाहर्त्तव्यानि। यत् तु उक्तम् "सत्त्व-धर्मेण ज्ञानेन सर्वज्ञम् प्रधानम् भविष्यति" इति तद् न उपपद्यते। न हि प्रधानाव-स्थायां गुण-साम्यात् सत्त्व-धर्मो ज्ञान सम्भवति। ननु उक्तम् "सर्व-ज्ञान-शक्तिमत्त्वेन सर्वज्ञम् भविष्यति" इति तद् अपि न उपपद्यते। यदि

गुण-साम्ये सति सत्त्व-व्यपाश्रयां ज्ञान-शक्तिम् आश्रित्य सर्वज्ञम् प्रधानम् उच्येत कामं रजस्-तमो-व्यपाश्रयाम् अपि ज्ञान-प्रतिबन्धक-शक्तिम् आश्रित्य किन्चिज्-ज्ञत्वम् उच्येत। अपि च न असाक्षिका सत्त्ववृत्तिर् जानाति न अभिधीयते। न च अचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वम् अस्ति। तस्माद् अनुपपन्नम् प्रधानस्य सर्वज्ञत्वम्। योगिनां तु चेतनत्वात् सर्वोत्कर्ष-निमित्तं सर्वज्ञत्वम् उपपन्नम् इत्य् अनुदाहरणम्। अथ पुनः साक्षि-निमित्तम् ईक्षितृत्वं प्रधानस्य कल्प्येत यथा अग्नि-निमित्तम् अयः-पिण्डादेर् दग्धृत्वं तथा सति यन् निमित्तं ईक्षितृत्वम् प्रधानस्य तद् एव सर्वज्ञम् मुख्यम् ब्रह्म जगतः कारणम् इति युक्तम्। यत् पुनर् उक्तम् ब्रह्मणोऽपि न मुख्यं सर्वज्ञत्वम् उपपद्यते नित्य-ज्ञान-क्रियत्वे ज्ञानक्रियाम् प्रति स्वातन्त्र्यासम्भवाद् इत्य् अत्र उच्यते। इदं तावद् भवान् प्रष्टव्यः "कथं नित्यज्ञान-क्रियत्वे सर्वज्ञत्व-हानिर्" इति। यस्य हि सर्व-विषयावभासन-क्षमं ज्ञानं नित्यम् अस्ति सोऽसर्वज्ञः इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज् जानाति कदाचिद् न जानाति इत्य् असर्वज्ञत्वम् अपि स्यात्। न असौ ज्ञान-नित्यत्वे दोषोऽस्ति। ज्ञान-नित्यत्वे ज्ञान-विषयः स्वातन्त्र्य-व्यपदेशो न उपपद्यते इति चेत्। न। प्रततौष्ण-प्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयति इति स्वातन्त्र्य-व्यपदेश-दर्शनात्। ननु सवितुर् दाह्य-प्रकाश्य-संयोगे सति दहति प्रकाशयति इति व्यपदेशः स्यात्। न तु ब्रह्मणः प्राग् उत्पत्तेर्-ज्ञान-कर्म-संयोगोऽस्ति इति विषमो दृष्टान्तः। न। असत्य् अपि कर्मणि सविता प्रकाशते इति कर्तृत्व-व्यपदेश-दर्शनात्। एवम् असत्य् अपि ज्ञान-कर्मणि ब्रह्मणस् "तद् ऐक्षत" इति कर्तृत्व-व्यपदेशोपपत्तेर् न वैषम्यम्। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणि ईक्षितृत्व-श्रुतयः सुतराम् उपपन्नाः। किम् पुनस् तत् कर्म यत् प्राग् उत्पत्तेर् ईश्वर-ज्ञानस्य विषयीभवति इति। तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये नाम-रूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। यत् प्रसादाद् हि योगिनाम् अप्य् अतीतानागत-विषयम् प्रत्यक्षं ज्ञानम् इच्छन्ति योग-शास्त्र-विदः किमु वक्तव्यं तस्य नित्य-शुद्धस्य ईश्वरस्य सृष्टि-स्थिति-संहृति-विषयं नित्यज्ञानम् भवति इति। यद् अप्य् उक्तम् प्राग् उत्पत्तेर् ब्रह्मणः शरीरादि-सम्बन्धम् अन्तरेण ईक्षितृत्वम् अनुपपन्नम् इति न तच् चोद्यम् अवतरति सवितृ-प्रकाश वद् ब्रह्मणो ज्ञान-स्वरूप-नित्यत्वेन ज्ञान-साधनापेक्षानुपपत्तेः।' 'यद् अप्य् उक्तम् "प्रधानस्य अनेकात्मकत्वाद् मृद्-आदिवत् कारणत्वोपपत्तिर् न असंहतस्य ब्रह्मणः" इति तत् प्रधानस्य अशब्दत्वेन एव प्रत्युक्तम्। यथा तु तर्केणापि ब्रह्मणः एव कारणत्वं

निर्वोढुं शक्यते न प्रधानादीनां तथा प्रपन्चयिष्यते "न विलक्षणत्वाद् अस्य" इत्य्-एवम्-आदिना (ब्रह्मसूत्र २. १, ४ पर शांकरभाष्य)।

अत्र आह यद् उक्तम् "न अचेतनम् प्रधानं जगत्-कारणम् ईक्षितृत्व-श्रवणाद्" इति तद् अन्यथाऽप्य् उपपद्यते। अचेतनेऽपि चेतनवद् उपचार-दर्शनात्। प्रत्यासन्न-पातनतां कूलस्य आलक्ष्य कूलम् पिपतिषति इत्य् अचेतनेऽपि कूले चेतन-वद् उपचारो दृष्टस् तद्-वद् अचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्न-सर्गे चेतन-वद् उपचारो भविष्यति "तद् ऐक्षत्" इति। यथा लोके कश्चित् चेतनः स्नात्वा भुक्त्वा च "अपराह्णे ग्रामं रथेन गमिष्यामि" इति ईक्षित्वा अनन्तरं तथैव नियमेन प्रवर्त्तते तथा प्रधानम् अपि महद्-आद्य्-आकारेण नियमेन प्रवर्त्तते। तस्माच् चेतन-वद् उपचर्य्यते। कस्मात् पुनः कारणाद् विहाय मुख्यम् ईक्षितृत्वम् औपचारिकं कल्प्यते। "तत् तेजः ऐक्षत" "ताः आपः ऐक्षन्त" इति च अचेतनयोर् अप्य् अप्-तेजसोश् चेतनवद् उपचार-दर्शनात्। तस्मात् सत्कर्त्तृकम् अपि ईक्षणम् औपचारिकम् इति गम्यते उपचार-प्राये वचनाद् इत्य् एवम् प्राप्ते इदं सूत्रम् आरभ्यते। ६. "गौणश् चेत्। न। आत्म-शब्दात्"। यद् उक्तम् प्रधानम् अचेतनं सच्-छब्द-वाच्यम् तस्मिन्न् औपचारिकी ईक्षितिर् अप्-तेजसोर् इव इति तद् असत्। कस्मात्। आत्म-शब्दात्। "सद् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीद्" इत्य् उपक्रम्य "तद् ऐक्षत तत् तेजोऽसृजत" इति च तेजोऽव्-अन्नानां सृष्टिम् उक्त्वा तद् एव प्रकृतं सद् ईक्षितृ तानि च तेजोऽव-अन्नानि देवता-शब्देन परामृश्य आह "सा इय देवता ऐक्षत हन्त अहम् इमास् तिस्रो देवताः अनेन जीवन आत्मनाऽनुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि" इति। तत्र यदि प्रधानम् अचेतनं गुण-वृत्या ईक्षितृ कल्प्येत तत् एव प्रकृत-त्वात् सा इय देवता परामृश्येत। न तदा देवता जीवम् आत्म-शब्देन अभिदध्यात्। जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता प्रसिद्धेर् निर्वचनाच् च। स कथम् अचेतनस्य प्रधानस्य आत्मा भवेत्। आत्मा हि नाम स्वरूपम्। न अचेतनस्य प्रधानस्य चेतनो जीवः स्वारू-पम् भवितुम् अर्हति। अत्र तु चेतनम् ब्रह्म मुख्यम् ईक्षितृ परिगृह्यते। तस्य जीव-विषयः आत्म-शब्द-प्रयोगः उपपद्यते। तथा "स यः एषोऽणिमा एतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वम् असि श्वेतकेतो" इत्य् अत्र "स आत्मा" इति प्रकृतं सद्-अणिमानम् आत्मानम् आत्म-शब्देन उपदिश्य "तत् त्वम् असि श्वेतकेतो" इति चेतनस्य श्वेतकेतोर् आत्मत्वेन उपदिशति। अप्-तेजसोस् तु विषयत्वाद् अचेत-

त्वं नाम-रूप-व्याकरणादौ च प्रयोज्यत्वेन एव निर्देशात्। न च आत्म-शब्द-वत् किञ्चिद् मुख्यत्वे कारणम् अस्ति इति युक्तं कूल-वद् गौणत्वम् ईक्षितृत्वस्य। तयोर् अपि च सद्-अधिष्ठितत्वापेक्षम् एव ईक्षितृत्वम्। सतस् त्व् आत्म-शब्दाद् न गौणम् ईक्षितृत्वम् इत्य् उक्तम्। अथ उच्येत। अचेतनेऽपि प्रधाने भवत्य् आत्म-शब्दः। आत्मनः सर्वार्थ-कारित्वात्। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये भवत्य् आत्म-शब्दो "मम आत्मा भद्रसेनः" इति। प्रधानं हि पुरुषात्मनो भोगापवर्गौ कुर्वद् उपकरोति राज्ञः इव भृत्यः सन्धि-विग्रहादिषु वर्त्तमानः। अथवा एकः एव आत्म-शब्दश् चेतनाचेतन-विषयो भविष्यति "भूतात्मा" "इन्द्रियात्मा" इति च प्रयोग-दर्शनाद् यथा एकः एव ज्योतिः-शब्दः क्रतु-ज्वलन-विषयः। तत्र कुतः एतद् आत्मशब्दादीक्षितेर् अगौणत्वम् इत्य् अत्र उत्तरम् पठति। ७. "तन्-निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्"। न अप्रधानम् अचेतनम् आत्म-शब्दालम्बनम् भवितुम् अर्हति "स आत्मा" इति प्रकृतं सद् अणिमानम् आदाय "तत् त्वम् असि श्वेतकेतो" इति चेतनस्य श्वेतकेतोर् मोक्षयितव्यस्य तन् निष्ठाम् उपदिश्य "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावद् एव चिरं यावद् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति मोक्षोपदेशात्। यदि ह्य् अचेतनम् प्रधानं सच्-छब्द-वाच्यं "तद् असि" इति ग्राहयेद मुमुक्षुं चेतनं सन्तम् "अचेतनोऽसि" इति तदा विपरीत-वादि शास्त्रम् पुरुषस्य अनर्थाय इत्य् अप्रमाणं स्यात्। न तु निर्दोषं शास्त्रम् अप्रमाणं कल्पयितुं युक्तम्। यदि च अज्ञस्य सतो मुमुक्षोर् अचेतनम् अनात्मानम् "आत्मा" इत्य् उपदिशेत प्रमाण-भूतं शास्त्रं स श्रद्धानतयाऽन्धगो-लाङ्गूलन्यायेन तद्-आत्म-दृष्टि न परित्यज्येत् तद्-व्यतिरिक्तं च आत्मानं न प्रतिपद्येत्। तथा सति पुरुषार्थाद् विहन्येत अनर्थं च ऋच्छेत् तस्माद् यथा स्वर्गाद्य-अर्थिनोऽग्निहोत्रादि-साधनं यथा-भूतम् उपदिशति तथा मुमुक्षोर् अपि "स आत्मा। तत् त्वम् असि श्वेतकेतो" इति यथा-भूतम् एव आत्मानम् उपदिशति इति युक्तम्। एवं च सति तप्त-परशु-ग्रहण-मोक्ष दृष्टान्तेन सत्याभिसन्धस्य मोक्षोपदेशः उपपद्यते। .....तस्माद् न सद्-अणिमन्य् आत्म-शब्दस्य गौणत्वम्। भृत्ये तु स्वामि-भृत्य-भेदस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपपन्नो गौणः आत्म शब्दो "मम् आत्मा भद्रसेनः" इति। अपि च क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टः इति न एतावता शब्द-प्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वास-प्रसङ्गात्। यत् तु उक्तं चेतनाचेतनयोः साधारणः आत्म-शब्दः क्रतु-ज्वलनयोर् इव ज्योतिः-शब्दः इति। तद् न। अनेकार्थत्वस्य अन्याय्य-

त्वात् । तस्माच् चेतन-विषयः एव मुख्यः आत्म-शब्दश् चेतनत्वोपचाराद् भूतादिषु प्रयुज्यते "भूतात्मा" "इन्द्रियात्मा" इति च । साधारणत्वेऽप्य् आत्म-शब्दस्य न प्रकरणम् उपपदं वा किञ्चिद् निश्चायकम् अन्तरेण अन्यतर-वृत्तिता निर्धारयितुं शक्यते । न च अत्र अचेतनस्य निश्चायकं किञ्चित कारणम् अस्ति प्रकृत तु सद् ईक्षितृ सन्निहितश् च चेतनः श्वेतकेतुः । न हि चेतनस्य श्वेतकेतोर् अचेतनः आत्मा सम्भवति इत्य् अवोचाम । तस्माच् चेतन विषयः इह आत्म-शब्दः इति निश्चीयते (ब्रह्मसूत्र १. १, ५-७ पर शाङ्करभाष्य)।

'यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, तथा जगत की उत्पत्ति, स्थिति, और नाश का कारण है । परन्तु सांख्यादि ऐसा मानते हैं कि अन्य प्रमाण से ही परिनिष्ठित[१२८] वस्तु का ज्ञान होता है, और प्रधान आदि अन्य कारणों का अनुमान करके तत्परत्व से ही वेदान्तवाक्यों की योजना करते हैं, क्योंकि वे सृष्टि के विषय का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त वाक्यों में अनुमान द्वारा ही कार्य से कारण का ज्ञान कराना चाहते हैं । सांख्यों की यह मान्यता है कि प्रधान तथा पुरुष, और इनका परस्पर सयोग अनुमानगम्य है । कणाद के अनुयायी इन्हीं वाक्यों से ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर निमित्त कारण है और अणु समवायी कारण हैं ।[१२९] इसी प्रकार दूसरे तार्किक भी वाक्याभास और युक्त्याभास का अवलम्बन लेते हुये अद्वैत मत में पूर्वपक्षी बनकर उपस्थित होते हैं । उक्त वादियों का विवाद उपस्थित होने पर, वेदान्त-वाक्यों का प्रयोजन ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान कराना है यह दिखलाने के लिये, वाक्याभास और युक्त्याभास के आधार से होने वाले विरोधों को पूर्वपक्ष बनाकर पद, वाक्य, और प्रमाण के ज्ञाता आचार्य उनका निराकरण करते हैं । उन पूर्वपक्षियों में त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान को जगत का कारण मानने वाले सांख्य कहते हैं कि "जो तुम कह आये हो कि वेदान्त

---

[१२८] तु० की० साख्य सूत्र १ ६९ . 'पारम्पर्य्येऽप्य एकत्र परिनिष्ठा' इत्यादि, का वैलेन्टाइन इस प्रकार अनुवाद करते हैं . 'यदि प्रवाह भी हो तो किसी एक स्थान पर वह रुकता है', इत्यादि ।

[१२९] 'समवाय' शब्द का वैलेन्टाइन ने भाषापरिच्छेद के अपने अनुवाद के (जनवरी सन् १८५१ मे प्रकाशित) पृष्ठ २२ पर 'घनिष्ठ सम्बन्ध' (सन् १८५० मे डा० रूअर भी इन्ही शब्दो का प्रयोग कर चुके हैं), और तर्कसंग्रह के अनुवाद (सितम्बर सन् १८५१ मे प्रकाशित) के पृ० २ और ४ पर 'एकाधिकरण' अनुवाद किया है ।

वाक्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत का कारण बतलाते हैं, वे वाक्य 'प्रधान जगत का कारण है' इस पक्ष में ही लगाये जा सकते हैं। अपने विकार को उत्पन्न करने के लिये प्रधान में सर्वशक्तिमत्ता है ही। इसी प्रकार सर्वज्ञता भी है। प्रधान में किस प्रकार सर्वज्ञता हो सकती है? जिसको तुम ज्ञान मानते हो, वह सत्त्वगुण का धर्म है, क्योंकि 'सत्त्वात्०' (सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है) यह स्मृति है। उस सत्त्व के धर्मरूप ज्ञान से कार्यकारण वाले—देहेन्द्रिय वाले[130] पुरुष योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध हैं, क्योंकि सत्त्व का निरतिशय—अत्यन्त उत्कर्ष—होने पर सर्वज्ञ होना प्रसिद्ध है। देह और इन्द्रिय से रहित केवल ज्ञानस्वरूप पुरुष सर्वज्ञ हो अथवा यत् किञ्चित् ज्ञाता हो, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। परन्तु प्रधान त्रिगुणात्मक है, इसलिये सब ज्ञानों का कारणभूत सत्त्वगुण प्रधान-अवस्था में रहता ही है, साथ ही, इससे अचेतन होने पर भी प्रधान में ही वेदान्तवाक्यों द्वारा सर्वज्ञत्व गौणीवृत्ति से कहा गया है। सर्वज्ञ ब्रह्म है ऐसा अंगीकार करने वाले तुमको भी सर्वज्ञान शक्ति वाला होने से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म सदा ही सर्वविषयों का ज्ञान करता हुआ नहीं रहता। यदि ज्ञान को नित्य मानें तो ज्ञानक्रिया के प्रति ब्रह्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। और यदि उसे (ज्ञान को) अनित्य मानें तो ब्रह्म ज्ञानक्रिया से कदाचित् उपरत भी हो जायगा, अर्थात् ज्ञानक्रिया करना छोड़ देगा। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञान-शक्तिमत्ता से ही ब्रह्म भी सर्वज्ञ है। और दूसरी बात यह भी है कि उत्पत्ति के पूर्व तुम ब्रह्म को जब कारकों से रहित मानते हो, तब ज्ञान के साधन शरीर, इन्द्रिय आदि के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति किसी के मत में भी संगत नहीं है।" और अनेक आत्मा—अवयव वाले प्रधान के परिणाम का—संभव है[131], इससे मृत्तिका आदि के समान प्रधान के कारण होने की योग्यता है, और असंग एकाकी ब्रह्म में (योग्यता) नहीं है, ऐसा (पूर्वपक्ष) प्राप्त

---

[130] 'कार्य्य-करणवन्तः' उपाधि को शांकरभाष्य के बंगला अनुवाद मे 'देहेन्द्रिय-युक्त' बताया गया हैं, जो कि भाष्य और वृत्ति सहित शारीरक सूत्रो का एक अश है और शक संवत् १७८४ मे कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। सामान्य आशय का निर्धारण करने की दृष्टि से यह अनुवाद उपयोगी है किन्तु मूल मे आने वाले सभी कठिन पदो की इसमे व्याख्या नही है।

[131] इसका अर्थ यह है कि करण के रूप मे प्रधान की प्रकृति मे दृश्य जगत् की विभिन्न वस्तुओ के अनेक गुण निहित होते हैं, जब कि ब्रह्म एक और सर्व रूप है।

होने पर इस सूत्र का आरम्भ किया जाता है : 'प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि वह श्रुति से अप्रतिपादित है'। साङ्ख्य द्वारा कल्पित अचेतन प्रधान को जगत का कारण मानना वेदान्त में संभव नहीं है, क्योंकि वह श्रुतिसिद्ध नहीं है। श्रुतिसिद्ध क्यों नहीं है ? इससे कि श्रुति में कारण को ईक्षण करने वाला कहा गया है। किस प्रकार ? श्रुति ऐसा स्पष्टतया कहती है कि 'हे प्रियदर्शन सृष्टि के पूर्व में यह जगत् एक अद्वितीय सद्रूप ही था (छांउ० ६ ६, १)'। ऐसा उपक्रम करके कहा है : "उसने—सत्स्वरूप ने—'मैं बहुत होऊँ' ऐसा विचार किया और तेज को उत्पन्न किया" (छांउ० ६. २, ३)। उक्त श्रुति 'ईदम्' शब्द के अर्थ—नाम और रूप द्वारा प्रगट हुये जगत् का सत्स्वरूप से निश्चय करके, वही प्रकृत सत् शब्द वाच्य (ब्रह्म) ईक्षण पूर्वक तेज आदि का उत्पन्न करने वाला है, ऐसा दिखलाती है। इसी प्रकार दूसरे स्थल पर 'निःसन्देह पूर्व में यह एक ही आत्मा थी। उससे भिन्न कोई दूसरी स्वतंत्र वस्तु नहीं थी; उसने विचार किया था कि मैं लोकों को उत्पन्न करूँ। उसने इन लोकों की सृष्टि की' (ऐ० १. १, १)। इस प्रकार ईक्षण पूर्वक ही सृष्टि की।"...... "इसे और सर्वज्ञ ईश्वर को जगत् का कारण प्रतिपादित करने वाले दूसरे वाक्य उदाहरण के रूप में देने चाहिये। सत्त्वगुण के धर्मरूप ज्ञान से प्रधान सर्वज्ञ होगा, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रधानावस्था में गुणों की समता रहती है, अत ज्ञान सत्त्व का धर्म नहीं हो सकता। और जो यह कहा है कि सर्वज्ञान की शक्ति होने के कारण (प्रधान) सर्वज्ञ होगा। यह कथन भी सगत नहीं है, क्योंकि यदि गुणों की समता होने पर भी सत्त्व में रहने वाली ज्ञान-शक्ति के आधार पर प्रधान को सर्वज्ञ कहें, तो रजोगुण और तमोगुण में रहने वाली ज्ञान-प्रतिबन्धक शक्ति के आधार पर उसे अल्पज्ञ भी कहना होगा। अथवा, साक्षी रहित सत्त्व वृत्ति का अभिधान 'ज्ञा' धातु से नहीं हो सकता, और अचेतन प्रधान साक्षी नहीं हो सकता। उक्त हेतु से सिद्ध है कि प्रधान में सर्वज्ञता नहीं है। योगी तो चेतन हैं, इससे उनमें सत्त्व के उत्कर्ष से सर्वज्ञता हो सकती है, इससे यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। जैसे लोहे के गोले आदि में अग्नि से दाहक शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रधान में ईक्षण की शक्ति साक्षी से प्राप्त होती है, ऐसी यदि कल्पना की जाय, तो ऐसा होने पर प्रधान को ईक्षण-शक्ति जिससे प्राप्त होती है, वही मुख्य ब्रह्म जगत् का कारण है, यह ठीक है। यह जो पीछे कहा गया है कि ब्रह्म में मुख्य सर्वज्ञता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म की ज्ञान क्रिया नित्य होने के कारण ज्ञान क्रिया के प्रति उसकी (ब्रह्म की) स्वतंत्रता सभव नहीं है। उसके उत्तर में यहाँ कहा जाता है कि

सर्वप्रथम आप यह उत्तर दीजिये कि ज्ञानक्रिया के नित्य होने के कारण सर्वज्ञता की हानि किस प्रकार हो सकती है? सम्पूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला जिसका ज्ञान नित्य है, वह असर्वज्ञ हो यह कथन तर्क-विरुद्ध है। यदि ज्ञान को अनित्य मानें, तो कभी जानता है और कभी नहीं जानता, इस प्रकार असर्वज्ञता भी हो सकती है। परन्तु ज्ञान के नित्यत्व पक्ष में यह दोष नहीं है। यदि कहें कि ज्ञान के नित्यत्वपक्ष में ज्ञान के विषय में जो स्वतंत्रता कही गई है, वह ठीक नही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सूर्य की उष्णता और प्रकाश स्थायी हैं, तो भी 'जलता है', 'प्रकाशित होता है' इस प्रकार स्वतन्त्रता का व्यपदेश देखा जाता है। यदि कहें कि दाह्य और प्रकाश्य पदार्थों के साथ सूर्य का संयोग होने पर 'जलता है', 'प्रकाशित होता है' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, तो भी उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्म के ज्ञान का कर्म के साथ सयोग ही न होने से यह दृष्टान्त विषम है। इस शङ्का पर कहते हैं कि नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म के न रहने पर भी 'सूर्य प्रकाशित होता है' और इस प्रकार सूर्य में कर्तृत्व का व्यपदेश देखा जाता है; इसी प्रकार ज्ञानक्रिया के कर्म के न होने पर भी 'उसने ईक्षण किया' इस प्रकार ब्रह्म का कर्त्ता रूप से व्यपदेश ठीक होने के कारण दृष्टान्त में विषमता नहीं है। कर्म की अपेक्षा ब्रह्म में ईक्षण का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ सर्वथा युक्त हैं। वह कर्म क्या है, जो उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञान का विषय होता है? जिसका सत रूप से और असत् रूप से निर्वचन नहीं हो सकता, और जो अव्याकृत हैं, एवं व्याकृत करने के लिये अभीष्ट हैं वे नाम और रूप कर्म हैं। वस्तुतः जिसकी कृपा से योगियों को भी भूत और भविष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ऐसे योगशास्त्र के जानने वाले कहते हैं कि उस नित्य सिद्ध ईश्वर का सृष्टि, स्थिति, और सहार विषयक ज्ञान नित्य है, इस विषय में कहना ही क्या है? और यह जो पीछे कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व में शरीर आदि के साथ सम्बन्ध न होने से ब्रह्म में ईक्षण शक्ति संगत नहीं होती, यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान नित्य है, इससे उसको ज्ञान के साधनों की अपेक्षा ही नहीं है।" ····"मृत्तिका आदि की तरह अनेक स्वरूप होने से प्रधान जगत् का कारण हो सकता है। एकाकी ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता यह जो पीछे कहा गया है कि उसका 'प्रधान श्रुतिप्रतिपादित नहीं है' इस कथन से ही निराकरण हो गया। जगत् का कारण ब्रह्म ही है, प्रधान आदि नही, यह बात जिस प्रकार युक्ति से सिद्ध होती है, वह रीति 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्यादि सूत्रों से विस्तारपूर्वक वर्णित की जायगी।"

"यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि श्रुति ने ईक्षणकर्त्ता को ही (जगत्कारण) बताया है। इस प्रकार जो पीछे वर्णन किया गया है, वह दूसरी तरह भी संगत हो सकता है, क्योंकि अचेतन में भी गौणीवृत्ति से चेतन जैसा व्यवहार दिखाई देता है। जैसे नदी का किनारा शीघ्र ही गिरने वाला है, यह देखकर 'किनारा गिरना चाहता है' इस प्रकार अचेतन किनारे में चेतन का-सा व्यवहार देखने में आता है[१३२], उसी प्रकार सृष्टि समीप होने पर अचेतन प्रधान में 'उसने दृष्टि की'[१३३] इस प्रकार चेतना का-सा व्यवहार हो सकता है। जैसे लोक में कोई पुरुष 'स्नान करके तथा भोजन करके पिछले पहर रथ से जाऊँगा', ऐसा विचार कर बाद में वैसा ही करता है, उसी प्रकार प्रधान भी महदादि के आकार से नियमतः परिणत होता है, इसलिये चेतन जैसा उसमें उपचार किया जाता है। मुख्य ईक्षण-शक्ति का परित्याग करके औपचारिक ईक्षण कर्तृत्व की कल्पना करने में क्या कारण है ? 'उस तेज ने ईक्षण किया', 'उस जल ने ईक्षण किया', इस प्रकार अचेतन तेज और जल में चेतन के समान उपचार देखने में आता है, इसलिये (हम उपर्युक्त कल्पना करते हैं)। इस प्रकार जिसका कर्त्ता सत है, वह ईक्षण भी औपचारिक है, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उपचार प्रचुर प्रकरण में उसका कथन है : ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर इस सूत्र का आरम्भ किया जाता है ' ६ : 'आत्मशब्द होने से ईक्षति शब्द गौण नहीं है।' सत् शब्द का अर्थ अचेतन प्रधान है। जैसे जल और तेज में ईक्षण औपचारिक है, उसी प्रकार प्रधान में भी ईक्षण औपचारिक है, ऐसा जो कहा गया है वह असत्—बाधित है। क्यों बाधित है ? इसका उत्तर देते हैं कि श्रुति में आत्मशब्द का प्रयोग होने से। 'हे प्रियदर्शन ! उत्पत्ति के पहले यह जगत् केवल सद्रूप था' ऐसा उपक्रम करके 'उसने ईक्षण—चिन्तन—किया', 'उसने तेज उत्पन्न किया' (छांउ० ६. २, ३)। इस प्रकार तेज, जल, और अन्न की सृष्टि कहकर उसी चिन्तन करने वाले

---

[१३२] 'कूलम् पिपतिषति' का शब्दार्थ 'किनारा गिरना चाहता है', है किन्तु जैसा कि सुविदित है, इच्छार्थक रूप मे प्रयुक्त होने पर क्रिया, क्रिया विशेषण, और विशेषण अक्सर इससे अधिक कुछ और नही व्यक्त करते कि कुछ आसन्न है। फिर भी यहाँ साख्यो को इस रूप मे एक गभीर तर्क प्रस्तुत करते हुये व्यक्त किया गया है।

[१३३] देखिये साख्यसूत्र १ ९६ पर विज्ञानभिक्षु का भाष्य, जहाँ यही उदाहरण दिया गया है।

प्रकृत सत् का और उन तेज, जल, और अन्न का देवता शब्द से परामर्श करके कहा 'उस देवता ने चिन्तन किया—अब इन तीन देवताओं में इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके मैं नाम और रूप को प्रगट करूँ।' यदि इस ईक्षण वाक्य में अचेतन प्रधान को गौणीवृत्ति से ईक्षण करने वाला माना जाय तो प्रकरण प्राप्त होने के कारण 'सेय देवता०' इस श्रुति में उसी का परामर्श होगा। और ऐसा मानें तो वह देवता जीव का आत्मशब्द से उल्लेख नहीं करेगा, क्योंकि जीव वस्तुतः चेतन, शरीर का अध्यक्ष-स्वामी, और प्राणों को धारण करने वाला है। यह अर्थ प्रसिद्ध है तथा धातु के अर्थ के अनुसार है। वह चेतन जीव अचेतन प्रधान का आत्मा किस प्रकार होगा? यह प्रसिद्ध है कि 'आत्मा' का अर्थ स्वरूप है। चेतन जीव अचेतन प्रधान का स्वरूप नहीं हो सकता। यदि चेतन ब्रह्म मुख्य ईक्षण करने वाला माना जाय, तो उसका जीव में आत्मशब्द का प्रयोग युक्त होता है। इसी प्रकार 'जो सत्संज्ञक कहा गया है वह अणिमा—अतिसूक्ष्म रूप है, यह सब जगत् उसी का स्वरूप है, वह सत्संज्ञक सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतू वह तू है' (छांउ० ६. १४, ३), इस श्रुति में 'वह आत्मा है' इस प्रकार प्रस्तुत सत्संज्ञक, सूक्ष्मरूप आत्मा का आत्म-शब्द से उपदेश करके 'हे श्वेतकेतो! वह तू है' इस प्रकार चेतन श्वेतकेतु का आत्मरूप से उपदेश किया गया है। जल और तेज का ईक्षण[१३४] तो नदी के किनारे के गिरने की इच्छा के समान गौण होना युक्त है, क्योंकि जल और तेज विषय होने से अचेतन हैं, नाम और रूप की सृष्टि करने आदि में प्रयोज्य रूप से उनका निर्देश हुआ है, और आत्मशब्द के समान उनके मुख्य ईक्षण मानने में कोई कारण नहीं है, तथा उनका (जल और तेज का) ईक्षण भी सद्रूप अधिष्ठान की अपेक्षा से ही है। और यह बात कही गई है कि आत्मशब्द के प्रयोग के कारण सत् का ईक्षण गौण नहीं है। पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि जैसे राजा का सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले सेवक में 'भद्रसेन मेरी आत्मा है' इस प्रकार आत्मशब्द का प्रयोग होता है, तो उसी प्रकार अचेतन प्रधान में भी आत्मशब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि प्रधान आत्मा के सभी प्रयोजनों को सिद्ध करता है। जैसे सन्धि, विग्रह, आदि कार्यों में नियुक्त भृत्य राजा का उपकार करता है, उसी प्रकार आत्मा को भोग और मोक्ष देने वाला प्रधान अवश्य ही आत्मा का उपकारक होता है। अथवा जैसे एक ही 'ज्योतिः' शब्द यज्ञ और अग्नि में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार एक ही आत्मशब्द

[१३४] 'विषयत्वात् = दृग्-विषयत्वात्', अर्थात् 'दृश्य पदार्थ होने के कारण' गोविन्दानन्द

चेतन और अचेतन में प्रयुक्त हो सकेगा, क्योंकि भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, ऐसे प्रयोग देखने में आते है। तो 'आत्म' शब्द के प्रयोग से ईक्षण मुख्य है, यह किस प्रकार माना जाय? पूर्वपक्षी के इस कथन का उत्तर देते हैं ७: 'आत्मा प्रधान का द्योतक नहीं हो सकता क्योंकि यह कहा गया है कि जो व्यक्ति इस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है उसे मोक्ष मिलता है।' अचेतन प्रधान आत्मशब्द का आधार नही हो सकता, क्योंकि 'वह आत्मा है' (छांउ० ६. १४, ३) इस प्रकार प्रकृत सूक्ष्म सत् को लेकर 'हे श्वेतकेतो! वह तू है' मोक्ष-प्राप्ति कराने योग्य चेतन श्वेतकेतु को 'तू सत्स्वरूप है' ऐसा उपदेश करके 'आचार्यवान् पुरुष सत् को जानता है', 'उस आत्मनिष्ठ पुरुष के मुक्त होने में उतना ही विलम्ब रहता है, जब तक शरीर पात नहीं होता, शरीरपात होते ही वह सद्रूप हो जाता है', इस प्रकार मोक्ष का उपदेश किया है। यदि सत् शब्द का अर्थ सचेतन प्रधान हो और शास्त्र मोक्ष पाने की इच्छा करने वाले चेतन को 'वह तू है' अर्थात् तू अचेतन है ऐसा ज्ञान कराये, तो विपरीत उपदेश करने वाला वह शास्त्र पुरुष का अनिष्टकारक होने के कारण अप्रमाण हो जायगा। परन्तु इस निर्दोष शास्त्र मे अप्रमाणत्व की कल्पना करना ठीक नहीं है। यदि प्रमाणभूत शास्त्र अज्ञ मुमुक्षु को 'अचेतन अनात्मपदार्थ आत्मा है' ऐसा उपदेश करे तो अन्धगोपुच्छ[135] न्याय

[135] यहाँ उद्दिष्ट कथा का आनन्दगिरि ने विस्तार से, और गोविन्दान्द ने कुछ सक्षेप से इस प्रकार वर्णन किया है: "कश्चित् किल दुष्टात्मा महारण्य-मार्गे पतितम् अन्धम् स्व-बन्धु-नगरं जिगमिषुम् बभाषे 'किम् अत्र आयुष्मता दु खितेन स्थीयते' इति। स च अन्ध. सुख-वाणीम् आकर्ण्य तम् आप्तम् मत्वा उवाच 'अहो मद्-भागधेय यद् अत्र भवान् माम् दीना स्वाभीष्ट-नगर-प्राप्त्य-असमर्थम् भाषते' इति। स च विप्रलिप्सुर् दुष्ट-गो युवानम् आनीय तदीय-लाङ्गूलम् अन्ध ग्राहयामास उपदिश च एनम् अन्धम् 'एष गो-युवा त्वा नगर नेष्यति मा त्यज लाङ्गूलम्' इति स च अन्ध. श्रद्धालुतया तद् अत्यजन् स्वाभीष्टम् अप्राप्य अनर्थ परम्पराम् प्राप्तस् तेन न्यायेन इत्य् अर्थः।" अर्थात् "एक दुष्टात्मा ने गहन वन के मार्ग मे पडे हुये, और अपने मित्रो के पास नगर मे जाने की इच्छा रखने वाले एक अन्धे व्यक्ति से पूछा, 'हे दु खी वृद्ध व्यक्ति, तुम यहाँ क्यो पडे हो?' वक्ता के मधुर वचन को सुनकर और उसे आप्त समझ कर उस अन्धे व्यक्ति ने उत्तर दिया, 'यह मेरा कितना बडा सौभाग्य है कि आपने मुझ जैसे असहाय और नगर मे पहुँचने की इच्छा रखते हुये भी वहाँ पहुँचने मे असमर्थ व्यक्ति से सम्भाषण किया।' उसको धोखा देने की इच्छा से उस दुष्ट पुरुष ने एक दुष्ट युवा बैल लाकर अन्धे पुरुष को उसकी पूँछ पकडा दी और कहा कि 'यह बैल

से श्रद्धा रखकर वह पुरुष अनात्म पदार्थ में आत्मदृष्टि का त्याग न करेगा और अनात्म से भिन्न आत्मा का ग्रहण भी नहीं करेगा; ऐसा होने से वह पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जायगा और अनर्थ को प्राप्त होगा। इस कारण स्वर्ग आदि की कामना करने वाले पुरुष को जैसे अग्निहोत्र आदि योग्य साधनों का शास्त्र उपदेश करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु को भी 'वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो वह तू है' इस प्रकार यथार्थ आत्मा का ही उपदेश करता है, यह युक्त है। ऐसा होने से 'उष्ण फरसे को पकड़ने से (चौर्य से) मुक्ति होती है' इस दृष्टान्त से सत्य ब्रह्म में 'मैं' ऐसी बुद्धि रखने वाले पुरुष के लिये मोक्ष का उपदेश युक्त है।'''' ''इस कारण सूक्ष्म रूप सत् में आत्म शब्द गौण नहीं है। 'मेरा आत्मा भद्रसेन है' यहाँ पर तो भृत्य के लिये आत्मशब्द का गौण प्रयोग ठीक है, क्योंकि स्वामी और भृत्य का भेद प्रत्यक्ष है। किञ्च, शब्द कहीं गौण देखने में आता है, इसी से सर्वत्र शब्दप्रमाण वाले अर्थ में गौणत्व की कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से सब प्रयोगों में अविश्वास हो जायगा। जैसे 'ज्योतिः' शब्द याग और अग्नि के अर्थ में साधारण है, वैसे ही आत्मशब्द चेतन और अचेतन अर्थ में साधारण है। ऐसा जो कहा है, वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ मानना अनुचित है। इससे चेतन रूप अर्थ में ही आत्मशब्द का प्रयोग मुख्य है और चेतन के संसर्ग के अध्यास से भूत आदिकों में भूतात्मा, इन्द्रियात्मा ऐसे प्रयोग होते हैं। यदि आत्मशब्द (चेतन और अचेतन अर्थ में) साधारण मान लिया जाय, तो भी प्रकरण अथवा उपपद किसी एक निश्चायक के बिना,' दोनों में से किस अर्थ में आत्मशब्द प्रयुक्त है, इसका निर्णय नहीं हो सकता, और यहाँ अचेतन रूप अर्थ का निश्चायक कोई कारण नहीं है। परन्तु यहाँ ईक्षण करने वाला सत् प्रकृत है (अर्थात् सत् का प्रकरण है) और चेतन श्वेतकेतु सन्निहित है। अचेतन पदार्थ चेतन श्वेतकेतु का आत्मास्वरूप नहीं हो सकता ऐसा हम पीछे कह चुके हैं। इसलिये यहाँ आत्मशब्द चेतन विषयक है, ऐसा निश्चय होता है।'

प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में सूत्रकार पुन. सांख्यों के साथ अपने विवाद

तुम्हे नगर पहुँचा देगा अत तुम इसकी पूँछ मत छोडना।' वक्ता पर विश्वास करके उस अन्धे व्यक्ति ने बैल की पूँछ नही छोडा, फिर भी उसे उसका अभीष्ट प्राप्त नही हुआ, साथ ही उसे अनेक अनर्थों का सामना करना पडा।' उक्त न्याय का यही उदाहरण है।

के विषय पर लौटता है, और शंकर सर्वप्रथम सांख्यों का प्रतिवाद करने वाले पहले के कुछ सूत्रों का उद्धरण देने के पश्चात् इस प्रकार कहते हैं :

इदं त्व् इदानीम् अवशिष्टम् आशङ्क्यते। यद् उक्तम् प्रधानस्य अशब्दत्व तद् असिद्धं कासुचित् शाखासु प्रधान-समर्पणाभासानां शब्दानं श्रूयमाणत्वात्। अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेद-प्रसिद्धम् एव महद्भिः परमर्षिभिह् कपिलादिभिः परिगृहीतम् इति प्रसज्यते। तद् यावत् तेषां शब्दानाम् अन्य-परत्वं न प्रतिपाद्यते तावत् सर्वज्ञम् ब्रह्म जगतः कारणम् इति प्रतिपादितम् अप्य् आकुली-भवेत्। अतस् तेषाम् अन्य-परत्वं दर्शयितुम् परः सन्दर्भः प्रवर्तते। "आनुमानिकम् अपि" (ब्रह्मसूत्र १. ४, १) अनुमान-निरूपितम् अपि प्रधानम् "एकेषां" शाखिनां शब्दवद् उपलभ्यते। काठके हि पठ्यते "महतः परम् अव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः" इति। तत्र ये एव यन्-नामानो यत्-क्रमकाश् च महद्-अव्यक्त-पुरुषाः स्मृति-प्रसिद्धास् ते एव इह प्रत्यभिज्ञायन्ते। तत्र "अव्यक्तम्" इति स्मृति-प्रसिद्धेः शब्दादि हीनत्वाच् च न व्यक्तम् अव्यक्तम् इति व्युत्पत्ति-सम्भवात् स्मृति-प्रसिद्धम् प्रधानम् अभिधीयते। अतस् तस्य शब्दवत्त्वाद् अशब्दत्वम् अनुपपन्नम्।[१३८] तद् एव च जगतः कारणं श्रुति-स्मृति-प्रसिद्धिभ्य. इति चेत्। न एतद् एवम्। न ह्य् एतत् काठक-वाक्यं स्मृति-प्रसिद्धयोर् महद्-अव्यक्तयोर् अस्तित्व-परम्। न ह्य् अत्र यादृशं स्मृति-प्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणम् प्रधानं तादृशम् प्रत्यभिज्ञायते। शब्द-मात्रं ह्य् अत्र अव्यक्तम् इति प्रत्यभिज्ञायते। स च शब्दो न व्यक्तम् अव्यक्तम् इति यौगिकत्वाद् अन्यस्मिन्न् अपि सूक्ष्मे दुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते न च अयं कस्मिंश्चिद् रूढः। या तु प्रधान-वादिनाम् रूढिः सा तेषाम् एव पारिभाषिकी सती न वेदार्थ-निरूपणे कारण-भावम् प्रतिपद्यते। न च क्रम-मात्र-सामर्थ्यात् समानार्थ-पतिपत्तिर् भवत्य् असति तद्-रूप-प्रत्यभिज्ञाने। न ह्य् अश्व-स्थाने गाम् पश्यन्न् अश्वोऽयम् इत्य् अमूढोऽध्यवस्यति। प्रकरण-निरूपणाया च अत्र न पर-परिकल्पितम् प्रधानम् प्रतीयते शरीर-रूपक-विन्यस्त-गृहीते'। शरीरं ह्य् अत्र रथ-रूपक-विन्यस्तम् अव्यक्त-शब्देन परिगृह्यते। कुत'। प्रकरणात् परिशेषाच् च। तथा ह्य् अनन्तरातीतो ग्रन्थः आत्म-शरीरा-

[१३८] विव० इ० संस्करण मे 'उपपन्नम्' पाठ है किन्तु मैं बंगला लिपि मे छपे एक प्राचीन सस्करण के 'अनुपपन्नम्' पाठ को ही ग्रहण कर रहा हूँ, क्योकि आशय के द्वारा इसकी ही आवश्यकता है।

दीनां रथि-रथादि-रूपक-क्लृप्तिं दर्शयति । कठोपनिषद् १. ३, ३ और बाद : "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथम् एव च। बुद्धि च सारथि विद्धि मन प्रग्रहम् एव च। ४. इन्द्रियाणि हयान् आहुर् विषयांस् तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रिय-मनो-युक्तम् भोक्तेत्य् आहुर् मनीषिणः।" तैश् चैन्द्रियादिभिर् असयतैः संसारम् अधिगच्छति। संयतैस् त्व् अध्वनः पारं तद् विष्णोः परमम् पदम् आप्नोति इति दर्शयित्वा किं तद् अध्वनः पारम् विष्णोः परमम् पदम् इत्य् अस्य आकान्क्षायां तेभ्यः एव प्रकृतेभ्यः इन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानम् अध्वनः पारं तद् विष्णोः परमम् पदं दर्शयति। कठोपनिषद् १. ३, १० और बाद : "इन्द्रियेभ्यः पराः ह्य् अर्थाः अर्थेभ्यश् च परम मनः। मनसस् तु परा बुद्धिर् बुद्धेर् आत्मा महान् परः। ११. महतः परम् अव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषाद् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिर्" इति। " "बुद्धेर् आत्मा महान् परः" यः स "आत्मानं रथिनं विद्धि" इति रथित्वेन उपक्षिप्तः। कुतः आत्म-शब्दाद् भोक्तुश् च भोगोपकरणात् परत्वोपपत्ते। महत्त्वं च अस्य स्वामित्वाद् उपपन्नम्।' या प्रथमजस्य हिरण्य-गर्भस्य बुद्धिः सा सर्वासाम् बुद्धीनाम् परमा प्रतिष्ठा सा इह "महान् आत्मा" इत्य् उच्यते। सा च पूर्वत्र बुद्धि-ग्रहणेन एव गृहीता सती हिरुग् इह उपदिश्यते तस्याः अप्य् अस्मदीयाभ्यो बुद्धिभ्यः परत्वोउप-पत्तेः।' ' तद् एवं शरीरम् एव एकम् परिशिष्यते। तेषु[137] इतराणि इन्द्रियादीनि प्रकृतान्य् एव परम-पद-दिदर्शयिषया समनुक्रामन् परि-शिष्यमाणेन इह अनेन व्यक्त-शब्देन परिशिष्यमाणम् प्रकृतं शरीरं दर्शयति इति गम्यते।' ''' तद् एवम् पूर्वापरालोचनायां नास्त्य् अत्र पर-परिकल्पितस्य प्रधानस्य अवकाशः। २. "सूक्ष्मं तु तद्-अर्हत्वात्।" उक्तम् एतत् प्रकरण-परिशेषाभ्याम् शरीरम् अव्यक्त-शब्द न प्रधानम् इति। इदम् इदानीं आशान्क्यते कथम् अव्यक्त-शब्दार्हत्वं शरीरस्य यावता स्थूलत्वात् स्पष्टतरम् इदं शरीर व्यक्त-शब्दार्थम् अस्पष्ट-वचनस् त्व् अव्यक्त-शब्दः इति। अतः उत्तरम् उच्यते। सूक्ष्मं त्व् इह कारणात्मना शरीर विवक्ष्यते सूक्ष्मस्य अव्यक्त-शब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलम् इदं शरीरं न स्वयम् अव्यक्त-शब्दम् अर्हति तथापि तस्य त्व् आरम्भकम् भूत-सूक्ष्मम् अव्यक्त-शब्दम् अर्हति।' ' 'अत्र आह यदि जगद् इदम् अनभिव्यक्त-नाम-रूपं बीजात्मकम् प्राग्-अवस्थम् अव्यक्त-शब्दार्थम्

---

[137] उपरोक्त पहले के सस्करण मे 'तेषु' नही है।

अभ्युपगम्यते तद्-आत्मना च शरीरस्याप्य् अव्यक्त-शब्दार्थत्वम् प्रतिज्ञायेत स एव तर्हि प्रधान-कारण-वादः एवम् सत्य् आपद्येत अस्य एव जगतः प्राग्-अवस्थायाः प्रधानत्वेन अभ्युपगमाद् इति। अत्र उच्यते। यदि वयं स्वतन्त्रां कान्चित् प्राग्-अवस्थां जगतः कारणत्वेन अभ्युपगच्छेम प्रसन्जयेम तदा प्रधान-कारण-वादम्। परमेश्वराधीना त्व् इयम् अस्माभिः प्राग्-अवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। सा च अवश्यम् अभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति शक्ति-रहितस्य तस्य प्रवृत्त्य्-अनुपपत्तेः मुक्तानां च पुनर् उत्पत्तिर् विद्यया तस्याः वीज-शक्तेर् दाहात्। अविद्यात्मिका हि सा वीज-शक्तिर् अव्यक्त-शब्द-निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिर् यस्यां स्वरूप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसरिणो जीवाः। तद् एतद् अव्यक्तं क्वचिद् आकाश-शब्द निर्दिष्टम्। "एतस्मिन् नु खल्व् अक्षरे गार्गि आकाश् ओतश् च प्रोतश् च" इति श्रुतेः। क्वचिद् अक्षर-शब्दोदितम् "आक्षरात् परतः परः" इति श्रुतेः। क्वचिद् माया इति सूचितम् "मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्" इति मन्त्रवर्णात्। अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्व-निरूपणस्य अशक्यत्वात्। तद् इदम् "महतः परम् अव्यक्तम्" इत्य् उक्तम् अव्यक्त-प्रभवत्वाद् महतो यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर् महान्। यदा तु जीवो महांस् तदाऽप्य् अव्यक्ताधीनत्वाज् जीव-भावस्य महतः परम अव्यक्तम् इत्य् उक्तम्। अविद्या ह्य् अव्यक्तम् अविद्यावत्त्वे च जीवस्य सर्वः सव्यवहारः सन्ततो वर्त्तते। त्वच् च् अव्यक्त-गतम् महतः परत्वम अभेदोपचारात् तद्-विकारे शरीरे परिकल्प्यते। (ब्रह्मसूत्र १. ४, १–३ और उस पर शांकरभाष्य)।

'अब अवशिष्ट विषय में आशङ्का की जाती है : प्रधान अशब्द है, ऐसा जो पीछे कहा गया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि कुछ शाखाओं के प्रधान के वाचक शब्द सुनने में आते हैं। इससे सूचित होता है कि प्रधान की जगत्कारणता वेद से सिद्ध है, और महान् परम ऋषियों ने उसी का ग्रहण किया है। इसलिये जब तक उन शब्दों की अन्य-परता का निर्णय न किया जाय तब तक 'सर्वज्ञ ब्रह्म जगत् का कारण है', इस प्रकार जो प्रतिपादन किया है, वह भी सन्देहास्पद हो जायगा, इसलिये वे शब्द अन्य परक हैं यह दिखलाने के लिये अब अग्रिम ग्रन्थ का आरम्भ होता है : आनुमानिक अनुमान से निरूपित प्रधान भी कुछ शाखावालों की श्रुति से प्रतिपादित प्रतीत होता है। 'महत् से अव्यक्त श्रेष्ठ है, और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है' ऐसी काठक (१. ३, ११) में श्रुति है। जिस नाम और क्रम से महत् अव्यक्त और पुरुष सांख्य

शास्त्र में प्रसिद्ध हैं, उनका ही यहाँ काठक में प्रत्यभिज्ञान होता है। उनमें से अव्यक्त शब्द से प्रधान का बोध होता है क्योंकि सांख्य शास्त्र में अव्यक्त शब्द प्रधान में प्रसिद्ध है और शब्द आदि न होने से जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है, इस व्युत्पत्ति का उसमें सम्भव है। इसलिये श्रुतिप्रतिपादित होने से प्रधान को अशब्द कहना युक्त नहीं है। श्रुति, स्मृति, और तर्क से वह सिद्ध है, अतः वही जगत् का कारण है। सिद्धान्ती ऐसा नहीं है। क्योंकि यह काठक वाक्य साख्यशास्त्र-प्रसिद्ध महत् और अव्यक्त के अस्तित्व का बोधक नहीं है, क्योंकि जैसा सांख्यसास्त्र-प्रसिद्ध जगत् का कारण त्रिगुणात्मक प्रधान है वैसे अव्यक्त प्रधान की प्रत्यभिज्ञा यहाँ नहीं होती। यहाँ तो केवल अव्यक्त शब्दमात्र की प्रत्यभिज्ञा होती है, और वह शब्द जो व्यक्त नहीं है—वह अव्यक्त है, इस प्रकार यौगिक होने से सूक्ष्म एवं सुदुर्लक्ष्य अन्य पदार्थ में भी प्रयुक्त हो सकता है और काठक श्रुति में पठित अव्यक्त शब्द किसी अर्थ में रूढ नहीं है। जो प्रधानवादियों की रूढि है, वह उन्हीं की पारिभाषिक होने से वेदार्थ का निरूपण करने में कारण नहीं हो सकती। अर्थ के रूप की प्रत्यभिज्ञा न हो तो केवल क्रम की समानता से समान अर्थ का बोध नहीं होता। कोई भी समझदार आदमी घोड़े के स्थान पर बैल को देखकर 'यह घोड़ा है' ऐसा निश्चय नहीं कर सकता, और यहाँ प्रकरण का निरूपण करने पर प्रतिपक्षी से कल्पित प्रधान की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि यहाँ रथ रूपक से विन्यस्त शरीर का ही ग्रहण है। निस्सन्देह, यहाँ पर रथ रूपक से विन्यस्त शरीर का ही अव्यक्त शब्द से ग्रहण किया है। किससे? इसका उत्तर होगा, प्रकरण से और परिशेष से। क्योंकि समनन्तर अतीत ग्रन्थ, रथी और रथ आदि के साथ आत्मा, शरीर आदि के रूपक की कल्पना दिखलाता है 'आत्मा को रथी और शरीर को रथ जानो, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम जानो, इन्द्रियाँ अश्व हैं, और विषय उनके मार्ग हैं; देह, इन्द्रिय और मन से युक्त को विद्वान् भोक्ता कहते हैं'[१३८] (काठक १. ३, ३-४)। वे इन्द्रियाँ आदि असयत अर्थात् अनियमित हों, तो उनसे जन्म-मरण की परम्परा को प्राप्त होता है और सयत हों तो आवागमन रहित विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है, ऐसा दिखलाकर आवागमन रहित विष्णु का परमपद कौन है, ऐसी आकांक्षा होने पर 'इन्द्रियों

---

[१३८] कठ उपनिषद् तथा यहाँ आने वाले मूल शब्द 'आत्मेन्द्रिय-मनो-युक्तम् भोक्ता', बहुत स्पष्ट नही है।

"फिर भी, यह शब्द अस्पष्ट नही है, और इनका हिन्दी अनुवाद आशय के अनुकूल ही किया गया है।" अनुवादक

से विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, और बुद्धि से महान् अर्थात् जीव श्रेष्ठ है, महान् जीव से अव्यक्त श्रेष्ठ है, और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुष से कुछ श्रेष्ठ नहीं है वह अन्तिम सीमा है, वही उत्कृष्ट गति है' यह श्रुति प्रकृत इन्द्रिय आदि से पर परमात्मा को ही आवागमन रहित विष्णु का परम पद कहती है।··· ······'आत्मा को रथी जानो' इस प्रकार रथी रूप से निर्दिष्ट महान् आत्मा है, वह बुद्धि से श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्म शब्द से यही प्रत्यभिज्ञा होती है। भोक्ता को भोग की सामग्रियों से श्रेष्ठ कहना ठीक ही है, स्वामी होने से वह महान् भी हैं। ·····प्रथम उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ की बुद्धि सब बुद्धियों की आधार है। वही यहाँ महान् आत्मा कही गई है। यद्यपि पहले वह बुद्धि शब्द के ग्रहण से गृहीत थी ही, तो भी यहाँ उसका पृथक् उपदेश है, क्योंकि वह भी हमारी बुद्धि से श्रेष्ठ है, यह ठीक ही है।·········इस प्रकार उनमें केवल एक शरीर ही बच जाता है। परम पद को दिखाने की इच्छा से पूर्व कथित अन्य इन्द्रिय आदि का अनुसरण करने वाला वेद यहाँ अवशिष्ट रहने वाले अव्यक्त शब्द से अवशिष्ट रहने वाले प्रकृत शरीर को ही दिखलाता है। ऐसा समझा जाता है। ····· ··इस प्रकार से पूर्वापर पर्यालोचन करने पर सिद्ध होता है कि प्रतिपक्षी द्वारा कल्पित प्रधान का यहाँ अवकाश ही नहीं है।" दूसरे सूत्र (१. ४, २) अर्थात् "किन्तु सूक्ष्म शरीर को भी 'अव्यक्त' कहा जा सकता है," की व्याख्या करते हुए शंकर इस प्रकार आरम्भ करते हैं .

"स्थूल शरीर के आरम्भक भूतों का सूक्ष्मभाग जो सूक्ष्म शरीर कहलाता है, उसी का अव्यक्त शब्द से ग्रहण होता है। प्रकरण और परिशेष से कहा गया है कि अव्यक्त शब्द शरीर वाचक है, प्रधान वाचक नहीं; और यह शङ्का होती है कि जब स्थूल होने के कारण शरीर स्पष्टतया व्यक्त शब्द प्रतिपाद्य प्रतीत हो रहा है तब वह अव्यक्त शब्द वाच्य कैसे है? अव्यक्त शब्द तो अस्पष्ट का वाचक है। इसलिये उत्तर देते हैं' यहाँ अव्यक्त शब्द से कारण-रूप से सूक्ष्म शरीर विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म अव्यक्त शब्द का वाच्य है। यद्यपि यह स्थूल शरीर स्वरूप से अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं है, तो भी उसके आरम्भक भूत सूक्ष्म अव्यक्त शब्द के योग्य हैं"··· 'दूसरे सूत्र (१. ४, ३) की व्याख्या को शंकर इन शब्दों से आरम्भ करते हैं' "यहाँ सांख्य कहता है' नाम और रूप की अभिव्यक्ति से शून्य पूर्वावस्था में स्थित बीजात्मक यह जगत् यदि अव्यक्त शब्द प्रतिपाद्य माना जाय और उस रूप से शरीर भी अव्यक्त शब्द प्रतिपाद्य है, ऐसी यदि प्रतिज्ञा की जाय, तो ऐसा होने से उसी प्रधान कारणवाद की प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि प्रधान ही इस जगत् की पूर्व अवस्था रूप से स्वीकृत हुआ है। इस पर हम उत्तर देते

हैं : यदि हम जगत के कारण के रूप में किसी एक स्वतन्त्र प्राक् अवस्था को स्वीकार करें तो हम प्रधान कारणवाद के अनुयायी हो सकते हैं; परन्तु हम जगत् की प्रागवस्था को परमेश्वर के अधीन मानते हैं, स्वतंत्र नहीं। वह अवस्था तो अवश्य ही माननी पड़ेगी, क्योंकि उपयोगिनी है। उसके विना परमेश्वर स्रष्टा ही नहीं हो सकता; क्योंकि शक्तिशून्य होने से उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। मुक्त आत्माओं के बन्ध की पुनः उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या से उस बीजशक्ति का नाश हो जाता है।[१३९] अविद्या स्वरूप वह बीजशक्ति अव्यक्त शब्द से कही जाती है, परमेश्वर के आश्रित रहती है, मायामयी एवं महासुषुप्ति है जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं। वह अव्यक्त कहीं आकाश शब्द से कहा गया है, क्योंकि 'हे गार्गि! इस अविनाशी तत्त्व में आकाश ओतप्रोत है', (बृह उ० ३. ८, ११) ऐसी श्रुति है। कहीं अक्षर शब्द से कहा गया है, क्योंकि 'सर्वश्रेष्ठ अक्षर से युक्त' ऐसी श्रुति है। और कहीं वह माया शब्द से सूचित है, क्योंकि 'प्रकृति को माया जाने और महेश्वर को मायावी जाने' (श्वेताश्वतर उप० ४. १०) ऐसी श्रुति है। वह माया अव्यक्त है, क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है या भिन्न है ऐसा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता। यदि महत् का अर्थ हिरण्यगर्भ की बुद्धि हो, तो अव्यक्त से महत् उत्पन्न होता है, इसलिये 'महत से पर अव्यक्त है' यहाँ पर वही पूर्वावस्था कही गई है। यदि महत् शब्द का अर्थ जीव हो तो भी जीवभाव के अव्यक्ताधीन होने से 'महत् से पर अव्यक्त है' ऐसा कहा है। निश्चय ही अव्यक्त अविद्या है। अविद्या से युक्त होने से ही जीव के सब व्यवहार सदा चलते जाते है। महत् से परत्व जो कि अव्यक्त में है, उसकी अभेदोपचार से उसके विकार शरीर में कल्पना की जाती है।"

इस सूक्ष्म तथा विस्तृत व्याख्या से भी शंकर कदाचित ही अपना पक्ष सिद्ध कर पाते हैं। किन्तु इस समस्या की विवेचना का आगे में और अधिक

---

[१३९] गोविन्दानन्द ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है. "बन्ध-मुक्ति-व्यवस्थार्थम् अपि सा स्वीकार्य्या इत्य् आह 'मुक्तानाम्' इति। यन्-नाशाद् मुक्ति' सा स्वीकार्य्या ता विना एव सृष्टौ मुक्तानाम् पुनर् बन्धापत्तिर् इत्य् अर्थ।" अर्थात् 'मुक्तानाम्' इत्यादि शब्दो द्वारा यह बताया गया है कि जीवन-मुक्त होने के स्थायित्व को प्राप्त करने के लिये इस अज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक है: अर्थात् उस अज्ञानता को स्वीकार करना चाहिये जिसके विनाश द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, क्योकि इसके बिना मुक्त व्यक्ति सृष्टि के समय पुन' बन्धन युक्त हो जायेगे।

अनुसरण नहीं कर सकता; अतः अब मैं आठवें सूत्र (१. ४, ८) का अध्ययन आरम्भ करूँगा जहाँ एक अन्य श्रुति की विवेचना की गई :

"चमस-वद् अविशेषात्"। पुनर् अपि प्रधान-वादी अशब्दत्वम् प्रधानस्य असिद्धं इत्य् आह। कस्मात्। मन्त्र-वर्णात्। श्वेताश्वतर उपनिषद् ४ ५: "अजाम् एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।[१४०] अजो ह्य् एको जुषमाणोऽनुशेते जहात्य् एनाम् भुक्त-भोगम् अजोऽन्यः" इति। अत्र हि मन्त्रे लोहित-शुक्ल-कृष्ण-शब्दैः रजः-सत्त्व-तमांस्य् अभिधीयन्ते। लोहितं रजो रञ्जनात्मकत्वात् शुक्लं सत्त्वं प्रकाशात्मकत्वात् कृष्णं तमः आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्थावयव-धर्मैर् व्यपदिश्यते लोहित-शुक्ल-कृष्णा इति। न जायते इति च "अजा" स्याद् "मूल-प्रकृतिर् अविकृतिर्" इत्य् अभ्युपगमात्। नन्व् अजा-शब्दश् छागायां रूढः। बाढम्। सा तु रूढिर् इह न आश्रयितुं शक्या विद्या-प्रकरणात्। सा च बह्वीः प्रजास् त्रैगुण्यान्विताः जनयति ‥ ‥तस्मात् श्रुति-मूला एव प्रधानादि-कल्पना कापिलानाम् इत्य् एवम् प्राप्ते ब्रूमः। न अनेन मन्त्रेण श्रुति-मूलत्वं सांख्य-वादस्य शक्यम् आश्रयितुम्। न ह्य् अयम् मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कञ्चिद् अपि वादं समर्थयितुम् उत्सहते। सर्वत्रापि यया कयाचित् कल्पनया अजात्वादि सम्पादनोपपत्तेः सांख्य-वादः एव इह अभिप्रेतः इति विशेषावधारण-कारणाभावात्। "चमस-वत्"।

"इसमें 'यही चमस है' इस प्रकार विशेष रूप से किसी पदार्थ का निर्धारण नहीं होता है, इसी लिये प्रधान श्रुति प्रतिपादित नहीं है। फिर भी हम कहते हैं कि प्रधान को अशब्द कहना असिद्ध है, क्योंकि 'त्रिगुणात्मक एवं समान बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली एक अजा का सेवन करता हुआ एक अज उसके पास सोता है और दूसरा भोगने के पश्चात् उसका परित्याग कर देता है' (श्वेता० उ० ४. ५) ऐसी श्रुति है। इस श्रुति में लोहित, शुक्ल, और कृष्ण शब्दों से रज, सत्त्व और तम का अभिधान होता है। लोहित रागात्मक होने से रज है, शुक्ल प्रकाशात्मक होने से सत्त्व है, और आवरणात्मक होने से तम है। लोहित, शुक्ल, और कृष्ण इन अवयव धर्मों से उनकी साम्य अवस्था कही जाती है। जिसका जन्म नहीं होता वह अजा है, क्योंकि

---

[१४०] इस उपनिषद् के डा० रूअर के संस्करण मे इस पंक्ति के दो विभेदात्मक पाठ हैं, यथा : 'लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्' के स्थान पर 'लोहित-कृष्ण-वर्णाम्' (जिसे ही शंकर ने अपने भाष्य मे उद्धृत किया है), और 'स्वरूपा' के स्थान पर 'सरूपाम्' हैं।

'मूल प्रकृति उत्पन्न नहीं होती,' ऐसा सांख्य लोग मानते हैं। अजा शब्द बकरी में रूढ़ है, उससे प्रधान का ग्रहण कैसे होगा ? अवश्य रूढ़ है ? परन्तु उस रूढ़ि का यहाँ ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि यह विद्या का प्रकरण है। यह अजा तीन गुण वाली बहुत प्रजाओं को जन्म देती है ·····इसलिये कपिल मतानुयायियों की प्रधान आदि की कल्पना श्रुतिमूलक ही है। ऐसा प्राप्त होने पर हम उत्तर देते हैं: इस मन्त्र से सांख्यवाद श्रुति प्रतिपादक है ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह मन्त्र स्वतन्त्रता से किसी भी वाद का समर्थन नहीं कर सकता। सभी वादों में जिस किसी कल्पना से अजात्व आदि का सम्पादन किया जा सकता है, और सांख्यवाद ही यहाँ अभिप्रेत है इस प्रकार-विशेष के निर्धारण में कोई प्रमाण नहीं है, जैसा कि 'चमस् के समान' के उदाहरण से स्पष्ट है।" इस सूत्र में बृहदारण्यक उपनिषद् (२. २, ३) में उद्धृत एक मन्त्र से तात्पर्य है जो इस प्रकार आरम्भ होता है: 'चमस नीचे की ओर छिद्रवाला और ऊपर की ओर उठा हुआ होता है।' इस पर टीका करते हुये शङ्कर का कथन है कि जिस प्रकार यह उक्ति किसी विशेष चमस के लिये ही प्रयुक्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार उक्त 'अजामेकाम्' मन्त्र किसी का विशेष रूप से प्रतिपादक नहीं है। इस मन्त्र में अजा से प्रधान ही अभिप्रेत है, ऐसा नियम नहीं कर सकते (एवम् इहाप्य अविशेषोऽजाम् एकाम् इत्य अस्य मन्त्रस्य। न अस्मिन् मन्त्रे प्रधानम् एव अजाऽभिप्रेता इति शक्यते नियन्तुम्)। किन्तु यहाँ अजापद से किस अजा का ग्रहण किया जाय ? इस प्रश्न का सूत्रकार तथा शङ्कर यह उत्तर देते हैं कि यहाँ 'अजापद' से उस अजा को ग्रहण करना चाहिये जो परमेश्वर से उत्पन्न और ज्योति, तेज, जल, और अन्न-स्वरूप चार प्रकार के भूतसमूह की जननी है (परमेश्वराद् उत्पन्ना ज्योतिः-प्रमुखा तेजोऽब-अन्न-लक्षणा चतुर-विध-भूत-ग्रामस्य प्रकृति-भूता इयम् अजा प्रतिपत्तव्या)। इन चार भूतों को वह इन शब्दों में तीन के साथ ही समीकृत करते प्रतीत होते हैं: "भूत-त्रय-लक्षणा एव इयम् अजा विज्ञेया न गुण-त्रय-लक्षणा", अर्थात्, "ऐसा समझना चाहिये कि यह अजा तीन भूतों से ही बनी है तीन गुणों से नहीं।" और सूत्र में वर्णित तीन रङ्गों को इन तीनों भूतों का ही रूप मानने की पुष्टि में शङ्कर, छान्दोग्य उपनिषद् (६. ४, १) से एक उद्धरण देते हैं, जो इस प्रकार है: 'यद् अग्ने रोहितम् रूपं तेजसस् तद् रूपम् यत् शुक्लं तद् अपां यत् कृष्णं तद् अन्नस्य।' अर्थात् 'अग्नि में जो रक्त रूप है वह तेज का है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है, और जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है' (छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्यकार के अनुसार यहाँ अन्न से पृथिवी

का तात्पर्य है)। इस प्रकार उनका कथन है कि तीन रंगों के द्योतक शब्दों का उपयुक्त आशय में ही प्रयोग हुआ है। जब कि तीन गुणों की प्रतीति केवल लक्षण द्वारा ही हो सकती है (रोहितादीनां च शब्दानां रूप-विशेषेषु मुख्यत्वाद् भाक्तत्वाच् च गुण-विषयत्वस्य)। शङ्कर का यह निष्कर्ष है कि अजा मन्त्र से प्रधान नामक किसी स्वतन्त्र प्रकृति का प्रतिपादन नहीं होता। प्रकरण से तो वही दैवी शक्ति, जिसमें नाम और रूप अव्याकृत हैं और जो नाम और रूप की पूर्वावस्था है, इसके द्वारा भी प्रतिपादित होती है (न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधानं नाम अजा-मन्त्रेण आम्नायाते इति शक्यते वक्तुम्। प्रकरणात् तु सा एव दैवी शक्तिर् अव्याकृत-नाम-रूपा नाम-रूपयोः प्राग् अवस्थानेनापि मन्त्रेण आम्नायते इत्य उच्यते)।

इस विषय से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याओं की उपेक्षा करते हुये अब मैं ११ वें सूत्र और उसके भाष्य पर आता हूँ, जिसमें 'पाँच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं उसी आत्मा को मैं अमृत-ब्रह्म मानता हूँ' इत्यादि (यस्मिन् पञ्च पञ्च-जनाः आकाशश् च प्रतिष्ठितः। तम् एवान्यः आत्मानम् विद्वान् इत्यादि), शब्दों को अपने मत के समर्थन में उद्धृत करते हुये सांख्यों ने यहाँ आई हुई पच्चीस की संख्या को अपने सिद्धान्त के 'तत्त्व' (देखिये सांख्यकारिका, ३; और सांख्य सूत्र १. ६१) के साथ समीकृत किया है; जब कि वेदान्तियों ने इस स्थल के प्रयोग की उपयुक्तता को इस आधार पर अस्वीकृत किया है कि सांख्यों का 'तत्त्व' पाँच-पाँच के पाँच समवेत तत्त्वों से नहीं बना है, और यदि मूल स्थल पर उद्धृत आत्मा और आकाश को भी पच्चीस की सख्या में जोड दिया जाय, जैसा कि जोड़ देना चाहिये, तो कुल संख्या सांख्यों के 'तत्त्व' की उस संख्या से अधिक हो जायगी जिसमें आकाश और आत्मा भी निहित हैं। साथ ही, यदि संख्याओं की समानताओं को स्वीकार भी कर लिया जाय तो इतने से ही सांख्यों के 'तत्त्व' का उल्लेख होने का तथ्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसका न तो अन्यत्र कहीं वेद में उल्लेख है और न 'जना' शब्द को सामान्यतया 'तत्त्वों' का द्योतक ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त 'पञ्चजना' शब्द से केवल 'पाँच' का तात्पर्य है, 'पाँच बार पाँच' का नहीं, इत्यादि। १२ वें सूत्र में व्यक्त निष्कर्ष यह है कि उक्त स्थल पर पाँच प्राणों का निर्देश किया गया है, और यद्यपि 'जना' शब्द सामान्यतया 'तत्त्वों' से किसी भी प्रकार अधिक बार 'प्राण' इत्यादि के लिये व्यवहृत नहीं हुआ है, तथापि विषय के सन्दर्भ द्वारा इसका

---

[१४१] देखिये इस उपनिषद् का राजेन्द्र लाल मित्र का अनुवाद, पृ० १०६।

निर्देश हो जाता है। जैसा कि शङ्कर का मत है, अन्य लोग 'पञ्चजनाः' शब्द की देव, पितृ, गन्धर्व, असुर, और राक्षस के रूप में, तथा कुछ और अन्य लोग चार वर्ण और पाँचवें निषाद के रूप में व्याख्या करते हैं। फिर भी, जैसा कि भाष्यकार का कथन है, वेदान्त के आचार्य (बादरायण) ने यह निश्चित किया है, यहाँ प्राण आदि का ही तात्पर्य है।

अब यदि हम स्वयं साख्य सूत्रों को देखें तो हमें यह प्रतीत होगा कि उनका प्रणेता नित्य ही अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करने वाले, उनके अनुकूल होने, अथवा उनके साथ संगत होने के रूप में वेद का उल्लेख करता है। हमने इन दृष्टान्तों को देखा है, जैसे, सूत्र १. ५, ३६, ५१, ५४, ७८, ८४, १४८, १५५, २. २०–२२; ३ १४, १५, ८०; ४. २२; ५. १, १२, १५, २१; ६. ३२, ३४, ५१, ५८, ५९, जिन्हें डा० वैलेन्टाइन के अनुवाद में देखा जा सकता है। मैं इनमें से केवल कुछ का ही विशेष रूप से उनके भाष्य के साथ उद्धरण दूँगा।

मैं सूत्र १. १५५ से आरम्भ करता हूँ जिसमें सूत्रकार यह मत व्यक्त करता है कि आत्मा को एक मानने का वेदान्तियों का सिद्धान्त श्रुति द्वारा पुष्ट नहीं होता। जन्म, इत्यादि की स्थितियों में दृष्ट विभेदों के आधार पर सूत्रकार ने १५० वें सूत्र में अपने निष्कर्ष के रूप में यह व्यक्त किया है कि आत्मा अनेक है, और अब वह इस तथ्य को श्रुति के अनुकूल सिद्ध करता है।

"न अद्वैत-श्रुति-विरोधो जाति-परत्वात्"। आत्मैक्य-श्रुतीनां विरोधस् तु नास्ति तासां जाति-परत्वात्। जातिः सामान्यम् एक-रूपत्वं तत्र अद्वैत-श्रुतीनां तात्पर्य्याद् न त्व् अखण्डत्वे प्रयोजनाभावाद् इत्य् अर्थः। .... यथा-श्रुत-जाति-शब्दस्य आदरे त्व् "आत्मा इदम् एकः एव अग्रे आसीत्" "सद् एव सौम्य इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्" (छान्दोग्य उपनिषद् ६. २, १) इत्य्-आद्य-अद्वैत-श्रुत्य्-उपपादकतया एव सूत्रं व्याखेयम्। "जाति-परत्वात्"। विजातीय-द्वैत-निषेध परत्वाद् इत्य अर्थः। तत्र आद्य-व्याख्यायाम् अयम् भावः। आत्मैक्य श्रुति-स्मृतिष्व् एकादि-शब्दाश् चिद्-एकरूपता-मात्र-पराः भेदादि-शब्दाश् च वैधर्म्य-लक्षण-भेद-पराः (सांख्य सूत्र १. १५५ और उस पर भाष्य)।

" 'जाति-परक होने के कारण अद्वैत श्रुति विरोधी नहीं है।' हमारा यह सिद्धान्त कि आत्मा अनेक है, आत्मा की एकता को व्यक्त करने वाली श्रुतियों के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उनमें जाति-परक एकता का ही उल्लेख है। जाति का

अर्थ समानता, एकरूपता है, और अद्वैत सम्बन्धी श्रुतियों का इससे ही तात्पर्य है न कि आत्मा के अखण्डत्व से, क्योंकि इस वाद के दृष्टिकोण का कोई प्रयोजन नहीं है। 'आरम्भ में यह केवल एक आत्मा ही था' और 'हे सौम्य! आरम्भ में यही एक और अद्वितीय था', इत्यादि अद्वैत को व्यक्त करने वाली श्रुतियों के उपयुक्त अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए श्रुतियों में आये हुये 'जाति' शब्द के आशय का आदर करते हुये ही सूत्र की व्याख्या करनी चाहिये। 'जाति-परत्वात्' शब्दों से 'विजातीय द्वैत के निषेध के परत्व से तात्पर्य है।' सूत्र में दी हुई प्रथम दो व्याख्याओं का यह भाव है: आत्मा के ऐक्य से सम्बन्धित श्रुतियों और स्मृतियों में 'एक' आदि, शब्द केवल 'एक रूपता' मात्र को व्यक्त करते है, जब कि 'भेदादि' शब्द वैधर्म्य लक्षण के भेद के द्योतक हैं।" अपने भाष्य के अन्त में भाष्यकार सूत्र की एक दूसरी व्याख्या देता है।

सूत्रकार पाँचवें अध्याय के ६१ वें सूत्र में पुनः इस विषय पर आता है:

"न अद्वैतम् आत्मनो लिङ्गात् तद्-भेद-प्रतीतेः"। यद्यप्य् आत्मनाम् अन्योन्यम् भेद-वाक्य-वद् अभेद-वाक्यान्य अपि सन्ति तथापि न अद्वैतम्। न अत्यन्तम् अभेदः। अजादि-वाक्य-स्थै: प्रकृति-त्यागात्यागादि लिङ्गैर् भेदस्यैव सिद्धेर् इत्य अर्थः। न ह्य् अत्यन्ताभेदे तानि लिङ्गान्य उपपद्यन्ते (सांख्य सूत्र ५. ६१, और उस पर भाष्य)।

"'आत्मा एक नहीं है, क्योंकि उसके लक्षण से उसके भेद की प्रतीति होती है'। यद्यपि जिस प्रकार आत्मा के भेद का प्रतिपादन करने वाले श्रुति वाक्य हैं उसी प्रकार ऐसे भी श्रुति वाक्य हैं जो अभेद को व्यक्त करते हैं, तथापि अद्वैत, अर्थात् भेद के सर्वथा अभाव को अस्वीकार करना चाहिए, क्योंकि लक्षणों से ही भेद की सिद्धि होती है, जैसा कि 'अजादि' वाक्यों में उल्लिखित प्रकृति के त्याग और अत्याग इत्यादि का उल्लेख मिलता है। क्योंकि भेद के सर्वथा अभाव के सिद्धान्त के साथ यह लक्षण (लिङ्ग) सगत नहीं है," इत्यादि।

दूसरे, ६२ वें सूत्र में, एक इससे मिलते-जुलते ही विषय का प्रतिपादन किया गया है:

"न अनात्मनाऽपि प्रत्यक्ष-बाधात्"। अनात्मनाऽपि भोग्य-प्रपञ्चेन आत्मनो न अद्वैतम् प्रत्यक्षेणापि बाधात्। आत्मनः सर्व-भोग्याभेदे घट-पटयोर् अप्य् अभेदः स्यात्। घटादेः पटाद्य्-अभिन्नात्माभेदात्। स च भेद-ग्राहक-प्रत्यक्ष-बाधितः (सांख्य सूत्र ५. ६२, और उस पर भाष्य)।

"'आत्मा और अनात्मा में भी भेद का अभाव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणों से यह अप्रमाणित हो जाता है'। अर्थात्, आत्मा, और अनात्मा अर्थात् इन्द्रियों को प्रभावित करनेवाले भोग्य पदार्थों, दोनों को एक साथ ही अद्वैत

नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष द्वारा अप्रमाणित हो जाता है। यदि समस्त भोग्य-पदार्थों के साथ आत्मा का समीकरण होता तब घट और पट के बीच में इसलिए विभेद न होता कि घट आदि, उस आत्मा से भिन्न न होते जो पट आदि से भिन्न नहीं है। और इस प्रकार का समीकरण उस प्रत्यक्ष द्वारा बाधित होता जो हमें भेद ग्राहक बनाता है।"

किन्तु 'आत्मा एव इदम्' (यह केवल आत्मा ही है) इत्यादि श्रुतियों के साथ इसका किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जाय ? इसका ६४ वें सूत्र में एक उत्तर दिया गया है जो यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि सम्बद्ध स्थल कम से कम प्रत्यक्षतः उसी आशय को व्यक्त करते हैं जिसमें वेदान्तियों ने उन्हें ग्रहण किया है :

"अन्य-परत्वम् अविवेकानां तत्र।" अविवेकानाम् अविवेकि-पुरुषान् प्रति तत्र अद्वैतेऽन्य परत्वम् उपासनार्थकानुवादः इत्य् अर्थः। लोके हि शरीर-शरीरिणोर् भोग्य-भोक्त्रोश् च अविवेकेन अभेदो व्यवह्रियते "अहं गौरो" "मम आत्मा भद्रसेनः" इत्यादिः। अतस् तम् एव व्यवहा-रम् अनूद्य तान् एव प्रति तथा उपासनां श्रुतिर् विदधाति सत्त्व-शुद्ध्य्-आद्य्-अर्थम्-इति (सांख्य सूत्र ५. ६४ और उस पर भाष्य)।

" 'इन श्रुतियों का अविवेकियों के लिये एक अन्य परत्व है'। अर्थात् : अद्वैत का प्रतिपादन करने वाले स्थलों का एक अन्य उद्देश्य है, यथा, उनका उपासनार्थ अनुवाद है, क्योंकि अविवेकी पुरुष शरीर और आत्मा, भोग्य पदार्थ और भोक्ता के बीच कोई भेद नहीं मानते, जैसा कि उनकी इन युक्तियों से प्रगट होता है : 'मैं श्वेत हूँ', 'मेरी आत्मा ही भद्रसेन है।' अतः इस प्रकार के व्यवहार को उद्दिष्ट करके श्रुति ऐसे अविवेकी पुरुषों में सत्व और शुद्धता का संचार करने के लिये उपासना का विधान करती है।"

सूत्रकार सूत्र ६. ५१ में पुनः अद्वैत के विषय पर लौटता है जिसे इस टिप्पणी के साथ व्यक्त किया गया है :

नन्व् एवम् प्रमाणाद्य्-अनुरोधेन द्वैत-सिद्धाव् अद्वैत-श्रुतेः का गतिर् इति।

"किन्तु यदि प्रमाण आदि के आधार पर इस प्रकार द्वैत को सिद्ध मान लिया जाय, तब अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का क्या होगा ?"

इसका इस प्रकार उत्तर दिया गया है :

"न श्रुति-विरोधो रागिणां वैराग्याय तत्-सिद्धेः"। अद्वैत-श्रुति-विरो-

यस् तु नास्ति रागिणाम् पुरुषातिरिक्ते वैराग्याय एव श्रुतिभिर् अद्वैत-साधानात् (सांख्य सूत्र ६ ५१ और उस पर भाष्य)।

" 'हमारा मत श्रुति-विरुद्ध नहीं है, क्योंकि श्रुति में अद्वैत का प्रतिपादन रागयुक्त व्यक्तियों में वैराग्य उत्पन्न करने के लिये किया गया है।' अर्थात् : हमारे अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्त में किसी प्रकार का श्रुति-विरोध नहीं है, क्योंकि सम्बद्ध श्रुति-स्थलों पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन रागी व्यक्तियों में आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिये किया गया है।"

पाँचवें अध्याय के १२ वें सूत्र में यह कहा गया है कि वेद के अनुसार ईश्वर नहीं वरन् प्रधान ही जगत् का कारण है। उन तर्कों को, जिन पर यह दृष्टिकोण आधारित है, जैसा भाष्यकार ने यहाँ व्यक्त किया है, कुछ अंशों तक शंकर द्वारा सांख्यों से कहलाये गये विवरणों से भिन्न है :

"श्रुतिर् अपि प्रधान-कार्य्यत्वस्य" प्रपञ्चे प्रधान-कार्य्यत्वस्य एव श्रुतिर् अस्ति न चेतन-कारणत्वे। यथा "-अजाम् एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् वह्वी· प्रजाः सृजमानां सरूपाः"। "तद् ह इदं तर्ह्य् अव्याकृतम् आसीत् तद् नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियत" इत्य् अदिर् इत्य् अर्थः। या च "तद् ऐक्षत बहु स्याम्" इत्यादिश् चेतन-कारणता-श्रुतिः सा सर्गादाव् उत्पन्नस्य महत्-तत्त्वोपाधिकस्य महापुरुषस्य जन्य-ज्ञान-परा। किंवा-बहु-भवनानुरोधात् प्रधाने एव "कूलम् पिपतिपति" इति-वद् गौणी। अन्यथा "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश् च" (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.११) इत्य्-आद्य्-श्रुत्य्-उक्तापरिणामित्वस्य पुरुषेऽनुपपत्तेर् इति। अयं च ईश्वर-प्रतिषेधः ऐश्वर्य्ये वैराग्यार्थम् ईश्वर-ज्ञानं विनाऽपि मोक्ष-प्रतिपादनार्थं च प्रौढि-वाद-मात्रम् इति प्राग् एव व्याख्यातम्। (सांख्य सूत्र ५.१२, और उसपर भाष्य)।

"ऐसी भी श्रुतियाँ है जो प्रधान का जगत् के कारण के रूप में प्रतिपादन करती हैं।" अर्थात् : ऐसी वैदिक श्रुतियाँ हैं जो यह दिखाती हैं कि इस प्रापञ्चिक जगत का कारण 'प्रधान' है, और इसका कारण 'चेतन' नहीं है। यह श्रुतियाँ इस प्रकार हैं : 'लोहित, शुक्ल, कृष्ण रङ्गों वाली अजा अपने ही समान अनेक जीवों का सृजन करती है, इत्यादि', 'एक समय यह अव्याकृत था : यह नाम और रूप से व्याकृत हुआ।' 'उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ' इत्यादि, जैसी श्रुतियों से, जो जगत् को चेतन कारण-जन्य मानती हैं, उस ज्ञान का तात्पर्य है जो सर्ग के आरम्भ में महत् तत्त्व की उपाधि से युक्त उत्पन्न महापुरुष में प्रगट हुआ था। अथवा अनेक होने के विचार के अनुसार यह अभिव्यक्ति

लाक्षणिक रूप से प्रधान के लिये व्यवहृत हुई है, जैसे किसी नदी के किनारे के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि 'वह गिरना चाहता है'। क्योंकि किसी भी अन्य मान्यता के आधार पर 'वह जो साक्षी, चेतन, केवल, और निर्गुण है', ऐसी श्रुतियों में पुरुष के अपरिणामित्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसको उसके सम्बन्ध में उपयुक्त रूप से व्यहृत नहीं किया जा सकता (क्योंकि यदि वह जगत का भौतिक कारण होता तो निश्चित रूप से परिणामित्व का भागी होता)। और यह पहले कहा जा चुका है,[१४२] कि ईश्वर को अस्वीकार करना केवल एक प्रौढिवाद है, जिसे ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने, और ईश्वर के ज्ञान के बिना ही मोक्ष की विधि का प्रतिपादन करने के लिये ही व्यक्त किया गया है।"

निम्न उद्धरण ६ वें अध्याय के ३४ वें सूत्र और उसके भाष्य से लिया गया है :

ननु "वह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः" इत्य्-आदि-श्रुतेः पुरुषस्य कारणत्वावगमाद् विवर्त्तादि-वादाः आश्रयणीयाः इत्य् आशङ्क्य आह। "श्रुति-विरोधाद् न कुतर्कापसदस्य आत्म-लाभः"। पुरुष-कारणतायां ये ये पक्षाः सम्भावितास् ते सर्वे श्रुति-विरुद्धाः इति। अतस् तद्-अभ्युपगन्तॄणां कुतार्किकाद्य्-अधमानाम् आत्म-स्वरूप-ज्ञानं न भवति इत्य् अर्थः। एतेन आत्मनि सुख-दुःखादि-गुणोपादानत्व-वादिनोऽपि कुतार्किकाः एव। तेषाम् अप्य् आत्म-यथार्थ-ज्ञानं नास्ति इत्य् अवगन्तव्यम्। आत्म-कारणता-श्रुतयश् च शक्ति-शक्तिमदभेदेन उपासनार्थाः एव "अजाम् एकाम्" इत्य् आदि-श्रुतिभिः प्रधान-कारणता-सिद्धेः। यदि च अकाशस्य अभ्राद्य्-अधिष्ठान-कारणता वद् आत्मनः कारणत्वम् उच्यते तदा तद् न निराकुर्मः परिणामस्य प्रतिषेधात् (सांख्य सूत्र ६.३४, और उस पर भाष्य)।

"किन्तु क्या हमें एक भ्रमात्मक सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त को ग्रहण नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि 'पुरुष द्वारा अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि हुई', ऐसी श्रुतियों के द्वारा पुरुष-कारणत्व का अवगमन होता है? इस आशङ्का का यह उत्तर दिया गया है : 'श्रुति-विरोध करने से कुतर्की जाति-वहिष्कृत व्यक्ति आत्म-लाभ नहीं करता'। इसका आशय यह है कि पुरुष-कारणत्व का प्रतिपादन करने वाले जितने भी पक्ष हैं, वे श्रुति-विरुद्ध हैं; फलस्वरूप कुतर्कियों के

---

[१४२] देखिये विज्ञानभिक्षु का सूत्र १.९२ पर भाष्य। विज्ञानभिक्षु, जैसा कि हम देखेंगे, एक सर्वांशवादी हैं, सांख्य के कट्टर अनुयायी नहीं।

निम्नवर्ग को, जो इन्हें ग्रहण करते हैं, आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अतः यह समझना चाहिये कि जो आत्मा को सुख दुःख आदि गुणों का उपादान मानने वाले कुतार्किक हैं, उन्हें भी आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं है। आत्म-कारणत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का प्रयोजन इस आधार पर-उपासना का भाव व्यक्त करना है कि 'शक्ति' और 'शक्तिमत्' में कोई भेद नहीं है; क्योंकि 'अजाम् एकाम्' इत्यादि श्रुतियों से प्रधान का कारणत्व सिद्ध होता है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि केवल उसी आशय में आत्मा जगत का कारण है जिस आशय में आकाश मेघ का कारण है, अर्थात् उन्हें आश्रय प्रदान करने से, तो हमें इस में आपत्ति नहीं है, क्योंकि हम केवल परिणामत्व का ही प्रतिषेध करते हैं।"[१४३]

वेदान्त अथवा सांख्यों के सिद्धान्त अधिकांशतः उपनिषदों के सर्वप्रचलित मतों के अनुकूल हैं अथवा नहीं इस समस्या पर मैं, इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों के अनुवादक, डा० रूअर के कुछ मतों का उद्धरण दूँगा। तैत्तिरीय उपनिषद् के अपने अनुवाद में उन्होंने यह कहा है कि हमें इस उपनिषद् में 'वेदान्त के कुछ सिद्धान्त-विशेष पर्याप्त विकसित अवस्था में मिलते हैं; इसमें अंकुर की भाँति इस पद्धति के प्रमुख तत्त्व वर्त्तमान हैं।' फिर भी, 'उनका कथन (बिब्ल० इ०, १५, पृ० ५) है कि इनमें अन्तर भी है।' ऐतरेय उपनिषद् के साथ भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है (वही, पृ० २७)। श्वेताश्वर उपनिषद् के सम्बन्ध में वह यह मत व्यक्त करते हैं : "इस उपनिषद् के अपने भाष्य में शंकर ने इसके प्रधान दृष्टिकोण की वेदान्त की दृष्टि से ही व्याख्या की है। वह अनेक स्थलों पर कुछ अन्य उपनिषदों और वेदान्त के सिद्धान्तों में समीकरण स्थापित करते हुये प्रत्यक्षतः गलत हैं; किन्तु ऐसे उपनिषदों की व्याख्या करते हुये वह सर्वथा ठीक हैं जिनका वेदान्तके सिद्धान्तों को सांख्यानुयायियों के अनुकूल बनाने के लिये ही निर्माण किया गया है (वही, पृ० ४२ और बाद)।" कठ उपनिषद् के सम्बन्ध में डा० रूअर का यह कथन है (वही, पृ० ९७) : "कठ का आधारभूत सिद्धान्त प्रायः सम्पूर्णतः वेदान्त का ही सिद्धान्त है। परमब्रह्म ही जगत का आधार है ··फिर भी, अन्य उपनिषदों तथा उत्तर वेदान्त द्वारा स्वीकृत परमब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि के क्रम से इसका कुछ भिन्न और अपेक्षाकृत सांख्य से अधिक

---

[१४३] देखिये डा० बैलेन्टाइन का अनुवाद जिसका मैंने अक्सर अनुसरण किया है। फिर भी, मेरे द्वारा उद्धृत सभी स्थलो का उन्होंने विस्तृत अनुवाद नही किया है।

घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ क्रम इस प्रकार है: अव्यक्त, माहात्म अथवा महत्, बुद्धि, मानस्, इन्द्रियगम्य-पदार्थ और इन्द्रियाँ, इत्यादि।" जो पाठक इस विषय का और अधिक अध्ययन करना चाहते हैं वे अन्य उपनिषदों पर व्यक्त किये गये उक्त लेखक के विचारों का अध्ययन कर सकते हैं। वेद के साथ क्रमशः वेदान्त और सांख्य के सम्बन्ध की सम्पूर्ण समस्या पर डा० रूअर ने अपने विचारों को श्वेताश्वर उपनिषद् (पृ० ३६) की अपनी प्रस्तावना में इस प्रकार व्यक्त किया है: "यद्यपि अनेक महत्वपूर्ण अंशों में वेद से वेदान्त भिन्न है, और यद्यपि अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में यह उनसे (वेद से) पर्याप्त अंशों में स्वतन्त्र भी है, तथापि यह अपने को सर्वथा वेदानुकूल मानता है, और बहुसंख्यक ब्राह्मणों द्वारा गृहीत होने के कारण उसके आस्तिकत्व पर कभी आक्षेप भी नहीं करता। सांख्य के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह न केवल अक्सर वेद-विरोधी ही है, वरन् कभी कभी तो अपने को स्पष्टतः ऐसा घोषित भी करता है। वास्तव में वेदान्त भी यह मानता है कि (१) ज्ञानार्जन जाति अथवा अन्य किसी विभेद से स्वतंत्र है और परम ज्ञान, जो मनुष्य का अभीष्ट है, वेदों द्वारा प्रदान नहीं किया जा सकता (कठ २. २३), (२) फिर भी, यह इस बात पर ज़ोर देता है कि परम ज्ञान की प्राप्ति के लिये मानस को उपयुक्त बनाने के लिये वेद का ज्ञान आवश्यक है। इसे सांख्यों ने सर्वथा अस्वीकार किया है, और यद्यपि इन्होंने वेदों, और मुख्यतः उपनिषेदों का उल्लेख किया है, तथापि यह उसी दिशा में किया गया है जब ये उसके सिद्धान्तों के अनुकूल है, और (३) किसी शङ्का की दशा में इनके प्रमाणत्व को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है।"

उक्त उद्धरण में (१), (२), और (३) से व्यक्त कुछ स्थलों के सन्बन्ध में मैं अपना मत व्यक्त करूँगा। (१) हम ऊपर देख चुके हैं कि ब्रह्मसूत्र (देखिये १.३, ३४ और बाद, तथा इन पर शाङ्करभाष्य) के अनुसार, कम से कम, शूद्र ब्रह्मज्ञान अर्जित करने से वर्जित है। (२) जैमिनि के विरुद्ध शंकर के तर्कों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह ब्रह्मज्ञान के लिये वेद के कर्म-काण्ड को आवश्यक नहीं मानते। वह उपनिषदों को ही इसका स्रोत मानते हैं। (३) मैं यह नहीं जानता कि किस प्रमाण के आधार पर ऐसा कहा गया है कि सांख्यों ने वेद के प्रमाणत्व को अस्वीकृत किया है। वेद-वाक्यों के साथ अपने सिद्धान्तों का सामञ्जस्य स्थापित करने का सांख्यों का प्रयास अक्सर जटिल और पाण्डित्यपूर्ण प्रतीत हो सकता है; किन्तु मैं यह नहीं देख पाया हूँ कि सांख्यों की व्याख्याओं के विरुद्ध विस्तृत तर्क-वितर्क करते हुये भी शङ्कर ने कहीं

उन पर वेद के प्रामाणय को अस्वीकृत करने का, अथवा श्रुतियों का आश्रय लेने में अनास्था का आक्षेप किया हो।

उपनिषदों के विषय पर पाठक प्रोफेसर मैक्समूलर का एंन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर भी देख सकते हैं। मैं नीचे टिप्पणी में इस ग्रन्थ से कुछ स्थल उद्धृत कर रहा हूँ।[१४४]

---

[१४४] "उपनिषदों मे वह समस्त उच्चतम प्रमाण निहित अथवा निहित माने गये हैं जिन पर भारत के विभिन्न दर्शन आधारित हैं। न केवल वेदान्त दार्शनिक ही, जो अपने नाम से ही वेद के सिद्धान्तो और उपदेशों मे ही अपनी आस्था व्यक्त करते हैं, वरन् सांख्य, वैशेषिक, न्याय, और योग दार्शनिक भी, कितने ही विरोधी होते हुये भी उपनिषदो मे अपने सिद्धान्तो की पुष्टि का प्रमाण देखने का प्रयास करते हैं। प्राचीनकाल मे, और आज भी वर्त्तमान अनेक मत-मतान्तरो के सम्बन्ध मे भी, यही स्थिति है। इनके संस्थापक, यदि उनके मतों मे कुछ भी आस्तिकता है तो, अपने तर्कों को प्रमाणित करने के लिये निश्चित रूप से उपनिषदो के किसी न किसी स्थल का आश्रय लेते हैं। यह सत्य है कि स्वयं उपनिषदो मे विचारो का इतना स्वातंत्र्य और विस्तार है कि उनमें किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय के लिये कुछ न कुछ प्रमाण पा जाना कठिन नही। (पृ० ३१६ और बाद)।" पुन, "आरम्भिक हिन्दुओं को अपने सत्यानुसन्धान मे परस्पर अत्यन्त भिन्न और कभी-कभी सर्वथा विरोधी मतो के बीच भी सामञ्जस्य स्थापित करने मे कोई कठिनाई नही होती थी, और, यहाँ तक कि अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक उपनिषदो तक मे से ऐसी प्रमाणभूत उक्तियो का अत्यन्त साधारण सग्रह किया जा सकता है जो दर्शन और धर्म के गहनतम विषयो, सृष्टि, ईश्वर, मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध आदि समस्याओ की व्याख्या करते हैं। एक उक्ति का किसी अन्य का विरोधी होना कभी भी किसी गभीर कठिनाई का विषय नही माना गया प्रतीत होता (पृ० ३२० और बाद)।" और पुन: 'प्राचीन उपनिषदो की प्रमुख विशेषता उस व्यवस्थित समवेतता का अभाव है जो बाद की दार्शनिक पद्धतियो मे मिलती है, और यह दु:ख की बात है कि प्रायः सभी विद्वान, जिन्होंने उपनिषदो का अनुवाद किया है, ब्राह्मण भाष्यकारो द्वारा निर्देशित हुये हैं। (पृ० ३२२)।" "दार्शनिक वाद-विवादो मे ब्राह्मण अधिकतम स्वतत्रता देते थे, और यद्यपि आरम्भ मे केवल तीन दर्शनो (दो मीमासा और न्याय) को ही आस्तिक माना गया था, तथापि इनकी सख्या शीघ्र ही वैशेषिक, सांख्य, और योग को सम्मिलित करके छ हो गई। महत्त्वपूर्ण विषयो पर भी अत्यन्त विरोधी दृष्टिकोणो को उस समय तक सहन कर

न्याय और वैशेषिक सूत्रों में श्रुतियों के प्रायः उतने सन्दर्भ नहीं मिलते जितने सांख्य में हैं ; किन्तु मैंने निम्नस्थल देखे हैं : न्याय सूत्र ३.१, २९ ; वैशेषिक सूत्र २.१, १७ ; ३.२, २१ ; ४.२, ११ ; ५.२, १० ।

वैशेषिक सूत्रकार, ३.२, २० में यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि आत्मा अनेक है, और २१ वें सूत्र में, जिसे मैं शङ्करमिश्रा के भाष्य और पण्डित जयनारायण तर्कपञ्चानन की टीका के साथ उद्धृत कर रहा हूँ, वह इस मान्यता की पुष्टि में वेद का प्रमाण देता है :

२१. "शास्त्र-सामर्थ्याच् च" । (शङ्कर मिश्रा) शास्त्रं श्रुतिः । तयाऽप्य् आत्मनो भेद-प्रतिपादनात् । श्रुयते हि ''(जयनारायण) इतोऽप्य् जीवस्य ईश्वर-भिन्नत्वम् इत्य् आह । शास्त्रस्य श्रुतेः शामर्थ्यात् जीवेश्वरयोर् भेद-बोधकत्वात् । तथा हि । "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये" (मैत्री उपनिषद् ६.२२) । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षम् परिषस्वजाते । तयोर् अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन्न् अन्यो अभिचाकशीति" (ऋग्वेद-संहिता १.१६४, २०; श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.६; मुण्डक उपनिषद् ३.१,१) इत्य्-आदि श्रुतेर् जीवेश्वरयोर् भेदोऽवश्यम् अङ्गीकार्य्यः । न च "तत् त्वम असि श्वेतकेतो" "ब्रह्म-विद् ब्रह्म एव भवति" इत्य्-आदि-श्रुतीनां का गतिर् इति वाच्यम् । "तत् त्वम् असि" इति श्रुतेस् तद्-अभेदेन तदीयत्व प्रतिपादनेन अभेद-भावना-परत्वात् । "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव" इति श्रुतिस् च निर्दुःखत्वादिना ईश्वर-साम्यं जीवस्य अभिधत्ते न तु तद्-अभेदम् । "निरन्जनः परं साम्यम् उपैति" इति श्रुतेर् गत्य्-अन्तरासम्भवात् । अस्ति हि लौकिक-वाक्येषु "सम्पद्-आधिक्ये पुरोहितोऽय राजा संवृत्तः" इत्य्-आदिषु सादृश्य-परेष्व् अभेदोपचारः । न च मोक्ष-दशायाम् अज्ञान-निवृत्ताव् अभेदो जायते इति वाच्यं भेदस्य नित्यत्वेन नाशायोगाद् भेद-नाशाङ्गीकारेऽपि व्यक्ति-द्वयावस्थानस्य आवश्यकत्वाच् च इति संक्षेपः । भेद-साधकानि युक्त्य-

---

लिया जा सकता था जब तक कि किसी न किसी प्रकार से उसके प्रवर्त्तक अपने सिद्धान्तो को वेद के अनुकूल सिद्ध करने मे विषय को कितना भी तोड मरोडकर सफल हो सकने थे। यदि केवल इसे हो स्वीकार कर लिया जा सकता था कि प्रत्यक्ष और तर्क के अतिरिक्त वेद मे निहित साक्षात् ज्ञान मानव-ज्ञान का वास्तविक आधार प्रदान करते हैं, तो अन्य सभी बातो का कोई विशेष महत्व नही रह जाता था। (पृ० ७८ और बाद)।"

अन्तराणि श्रुत्य-अन्तराणि च ग्रन्थ-गौरव-भिया परित्यक्तानि (वैशेषिक सूत्र ३.२.२१, और उस पर भाष्य)।

" 'और शास्त्र इस मतका समर्थन करते हैं।' (शङ्कर मिश्र): शास्त्रों का अर्थ श्रुति है, जिसके द्वारा आत्मा के भेद का भी प्रतिपादन होता है। क्योंकि ऐसा कहा गया है, इत्यादि' (यहाँ वह दो श्रुतियों का उदाहरण देते हैं जिनको जयनारायण ने भी दुहराया है)। जयनारायण का विचार यह है: "जीव और ईश्वर के भिन्नत्व के सम्बन्ध में एक अन्य प्रमाण भी है; वह यह है कि शास्त्र, अर्थात् श्रुति, जीव, और ईश्वर के भेद को बताते हैं, और इस सिद्धान्त को इस प्रकार की श्रुतियों के आधार पर स्वीकृत करना चाहिये: 'दो ब्रह्म जानना चाहिये',[१८५] और, 'दो पक्षी जो संयुक्त और सखा हैं, एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं, किन्तु उनमें से एक पीपल के स्वादिष्ट फलों को खाता है और दूसरा उन्हें न खाता हुआ केवल देखता रहता है।' हमें यह भी नहीं पूछना चाहिये कि (१) 'हे श्वेतकेतु! तुम वह हो', और (२) 'ब्रह्म-विद् ब्रह्म हो जाता है' इत्यादि अन्य श्रुतियों का क्या होगा, क्योंकि इन स्थलों में से प्रथम (१) उसके साथ समीकरण को व्यक्त करते हुए सत्व के भाव का प्रतिपादन करता है, अर्थात् इस तथ्य का कि श्वेतकेतु सर्वथा 'वह' है; जबकि दूसरा (२) दुःख आदि से रहित होने के रूप में जीव और ईश्वर की समानता को व्यक्त करता है, जीव का उसके साथ समीकरण नहीं; क्योंकि 'निर्विकार व्यक्ति परम साम्य को प्राप्त करता है' इत्यादि अन्य श्रुतियों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि कोई भी अन्य गति असम्भाव्य है। 'अपनी सम्पत्ति की अधिकता से पुरोहित राजा बन गया है', इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी हमें अभेदत्व का लाक्षणिक कथन मिलता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष की दशा में, अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर, भेद समाप्त हो जाता है, क्योंकि अपने नित्यत्व के कारण भेद का नाश नहीं किया जा सकता, और इसलिये भी कि यदि भेद की नाशकता को स्वीकार भी कर लिया जाय तो दो स्वतंत्र व्यक्तियों का अस्तित्व बना रहेगा। हमारे तर्क का यही सारांश

---

[१८५] पूरी पङ्क्ति इस प्रकार है. 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द-ब्रह्म परं च यत्—शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परम् ब्रह्माधिगच्छति।' अर्थात्: 'दो ब्रह्म जानना चाहिये, शब्दब्रह्म और परम ब्रह्म—जो शब्द ब्रह्म मे निष्णात होता है वह परम ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" फिर भी, यहाँ शब्द-ब्रह्म से वेद का ही तात्पर्य होना चाहिये।

है : विभेद को सिद्ध करने वाली अन्य युक्तियों और अन्य श्रुतियों का ग्रन्थ-विस्तार के भय से परित्याग किया गया है।"

शङ्कर ने भक्तिसूत्र [१४६] के प्रणेता शाण्डिल्य के विरुद्ध वेद की भर्त्सना करने का स्पष्ट आक्षेप किया है। शाण्डिल्य के सिद्धान्त के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र २.२,४५ पर अपने भाष्य में शङ्कर ने इस प्रकार कहा है :

वेद-विप्रतिषेधश् च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्यः इदं शास्त्रम् अधिगतवान् इत्य्-आदि-वेद-निन्दा-दर्शनात्। तस्माद् असङ्गता एषा कल्पना इति सिद्धम् (ब्रह्मसूत्र २.२,४५ पर शाङ्कर-भाष्य)।

"और यह वेद-विरोधी भी है; क्योंकि हमें वेद की निन्दा करने वाले इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि 'चारों वेदों में परम श्रेय को न प्राप्त कर पाने के कारण शाण्डिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया।' अतः सिद्ध हुआ कि यह कल्पना असंगत है।"

फिर भी, शङ्कर द्वारा आपत्ति किये गये भागवत के सिद्धान्त वह नहीं प्रतीत होते जिनका विब० इ०, सन् १८६१ में डा० बैलेन्टाइन द्वारा प्रकाशित शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में प्रमुखतः प्रतिपादन किया गया है। मैं इनमें से कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख करूँगा। इस पद्धति का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि ज्ञान नहीं वरन् भक्ति ही मोक्ष का साधन है (सूत्र १)। दूसरे सूत्र में भक्ति की 'ईश्वर की परम अनुरक्ति' के रूप में परिभाषा की गई है। सूत्रकार का विचार है कि ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि उसका ज्ञात विषय के प्रति घृणा के साथ भी सह अस्तित्व हो सकता है। (सूत्र ४)। न तो वेदाध्ययन और न मानसिक शान्ति जैसे गुणों का अर्जन ही भक्ति के लिये आवश्यक है। इन सूत्रों के भाष्यकारों के अनुसार (सूत्र १, पर) केवल मोक्ष की इच्छा आवश्यक है। 'कर्मकाण्ड का भी भक्ति के लिये कोई

---

[१४६] मूल लेखक ने शाण्डिल्य को भागवत् नामक एक नास्तिक ग्रन्थ का प्रणेता बताया है कि किन्तु प्राय सर्वत्र शाडिल्य को एक भक्तिसूत्रकार बताया गया है (देखिये शब्दकल्पद्रुम, और वाचस्पत्यम्, व० स्था०) और शंकराचार्य ने भी उक्त ब्रह्मसूत्र-भाष्य मे शाण्डिल्य को भागवत का रचयिता नही कहा है। मूल लेखक ने अपनी पुष्टि मे कोल० मिस० ए०, १ १४३ का यह उद्धरण दिया है : 'शङ्कर आचार्य द्वारा उद्धृत एक स्थल यह बताता है कि उस उद्धरण का प्रणेता शाण्डिल्य था।' अनुवादक

महत्त्व नहीं है (सूत्र ७)। सभी वर्ण के लोग, और यहाँ तक कि चाण्डाल भी, भक्ति की साधना कर सकते हैं, क्योंकि लौकिक जीवन के पापों से मुक्ति की इच्छा सभी में होती है (सूत्र ७८)। भाष्यकार यह व्याख्या करता है कि परमज्ञान के एकमात्र स्रोत के रूप में वेद के प्रामाण्य को अस्वीकृत नहीं किया गया है; और न यही अस्वीकृत किया गया है कि केवल तीन उच्च वर्णों के लोगों को ही वेदाध्ययन का अधिकार है : किन्तु यह कहा गया है कि स्त्रियाँ और शूद्र आदि वेद पर आधारित ज्ञान को इतिहास-पुराण के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, जब कि चाण्डाल इत्यादि स्मृतियों के आदेशों और पुण्यात्माओं के आचरण के आधार पर। जिनकी भक्ति इस जगत में प्रौढ़ता प्राप्त नहीं कर पाती उन्हें देवों के लोक, श्वेतद्वीप में, इसे पूर्ण करने का अवसर मिलता है (सूत्र ७९)। दुष्टात्मा तक को अनुपातात्मक भक्ति (आर्त्ति-भक्ताव् एव अधिकारः) का अधिकार है, और जब वह अपने पापों से मुक्त हो जाता है तब उसे पूर्ण भक्ति प्राप्त हो सकती है। इन सूत्रों के भाष्यकार ने भगवद् गीता से प्रचुर उद्धरण दिये हैं, किन्तु कभी-कभी अपने सिद्धान्तों के प्रमाण में वेद का भी उल्लेख किया है। जैसे यह सिद्ध करने के लिये कि भक्ति ही प्रमुख आवश्यकता है और ज्ञान आदि गौण हैं, छान्दोग्य उपनिषद् (७.२५,२) के यह शब्द उद्धृत किये गये हैं .

"आत्मा एव इदं सर्वम् इति। स वै एष एवम् पश्यन् एवम् मन्वानः एवं विजानन् आत्म-रतिर् आत्म-क्रीडः आत्म-मिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति"। तत्र "आत्म-रति" रूपाया. पर-भक्तेः "पश्यन्" इति दर्शनम् अप्रियत्वादि-ब्रह्म-निरास-मुखेन अङ्ग भवति (छान्दोग्य उपनिषद् ७.२५, २)।

" 'आत्मा ही यह सब कुछ है। जो उसे इस प्रकार देखता है, इस प्रकार ही मानता है, और इसी प्रकार जानता है, वह आत्मा में ही रति करता है, आत्मा के साथ ही क्रीड़ा करता है, आत्मा के साथ ही मैथुन करता है, और आत्मा में ही आनन्द प्राप्त करता है; वह स्वय सुख का राजा बन जाता है।' यहाँ 'पश्यन्' आदि शब्दों में व्यक्त दृष्टि से निराशाजनक सभी तत्त्वों की अप्रतीति का तात्पर्य है जो आत्मरति रूपी परा भक्ति का आवश्यक अङ्ग है।"

सूत्र ३१ के अपने भाष्य में भाष्यकार ने इसी उपनिषद् के एक अन्य स्थल, ३.१४,४, को उद्धृत किया है जिसमें एक उक्ति के प्रणेता के रूप में शाण्डिल्य का उल्लेख है। इस उपनिषद् के अपने भाष्य में शङ्कर ने इसे एक ऋषि कहा है। फिर भी, यह ऋषि ही उक्त सूत्रकार नहीं रहा हो सकता,

क्योंकि, चाहे उसकी ऐसी ही प्रसिद्धि रही हो तो भी एक महर्षि द्वारा उसके प्रणीत होने के तथ्य को अस्वीकृत करना शङ्कर के लिये कठिन न होता, जैसा कि अगले खण्ड में हम देखेंगे कि उन्होंने इस मत का खण्डन किया है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लिखित कपिल नामक ऋषि सांख्य सूत्रों के प्रणेता थे।

खण्ड ११—न्यायमाला विस्तर, और मनु तथा वेदान्त इत्यादि के भाष्यकारों द्वारा व्यक्त वेद और स्मृतियों, अथवा अवैदिक शास्त्रों के प्रामाण्य सम्बन्धी विषयों का विवेचन; कपिल और कणाद इत्यादि की आस्तिकता के सम्बन्ध में शङ्कर और मधुसूदन का मतभेद; और विज्ञानभिक्षु का सांख्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

अपेक्षाकृत अधिक आलोचनात्मक भारतीय लेखकों ने वेदों, और चाहे किसी भी नाम से पुकारे जाने वाले अन्य भारतीय शास्त्रों, के बीच सामान्यतया एक स्पष्ट विभेदात्मक रेखा खींची है। जैसा कि हम देख चुके हैं, वेदों को स्वतंत्र प्रामाण्य और निर्दोष माना गया है, जबकि अन्य भारतीय शास्त्रों को वेदों से ही अपना प्रामाण्य ग्रहण करने वाला और उसी अंश तक निर्दोष माना गया है जहाँ तक इनके निर्देश वेदानुकूल है। निम्न उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

१—न्यायमाला विस्तर :—प्रथम उद्धरण जो मैं दे रहा हूँ उसे प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में यद्यपि उद्धृत किया जा चुका है, तथापि संदर्भ की सुविधा के लिये उसे यहाँ दुहराया जा रहा है :

बौधायनापस्तम्बाश्वलायन-कत्ययनादि-नामाङ्किताः कल्प-सूत्रादि-ग्रन्थाः निगम-निरुक्त-षड्-अङ्ग-ग्रन्थाः मन्व्-आदि-स्मृतयश् च अपौरुषेया धर्म-बुद्धि-जनकत्वात् वेद-वत्। न च मूल-प्रमाण-सापेक्षत्वेन वेद-वैषम्यम् इति शङ्कनीयम्। उत्पन्नायाः बुद्धेः स्वतः-प्रामाण्याङ्गी-कारेण निरपेक्षत्वात्। मैवम्। उक्तानुमानस्य कालात्ययापदिष्टत्वात्। बौधायन-सूत्रम् आपस्तम्ब-सूत्रम् इत्य् एवम् पुरुष-नाम्ना ते ग्रन्थाः उच्यन्ते। न च काठकादि-समाख्या-वत् प्रवचन-निमित्तत्वं युक्तम्। तद्-ग्रन्थ-निर्माण-काले तदानीन्तनैः कैश्चिद् उपलब्धत्वात्। तच् च अविच्छिन्न-पारम्पर्येण अनुवर्त्तते। ततः कालिदासादि-ग्रन्थ वत् पौरुषेयाः।

तथापि वेद-मूलत्वात् प्रमाणम्। ''कल्पस्य वेदत्वं नाद्यापि सिद्धम्। किन्तु प्रयत्नेन साधनीयम्। न च तत् साधयितुं शक्यम्। पौरुपेयत्वस्य समाख्यया तत्-कर्त्तुर् उपलम्भेन च साधितत्वात् (न्याय-माला विस्तर १.३, २४)।

"यह कहा जा सकता है कि बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, इत्यादि, के नामों से युक्त कल्पसूत्र इत्यादि, और निगम, निरुक्त, छः वेदाङ्ग, मनु इत्यादि की स्मृतियाँ अपौरुपेय हैं, क्योंकि ये वेदों के समान ही धर्म बुद्धि की जनक हैं, और इन्हें इसलिये वेदों से हीन नहीं मानना चाहिये कि इनमें मूल प्रमाण का सापेक्षत्व है, क्योंकि ये जिस ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं वह स्वत. प्रामाण्य होने के रूप में अङ्गीकृत होने के कारण निरपेक्ष हैं, किन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि यह अनुमान एक भ्रामक सामान्यीकरण पर आधारित है। उक्त ग्रन्थ किसी न किसी मनुष्य के नाम पर ही प्रचलित हैं, जैसे 'बौधाययन सूत्र', 'आपस्तम्ब सूत्र', इत्यादि, और इन नामों को, इनके साथ सयुक्त आचार्यों की कृतियाँ होने के कारण उत्पन्न नहीं माना जा सकता (जैसा कि वास्तव में काठक आदि के साथ संयुक्त वेदों के विभिन्न शाखाओं की दशा में है), क्योंकि यह व्यक्ति जब इन सूत्रों, स्मृतियों इत्यादि की रचना कर रहे थे, उस समय इनके कुछ समकालीन व्यक्तियों को यह ज्ञात था कि ये ऐसी रचना कर रहे हैं। इन ग्रन्थों को अविच्छिन्न परम्परा से युक्त भी नहीं माना जा सकता। अतः कालिदास आदि की कृतियों की भाँति ये ग्रन्थ भी पौरुपेय हैं। फिर भी वेदों पर आधारित होने के कारण इनमें प्रामाण्य है।" ''यह अतिरिक्त टिप्पणी इसी समस्या पर गुरु (प्रभाकर) का मत व्यक्त करती है : "अभी तक यह सिद्ध नहीं किया जा सका कि कल्पसूत्रों में वेदत्व है : ऐसा सिद्ध करना श्रम-साध्य, और वास्तव में असम्भव कार्य है, क्योंकि इन ग्रन्थों के साथ संयुक्त नामों के कारण, तथा कृतियाँ होने के कारण, इनका पौरुपेयत्व सिद्ध है।"

२—कुल्लूकः—इसी बात को मनु के भाष्यकार कुल्लूक ने भी स्वीकार किया है, और यह (मनुस्मृति १.१ पर) मनु और वेद के सम्बन्ध की इस प्रकार व्याख्या करते हैं :

पौरुपेयत्वेऽपि मनु-वाक्यानाम् अविगीत-महाजन-परिग्रहात् श्रुत्य्-उपग्रहाच् च वेद-मूलकतया प्रामाण्यम्। तथा च छान्दोग्य-ब्राह्मणे श्रूयते "मनुर् वै यत् किन्चिद् अवदत् तद् भेषजम् भेपजतायै" इति। बृहस्पतिर् अप्य् आह वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्।

मन्व्-अर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते। तावच् छास्त्राणि शोभन्ते तर्क-व्याकरणानि च। धर्मार्थ-मोक्षोपदेष्टा मनुर् यावद् न दृश्यते।" महाभारतेऽप्य् उक्तम् "पुराणम् मानवो धर्मः साङ्गो वेदश् चिकित्सितम्। आज्ञा-सिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः"। विरोधी-बौद्धादि-तर्कैर् न हन्तव्यानि। अनुकूलस् तु मीमांसादि-तर्कः प्रवर्त्तनीयः एव। अत एव वक्ष्यति "आर्षं धर्मोपदेशं च वेद-शास्त्राविरोधिना। यस तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः" इति (मनुस्मृति १ १ पर कुल्लूक)।

"यद्यपि मनु के वाक्य पौरुषेय हैं, तथापि आस्तिक महाजनों द्वारा गृहीत होना और उनका श्रुतिमूलत्व यह सिद्ध करता है कि ये वेदमूलक और प्रामाण्य हैं। इसीलिये छान्दोग्य -ब्राह्मण में यह कहा गया है : 'मनु ने जो कुछ भी कहा वह उपचारात्मक ओषधि है।' और बृहस्पति ने कहा है : 'यतः मनु वेदार्थ पर आधारित हैं, अतः उनकी एक प्रधान (विशिष्ट) के रूप में स्मृति है। किन्तु वह स्मृति जो मनु के आशय के विपरीत है उसको कोई मान्यता नहीं है। शास्त्र तथा तर्क और व्याकरण आदि तभी तक शोभा पाते हैं जब तक हम धर्म और मोक्ष के उपदेशक मनु को नहीं देखते।' और महाभारत में यह कहा गया है : 'पुराण, मनु के धर्मसूत्र, अङ्गों सहित वेद, और चिकित्सा, इन चार पर, जो कि आज्ञा-सिद्ध हैं, किसी तर्क के आधार पर आक्षेप नहीं करना चाहिये; अर्थात् बौद्धों के विरोधी तर्कों की भाँति इन पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं करना चाहिये। इन पर तो मीमांसकों के अनुकूल तर्क ही प्रयुक्त होने चाहिये। और इसीलिये हम नीचे (मनु, १२.१०६) देखेंगे कि उन्होंने इस प्रकार कहा है : 'जो व्यक्ति आर्षों के उपदेशों और धर्म का वेदानुकूल तर्क का अनुसन्धान करता है केवल वही धर्म का ज्ञाता होता है।'" (देखिये ऊपर पृ० २९, २४ वीं पाद-टिप्पणी)।

३—न्याय-माला-विस्तर :—किन्तु स्मृति के उपदेशों को निरर्थक और व्यर्थ नहीं माना गया है। इसके विपरीत प्राचीनता, विशिष्टता, तथा उनके प्रणेताओं की आस्तिक प्रकृति के अनुसार उनमें प्रामाण्यत्व की कल्पना की गई है। इसीलिये न्याय-माला-विस्तर का लेखक यह कहता है :

विमता स्मृतिर् वेद-मूला। वैदिक-मन्व्-आदि-प्रणीत-स्मृतित्वात्। उपनयनाध्ययनादि-स्मृति-वत्। न च वैयर्थ्यं शङ्कनीयम्। अस्मदादीनां प्रत्यक्षेपु परोक्षेपु नाना वेदेषु विप्रकीर्णस्य अनुष्ठेयार्थस्य एकत्र संक्षिप्यमाणत्वात् (न्याय-माला विस्तर १ ३, ३)।

"विभिन्न प्रकार से समझी जाने वाली स्मृति वेदमूलक है, क्योंकि

उपनयन तथा अध्ययन जैसी परम्पराओं का मनु आदि जैसे वैदिक पुरुषों ने विधान किया है। स्मृतियों को व्यर्थ भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभिन्न वेदों में सर्वत्र बिखरे हुये अनुष्ठान आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के उपदेश संक्षिप्त रूप में एकत्र हैं।" (यहाँ परोक्ष से सम्भवतः यह तात्पर्य है कि वेद के कुछ अंश जो मनु तथा अन्य लोगों के समय में वर्त्तमान थे अब लुप्त हो गये हैं। देखिये मैक्स मूलर : ऐ० सं० लि०, पृ० १०३-१०७)।

फलस्वरूप स्मृतियों में आज के विशिष्ट व्यक्तियों की अपेक्षा, जिन्हें अदृश्य और अतीत का साक्षात् ज्ञान नहीं है, स्मृतियों का अधिक श्रेष्ठ प्रामाण्य है। इसीलिये न्याय-माला-विस्तर में ऐसा कहा गया है :

न हि इदानीन्तनाः शिष्टाः मन्व्-आदि-वद् देश-काल-विप्रकृष्टं वेदं दिव्य-ज्ञानेन साक्षात्कर्त्तुं शक्नुवन्ति येन शिष्टाचारो मूल-वेदम् अनुमापयेत् (न्याय-माला-विस्तर १.३, १९)।

"यतः आधुनिक मनुष्यों में मनु आदि की भाँति दिव्य-ज्ञान के द्वारा देश और काल की दृष्टि से अत्यन्त दूरस्थ वेद का साक्षात् करने की क्षमता नहीं है, अतः इन आधुनिक व्यक्तियों के शिष्टाचारों को वेदमूलक कहना उपयुक्त नहीं है।"

यतः किसी देश और काल में विद्वान् व्यक्ति किसी ऐसी स्मृति का अनुवीक्षण करें जो उनके किसी विशेष शिष्टाचार को मान्यता प्रदान करती है, तो ऐसे शिष्टाचार किसी ऐसी स्मृति के अस्तित्व का अनुमान करने का आधार प्रस्तुत कर सकते हैं जिन पर वह आधारित हैं; किन्तु इनके आधार पर श्रुति का अनुमान नहीं किया जा सकता' तस्माच् छिष्टाचारेण स्मृतिर् अनुमातुं शक्यते न तु श्रुतिः)। किन्तु इस प्रकार की किसी अनुमानित स्मृति को किसी भी प्रत्यक्ष वर्त्तमान विरोधी स्मृति की अपेक्षा अमान्य कर देना चाहिये (अनुमिता च स्मृतिर् विरुद्धया प्रत्यक्षया स्मृत्या बाध्यते)।

४—शङ्कर :—यह मानकर कि मनु तथा अन्य प्रमुख ऋषियों में अब नहीं भी उपलब्ध श्रुतियों के अनुवीक्षण की क्षमता थी, उक्त स्थान उन्हें प्रत्यक्षतः निर्दोष ही सिद्ध कर देते हैं। शङ्कर ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। (फिर भी, देखिये ऊपर पृ० ६९ पर ६० वीं पाद-टिप्पणी में उद्धृत इनका एक स्थल; किन्तु वहाँ वह उस सांख्यसूत्रकार के विरुद्ध मत व्यक्त कर रहे हैं जिसे वह वेद-विरोधी मानते हैं)। ब्रह्मसूत्र १.३, ३२ के भाष्य में वर्णित एक मीमांसाक की इस आपत्ति के विरुद्ध कि पौरुषेय होने के

कारण इतिहास-पुराण केवल व्युत्पन्न और गौण प्रमाण से ही युक्त हैं (इतिहा-पुराणम् अपि पौरुषेयत्वात् प्रामाणान्तर-मूलताम् आकाङ्क्षते), उत्तर देते हुये बाद के सूत्र (१.३, ३३) पर अपने भाष्य में यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इनका एक स्वतंत्र आधार है :

इतिहास-पुराणम् अपि व्याख्यातेन मार्गेण सम्भवद् मन्त्रार्थवाद-मूलत्वात् प्रभवति देवता-विग्रहादि प्रपञ्चयितुम्। प्रत्यक्ष-मूलम् अपि सम्भवति। भवति हि अस्माकम् अप्रत्यक्षम् अपि चिरन्तनानाम् प्रत्यक्षम्। तथा च व्यासादयो देवताभि॰ प्रत्यक्षं व्यवहरन्ति इति स्मर्यते। यस् तु ब्रूयाद् इदानीन्तनानाम् इव पूर्वेषाम् अपि नास्ति देवादिभिर् व्यवहर्तुं सामर्थ्यम् इति स जगद् वैचित्र्यम् प्रतिषेदेत्। इदानीम् इव च न अन्यदाऽपि सार्वभौमः क्षत्रियोऽस्ति इति ब्रूयात् ततश् च राजसूयादि-चोदनाः उपरुन्ध्यात्। इदानीम् इव च कालान्तरेऽप्य् अव्यस्थित-प्रायान् वर्णाश्रम-धर्मान् प्रतिजानीत ततश् च व्यवस्था-विधायि शास्त्रम् अनर्थकं कुर्यात्। तस्माद धर्मोत्कर्ष-वशात् चिरन्तनाः देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यजह्रुर् इति श्लिष्यते। अपि च स्मरन्ति "स्वाध्यादिष्ट-देवता-सम्प्रयोगः" इत्यादि। योगोऽप्य् अणिमाद्य्-ऐश्वर्य-प्राप्ति फलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहस-मात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश् च योगमाहात्म्यम् प्रख्यापयति। "पृथ्व्य् अप्-तेजो-ऽनिल-खे समुत्थिये पञ्चात्मके योग-गुणे प्रवृत्ते। न तस्यो रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाद्[१४७] निमषं शरीरम्" इति। ऋषीणाम् अपि मन्त्र-ब्राह्मण-दर्शिनां सामर्थ्यं न अस्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् स-मूलम् इतिहास-पुराणम् (ब्रह्मसूत्र १.३, ३३ पर शाङ्करभाष्य)।

"इतिहास और पुराण भी मंत्रमूलक तथा अर्थवादमूलक होने के कारण प्रमाण होने से उपर्युक्त आधार पर देवता के विग्रह आदि को सिद्ध करने में समर्थ होते है। और देवता के शरीर आदि में प्रत्यक्ष आदि भी मूल हैं। जो हमको प्रत्यक्ष नहीं हैं वह भी चिरन्तनों को प्रत्यक्ष हो सकते थे।[१४८] इसीलिये

---

[१४७] 'योगादि निमिषम्' के स्थान पर बिब० इ० संस्करण मे 'योगाग्निमयम्' पाठ है।

[१४८] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के गत पृ०, १२५ १२७, १३६, और ज० ज० ओ० सो०, ७.३११ मे वैशेषिक दर्शन पर प्रो० मूलर का लेख भी जहां उन्होने यह कहा है कि कपिल की भांति वैशेषिक भी आर्षज्ञान को ही प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखते हैं (आर्ष ज्ञान सूत्र-कृता पृथक् न लक्षितम् योगि-प्रत्यक्षेऽन्तर्-भावात्)।

ऐसी स्मृति है कि व्यास आदि, देवताओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते हैं।[१४९] जो ऐसा कहेगा कि आधुनिकों के समान प्राचीन लोग भी देवता आदि के साथ व्यवहार करने में समर्थ नहीं थे, वह जगत् की विचित्रता का अपलाप, और आजकल के समान अन्य समय में भी सार्वभौम क्षत्रियों की सत्ता का निषेध करेगा। ऐसी दशा में राजसूत्र आदि विधि-बाधित हो जायगा और आजकल के समान अन्य समय में भी वर्णाश्रम धर्म अव्यवस्थित ही था ऐसी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी, जिसके कारण व्यवस्था करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। अत. सिद्ध हुआ कि धर्म के उत्कर्ष के कारण प्राचीन लोग देवता आदि के साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। ऐसी स्मृति[१५०] भी है कि 'स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ सम्प्रयोग और संभाषण आदि सम्बन्ध होता है।' अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्ति के साधनों और स्मृति-सिद्ध योग का भी सहसा निषेध नहीं किया जा सकता। 'पृथिवी, जल, तेज वायु, और आकाश, इन पाँच भूतों के अपने वश में होने से और अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति से अभिव्यक्त तेजोमय देह को प्राप्त हुये योगी को, रोग, जरा, और मृत्यु आदि नहीं होते', इत्यादि श्रुति भी योग के महात्म्य का वर्णन करती है। मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा ऋषियों की सामर्थ्य का अपनी सामर्थ्य से तुलना करना उचित नहीं है। अतः इतिहास और पुराण समूल, अर्थात् प्रमाणभूत हैं।"

---

[१४९] इसके साथ तुलना कीजिये ऋग्वेद १ १७९, २ · "ये चिद् हि पूर्व ऋतसाप आसन् शाक देवेभिर् अवदन् ऋतानि। ते चिद् अवासुर इत्यादि।" अर्थात् "प्राचीन काल के धर्म-पालक ऋषिगण, जो देवताओ से धार्मिक सत्यो की बात करते थे, वैवाहिक जीवन व्यतीत करते थे, इत्यादि।" देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग से उद्धृत महाभारत के वन पर्व, शतपथ ब्राह्मण, और प्लेटो के कुछ उद्धरण, और तु० की० हेसियड का फ्रैगमेन्ट ११९. "अमर देवगण, जो उस समय अपरिचित नही थे, मनुष्यो के साथ वार्त्तालाप और भोजनोत्सव आदि मे सम्मिलित होते थे।"

और इजिप्शियनो के सम्बन्ध मे हेरोडोटस (१ १४४) इस प्रकार लिखते हैं : "इजिप्शियन पुरोहितो का कथन है कि इन मनुष्यों के पूर्व, इजिप्ट के शासक देवगण थे जो मनुष्यो के साथ ही रहते थे।"

[१५०] गोविन्दानन्द की टीका से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ एक योगसूत्र ही उद्धृत है। मैंने उनकी व्याख्या का ही आशय लिया है "मन्त्र-जपाद् सन्निव्यूह तत् सम्भाषणं च इति सूत्रार्थः।"

फिर भी शङ्कर समस्त प्राचीनों को इसी दृष्टि से नहीं देखते। अनेक अन्य व्यवस्थाकारों की भाँति, इन्हें भी, अपने दृष्टिकोण के विरोधी किसी भी व्यक्ति को अस्वीकार करने अथवा उसकी विपरीत व्याख्य करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि सांख्य सूत्रकार कपिल के साथ इन्होंने इस प्रकार का व्यवहार किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस महान् ऋषि की इस प्रकार चर्चा की गई है :

यो योनिं योनिम् अधितिष्ठत्य् एको विश्वानि रूपाणि योनीश् च सर्वाः। ऋषिम् प्रसूतं कपिलं यस् तम् अग्रे ज्ञानैर् बिभर्त्ति जायमानं च पश्येत् (श्वेताश्वतर उपनिषद् ५.२)।

"जो देव अकेले ही प्रत्येक स्थान, सम्पूर्ण रूप, और समस्त योनियों का अधिष्ठान है, तथा जिसने ही सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान-सम्पन्न किया और जन्म लेते हुए भी देखा था, इत्यादि।"[१५१]

ब्रह्मसूत्र २.१,१, के भाष्य में, जिसका मैं विस्तार से उद्धरण दूँगा, शङ्कर ने उक्त उपनिषद् के उपरोद्धृत स्थल पर टीका की है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में स्थापित सिद्धान्तों का वर्णन करने, और सांख्यों तथा अन्य विरोधी सिद्धान्तों को वेद-विरुद्ध सिद्ध करनेवाली आपत्तियों का उल्लेख करने के पश्चात् शङ्कर दूसरे अध्याय के उद्देश्य की व्याख्या और उसके प्रथम सूत्र के आशय का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

इदानीं स्व-पक्षे स्मृति-न्याय-विरोध-परिहारः प्रधानादि-वादानां च न्यायाभासोपबृंहितत्वम् प्रतिवेदान्तं सृष्ट्य्-आदि-प्रक्रियायाः अविगीतत्वम् इत्य् अस्य अर्थ-जातस्य प्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते। तत्र प्रथमं तावत् स्मृति-विरोधम् उपन्यस्य परिहरति। यद् उक्तम् ब्रह्म एव सर्वज्ञं जगतः कारणं तद् अयुक्तम्। कुतः "स्मृत्य्-अनवकाश-दोष-प्रसङ्गात्"। स्मृतिश् च तन्त्राख्या परमर्षि-प्रणीता शिष्ट-परिगृहीता। अन्याश् च तद्-अनुसारिण्यः स्मृतयः। एवं सत्य् अनवकाशाः प्रसज्येरन्। तासु ह्य् अचेतनम् प्रधानं स्वतन्त्रं जगतः कारणम् उपनिबध्यते। मन्व्-आदि-स्मृतयस् तावच् चोदना-लक्षणेन अग्निहोत्रादिना धर्म-जातेन अपेक्षितम् अर्थं समर्पयन्त्यः सावकाशा भवन्ति अस्य वर्णस्य

---

[१५१] देखिये इस स्थल पर बिब० इ०, ७ ३५१ मे शाङ्करभाष्य, और टिप्पणी सहित डा० रूअर का अनुवाद, पृ० ६२; और बिब० इ० मे प्रकाशित सांख्य-सूत्र की भूमिका, पृ० १९, पर डा० हॉल की टिप्पणी।

अस्मिन् कालेऽनेन विधानेन उपनयनम् ईदृशश् च आचारः इत्थं वेदाध्ययनम् इत्थं समावर्त्तनम इत्थ सह-धर्म-चारिणी-संयोगः इति तथा पुरुषार्थांश चतुर्-वर्णाश्रम-धर्मान् नाना-विधान विदधति। न एवं कापिलादि-स्मृतीनम अनुष्ठेये विषयेऽवकाशोऽस्ति मोक्ष-साधनम् एव हि सम्यग्-दर्शनम् अधिकृत्य ताः प्रणीताः। यदि तत्र अप्य् अनवकाशाः स्युर् आनर्थक्यम् एव आसाम् प्रसज्येत। तस्मात तद्-अविरोधेन वेदान्ताः व्याख्यातव्याः। कथम् पुनर् "ईक्षित्य-" आदिभ्यो हेतुभ्यो ब्रह्म एव सर्वज्ञं जगतः कारणम् इत्य् अवधारितः श्रुत्य्-अर्थः। "स्मृत्य्-अनवकाश-दोष-प्रसङ्गेन" पुनर् आक्षिप्यते। भवेद् अयम् अनाक्षेपः स्व-तन्त्र-प्रज्ञानाम्। पर-तन्त्र-प्रज्ञास् तु प्रायेण जनाः स्वातन्त्र्येण श्रुत्य्-अर्थम् अवधारयितुम् अशक्नुवन्तः प्रख्यात-प्रणेतृकासु स्मृतिष्व् अवलम्बेरन् तद्-बलेन च श्रुत्य्-अर्थम् प्रतिपत्सेरन्न् अस्मत्-कृते च व्याख्याने न विश्वस्युर बहु-मानात् स्मृतीनाम् प्रणेतृषु। कपिल-प्रभृतीना च आर्षं ज्ञानम अप्रतिहत स्मर्य्यते श्रुतिश् च भवति "ऋषिम् प्रसूतं कपिलं यस् तम् अग्रे ज्ञानैर् बिभर्त्ति जायमानं च पश्येद्" इति। तस्माद् न एषाम् मतम् अयथार्थं शक्य सम्भावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन च तेऽर्थम् प्रतिष्ठापयन्ति। तस्माद् अपि स्मृति-बलेन वेदान्ता व्याख्येयाः इति पुनर् आक्षेप। तस्य समाधिर् "न। अन्य-स्मृत्य्-अनवकाश-दोष-प्रसङ्गाद्" इति। यदि स्मृत्य्-अनवकाश-दोष-प्रसङ्गे ईश्वर-कारण-वादः आक्षिप्येत एवम् अप्य् अन्याः ईश्वर-कारण-वादिन्यः स्मृत्योऽनवकाशाः प्रसज्येरन्। ताः उदाहरिष्यामः। "एवम् अनेकशः स्मृतिष्व् अपि ईश्वर कारणत्वेन उपादानत्वेन च प्रकाश्यते। स्मृति-बलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृति-बलेन एव उत्तरम् प्रवक्ष्यामि इत्य् अतोऽयम् अन्य-स्मृत्य-अनवकाश-दोषोपन्यासः। दर्शितं तु श्रुतीनाम् ईश्वर-कारण-वादम् प्रतितात्पर्य्यम्। विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनाम् अवश्य-कर्त्तव्येऽन्यतर-परिग्रहेऽन्यतरस्याः परित्यागे च श्रुत्य्-अनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम् अनपेक्ष्याः इतरः। तद् उक्तम् प्रमाण-लक्षणे "विरोधे त्व् अनपेक्षं स्याद् असति ह्य् अनुमानाम्" इति (मीमांसा सूत्र १.३,३)। न च अतीन्द्रियान् अर्थान् श्रुतिम् अन्तरेण कश्चिद् उपलभते इति शक्य सम्भावयितुं निमित्ता-भावात्। शक्य कपिलादीनां सिद्धानाम् अप्रतिहत-ज्ञानत्वाद् इति चेत्। न। सिद्धेर् अपि सापेक्षत्वात्। धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः स च धर्मश् चोदना-लक्षणः। ततश् च पूर्वसिद्धायाश् चोदनायाः अर्थो न पश्चिम-सिद्ध-पुरुष-वचन-वशेन अतिशङ्कितुं शक्यते। सिद्ध व्यपाश्रय-कल्पना-

याम् अपि बहुत्वात् सिद्धानाम् प्रदर्शितेन प्रकारेण स्मृति-विप्रतिपत्तौ सत्यां न श्रुति-व्यपाश्रयाद् अन्यद् निर्णय-कारणम् अस्ति। पर-तन्त्र-प्रज्ञस्य अपि न अक्स्मात् स्मृति-विशेष-विषयः पक्षपातो युक्तः। कस्य-चित् क्वचित् तु पक्षपाते सति पुरुष-मति-वैश्वरूपेण तत्त्वाव्यस्थान-प्रसङ्गात्। तस्मात् तस्य अपि स्मृति-विप्रतिपत्त्य्-उपन्यासेन श्रुत्य्-अनु-सारानानुसार-विवेचनेन च सन्-मार्गे प्रज्ञा सन्ग्रहणीया। या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुति-विरुद्धम् अपि कपिलम् मतं श्रद्धातुं शक्यं "कपिलम्" इति "श्रुति-सामान्य-मात्रत्वाद्"[१५२] अन्यस्य च कपिलस्य सगर-पुत्राणाम् प्रतप्तुर् वासुदेव-नाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थ-दर्शनस्य च प्राप्ति-रहितस्य असाधकत्वात्। भवति च अन्या मनोर् माहात्म्यम् प्रख्यापयन्ती श्रुतिर् "यद् वै किञ्च मनुर् अवदत् तद् भेषजम्"[१५३] इति। मनुना च (१२. ९१) "सर्व-भूतेषु चात्मानं सर्व-भूतानि चात्मनि। समम् पश्यन्न् आत्म-याजी स्वाराज्यम् अधिगच्छति" इति सर्वात्मत्व-दर्शनम् प्रशंसता कापिलम् मतं निन्द्यते इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्व-दर्शनम् अनुमन्यते आत्म-भेदा-भ्युपगमात्...। अतश् च आत्म-भेद-कल्पनयाऽपि कापिलस्य तन्त्रस्य वेद-विरुद्धत्वं वेदानुसारि-मनु-वचन-विरुधत्व च न केवलं स्वतन्त्र-प्रकृति-परिकल्पनया एवेति सिद्धम्। वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेर् इव रूप-विषये पुरुष-वचसां तु मूलान्तरापेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं वक्तृ-स्मृति व्यवहितं च इति विप्रकर्षः। तस्माद् वेद-विरुद्धे विषये स्मृत्य्-अनवकाश प्रसङ्गो न दोषः (ब्रह्मसूत्र २.१,१ और उस पर शाङ्करभाष्य)।

"अब अपने पक्ष में स्मृति और न्याय के विरोध का परिहार, प्रधान आदि कारणवादों की भ्रान्तिमूलकता, और उपनिषदों में उक्त सृष्टि आदि प्रक्रिया का अविरोध होने, इत्यादि, विषयों का प्रतिपादन करने के लिये दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इनमें से सर्वप्रथम स्मृति-विरोध का उपन्यास करके परिहार करते हैं। पूर्वपक्ष इस प्रकार है: सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत् का कारण है ऐसा जो पहले कहा जा चुका है वह युक्त नहीं है। कैसे? स्मृति के अनवकाश रूप दोष के प्रसङ्ग से। ऐसी अवस्था में परम ऋषि द्वारा निर्मित और शिष्ट पुरुषों द्वारा स्वीकृत कपिल स्मृति और तदनुसारिणी दूसरी स्मृतियाँ निरर्थक हो जायेंगी, क्योंकि उनमें अचेतन प्रधान को जगत् का स्वतंत्ररूप से कारण कहा गया है। प्रेरणात्मक लक्षण से युक्त अग्निहोत्रादि

---

[१५२] मीमासा सूत्र० १.१,३१। देखिये ऊपर पृ० ८५ भी।

[१५३] देखिये ऊपर, पृ० १८९, और इस ग्रन्थ का प्रथम भाग भी।

धर्मसमूह से अपेक्षित अर्थ का बोध करानेवाली मनु आदि स्मृतियाँ तो सार्थक हैं, क्योंकि वह यह बोध कराती हैं कि अमुक काल में अमुक विधान से उपनयन होता है, अमुक वर्ण का अमुक आचार, अमुक रीति से वेद का अध्ययन, समावर्त्तन, और विवाह होता है, तथा साथ ही साथ पुरुषार्थभूत नाना प्रकार के वर्णाश्रम धर्म का भी विधान करती हैं। कपिल आदि स्मृतियाँ इस प्रकार के अनुष्ठान-योग्य विषयों में सावकाश नहीं हैं, क्योंकि मोक्ष के साधन तत्वज्ञान के उद्देश्य से ही उनकी रचना हुई है। यदि उसमें भी वे अवकाश-रहित हों तो क्या वे निरर्थक नहीं हो जायेंगी? इसलिये जिस प्रकार उनके साथ विरोध न हो उसी प्रकार वेदान्तों का व्याख्यान करना चाहिये। परन्तु ईक्षण आदि हेतुओं से सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत का कारण है, ऐसे सुनिर्णीत श्रुति के अर्थ का स्मृति के अनवकाश रूप दोष के प्रसङ्ग से क्यों आक्षेप किया जाता है? जिनकी बुद्धि स्वतंत्र है उनके लिये यह आक्षेप नहीं है; परन्तु प्राय. मनुष्य परतन्त्र बुद्धि होते हैं इसलिये वह स्वतन्त्रतापूर्वक श्रुति के अर्थ का निर्णय नहीं कर सकते। अतः वे प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा रचित श्रुतियों का अवलम्बन करेंगे और उन्हीं के बल से श्रुति का अर्थ जानना चाहेंगे। साथ ही, स्मृतिकारों को आदर की दृष्टि से देखने के कारण हमारे व्याख्यानों पर विश्वास भी नहीं करेंगे। स्मृति कहती है कि कपिल आदि का ज्ञान अप्रतिहत और आर्ष[१५४] है। ऐसी श्रुति भी है कि 'जिसने आरम्भ में उत्पन्न हुये कपिल ऋषि को उत्पन्न होने के अनन्तर स्थितिकाल में ज्ञान देकर पुष्ट किया उस ईश्वर का दर्शन करना चाहिये'। ऐसी स्थिति में उनके मत को अयथार्थ कहना उपयुक्त नहीं है। और ये तर्क के अवलम्बन से अपना अर्थ स्थापन करते हैं, इसलिये भी स्मृति के बल से वेदान्तों का व्याख्यान करना चाहिये, ऐसा आक्षेप पुन' होता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर अन्य स्मृतियाँ निरर्थक हो जायेंगी। यदि सांख्य स्मृति की निरर्थकता के भय से ईश्वर के कारणवाद पर आक्षेप किया जाय तो 'ईश्वर जगत् का कारण है', ऐसा कहनेवाली अन्य स्मृतियाँ निरर्थक हो जायेंगी।" "कुछ स्थलों का उद्धरण देने के पश्चात् शङ्कर इस प्रकार कहते हैं: "इस प्रकार अनेक रीतियों से स्मृतियों में निमित्त और उपादन रूप से ईश्वर का वर्णन करते हैं। स्मृति-बल से विरोध करनेवालों को स्मृतिबल से ही उत्तर दूँगा ऐसा सोचकर अन्य स्मृतियों के अनवकाशरूप दोष का उपन्यास किया है। श्रुतियों का तात्पर्य ईश्वर कारणवाद है, यह दिखाया जा

---

[१५४] देखिये ऊपर पृष्ठ १२५, १२७, १३५-१३६।

चुका है। और स्मृतियों के विरोध में एक का ग्रहण और अन्य का त्याग करना आवश्यक कर्त्तव्य होने से श्रुति का अनुकरण करनेवाली स्मृतियाँ प्रमाण और अन्य स्मृतियाँ अप्रमाण है, क्योंकि प्रमाण-लक्षण में इस प्रकार कहा गया है: 'श्रुति के साथ विरोध होने पर तो स्मृति का प्रामाण्य त्याज्य है, किन्तु विरोध न होने पर उससे श्रुति का अनुमान होता है (मीमांसा सूत्र १.३, ३)।' श्रुति-प्रमाण को छोड़कर अन्य प्रमाणों से किसी को अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान हो सकता है ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि इसका कोई निमित्त नहीं है। अप्रतिहत ज्ञान होने के कारण कपिल आदि सिद्धों को अतीन्द्रियार्थक ज्ञान होता है, यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि सिद्धि भी सापेक्ष है। सिद्धि को धर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा होती है और वह धर्म-प्रेरणा-लक्षण है। इसलिये पूर्वसिद्ध प्रेरणा के अर्थ पर अनन्तर सिद्ध पुरुष के वचनबल से आक्षेप नहीं किया जा सकता। सिद्धों के वचन का आश्रय लेकर वेदार्थ की कल्पना में भी अनेक सिद्धों के होने से उक्त आधार पर स्मृतियों का विरोध होने पर श्रुति के अतिरिक्त अन्य कोई निर्णायक नहीं है। परतन्त्र-बुद्धि पुरुषों का भी अकस्मात् किसी विशेष स्मृति के प्रति पक्षपाती होना युक्त नहीं है क्योंकि किसी एक का किसी एक के प्रति पक्षपात होने पर पुरुष-बुद्धि वैचित्र से तत्व की अव्यवस्था हो जायगी। अतः स्मृतियों के विरोध का उपन्यास करके, यह स्मृति श्रुति का अनुसरण करती है, यह श्रुति का अनुसरण नहीं करती, इस प्रकार विवेचन करके उसकी भी बुद्धि को सन्मार्ग पर लाना चाहिये। कपिल का अतिशय ज्ञान दिखानेवाली जो श्रुति कही गई है उससे श्रुति-विरुद्ध कपिल-मत में श्रद्धा नहीं की जा सकती, क्योंकि सांख्य-प्रणेता कपिल और श्रुत्युक्त कपिल में केवल शब्द-सादृश्य है। और सगर के पुत्रों को भस्म करनेवाला वासुदेव नामक एक अन्य कपिल भी स्मृति में प्रसिद्ध है। अन्य प्रमाण से प्राप्त न होने वाले अन्यार्थ, जो अनुवाद हैं, स्वार्थ-साधक नहीं हो सकते।[१५५] मनु का माहात्म्य बतानेवाली एक

[१५५] इस प्रकार अनुचित शब्दो की गोविन्दान्द के भाष्य मे यह व्याख्या है: "किञ्च् 'य. कपिलम् ज्ञानैर् बिभर्त्ति तम् ईश्वरम् पश्येद्' इति विधीयते तथा च अन्यार्थस्य ईश्वर-प्रतिपत्ति-शेषस्य कपिल-सर्वज्ञत्वस्य दर्शनम् अनुवादस् तस्य मानान्तरेण प्राप्ति-शून्यस्य स्वार्थ-साधकत्वाय्योगाद् न अनुवाद-मात्राद् सर्वज्ञत्व-सिद्धिर् इत्य् आह।" अर्थात् "और यह कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद् मे): 'उस ईश्वर को देखो जो कपिल को विभिन्न प्रकार के ज्ञानो से पुष्ट करता है', और यत. कपिल की सर्वज्ञता से सम्बद्ध अनुवाद का

दूसरी श्रुति इस प्रकार है : 'जो कुछ मनु ने कहा है वह औषध है'[१५६]। और ऐसा प्रतीत होता है कि, 'सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को देखनेवाला आत्मयाजी स्वराज्य को प्राप्त करता है', इस प्रकार आत्मा को ही सर्वरूप समझनेवाले की प्रशंसा करते हुये मनु ने कपिल के मत की निन्दा की है। आत्मा सर्वरूप है, इस दर्शन में कपिल की अनुमति नहीं है, क्योंकि वह आत्मा का भेद स्वीकार करते हैं।"…कपिल को गलत सिद्ध करने के लिये महाभारत के एक और वेद के एक स्थल का उद्धरण देने के बाद शङ्कर इस प्रकार कहते हैं : "उससे यह सिद्ध होता है कि केवल स्वतंत्र प्रधान की कल्पना से ही नहीं वरन् आत्म-भेद की कल्पना से भी कपिल-तंत्र वेद-विरुद्ध और वेदानुसारी मनु-वचन से विरुद्ध है, क्योंकि जैसे रवि का रूप के विषय निरपेक्ष प्रामाण्य है, वैसे ही अपने अर्थ में वेद का प्रामाण्य भी निरपेक्ष है। और पुरुष वचनों का प्रामाण्य अन्य मूल की अपेक्षा रखता है तथा उसमें वक्ता की अर्थ-स्मृति का व्यवधान होता है, जिससे दोनों में अत्यन्त भेद है। इसलिये, वेद-विरुद्ध विषय में स्मृति का अनवकाश-प्रसङ्ग दोष नहीं है।"

देखिये तैत्तिरीय उपनिषद् पर शाङ्करभाष्य, जहाँ इस प्रकार कहा गया है:

कापिल-काणादादि-तर्क-शास्त्र-विरोधः इति चेत्। न। तेपाम् मूलाभावे वेदविरोधे च भ्रान्त्योपपत्तेः (तैत्तिरीय उपनिषद् २.१०, ४ पर शाङ्करभाष्य)।

"यदि ऐसी आपत्ति की जाय कि यह कपिल और कणाद आदि के तर्क-शास्त्र के विरुद्ध है, तो मैं कहूँगा कि ऐसा नहीं है, क्योंकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि इन लोगों का यह शास्त्र भ्रान्तिपूर्ण, निराधार और वेद-विरोधी है।"

प्रश्न उपनिषद् पर शाङ्करभाष्य में, जिसको नीचे उद्धृत किया जा रहा है, उस भर्त्सनात्मक पद्धति का उदाहरण मिलता है, जो नास्तिक सांख्यों के प्रति आस्तिक वेदान्तियों का दृष्टिकोण है :

यह सदर्भ, जिसका एक भिन्न उद्देश्य है तथा जो ईश्वर का प्रतिपादन करता है, और जिसे अन्य आधारो पर निरर्थक सिद्ध किया जा चुका है, स्वयं अपने अर्थ को सिद्ध नही कर सकता—केवल यह सन्दर्भ मात्र कपिल की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है। शङ्कर का यही तात्पर्य है।"

[१५६]-देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग।

सांख्यास् तु अविद्या-ऽध्यारोपितम् एव पुरुषे कर्तृत्वं क्रिया-कारकम् फलं च इति कल्पयित्वा आगम-बाह्यत्वात् पुनस् ततस् त्रस्यन्तः परमार्थतः एव भोक्तृत्वम् पुरुषस्य इच्छन्ति। तत्त्वान्तरं च प्रधानम् पुरुषात् परमार्थ-वस्तु-भूतम् एव कल्पयन्तोऽन्य-तार्किक-कृत-बुद्धि-विषयाः सन्तो विहन्यन्ते। तथा इतरे तार्किकाः सांख्यैर् इत्य् एवम् परस्पर-विरुद्धार्थ कल्पनातः आमिषार्थिनः इव प्राणिनोऽन्योन्यं विरुद्धमानाः अर्थ-दर्शित्वात् परमार्थ-तत्त्वात् तद्-दूरम् एव अपकृष्यन्ते। अतस् तन्-मतम् अनादृत्य वेदान्तार्थ-तत्त्वम् एकत्व-दर्शनम् प्रति आदरवन्तो मुमुक्षवः स्युर् इति तार्किक-मते दोष-दर्शनं किञ्चिद् उच्यतेऽस्माभिर् न तु तार्किक-तात्पर्य्येण (प्रश्न उपनिषद् ६.३ पर शाङ्कर भाष्य)।

"सांख्यों का विचार है कि कर्त्तृत्व और क्रिया और कारक के फल अविद्या के कारण ही पुरुष पर अध्यारोपित हो गये हैं, किन्तु आगम-बाह्य होने के कारण वह इससे भयभीत होकर पुरुष को वास्तविक भोक्ता मान बैठे हैं। तथापि प्रधान को पुरुष से भिन्न तत्वान्तरभूत परमार्थ वस्तु मान लेने के कारण अन्य तार्किकों की बुद्धि के विषय होकर अपने सिद्धान्तों से च्युत कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे तार्किक, सांख्य-वादियों से परास्त हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ की कल्पना कर मांस-लोलुप प्राणियों के समान परस्पर विरोधी अर्थ को ही देखने के कारण ये परमार्थ तत्व से दूर हटा दिये जाते हैं। अतः मुमुक्षु लोग इनके मत का अनादर करके वेदान्त के तात्पर्यार्थक एकत्व दर्शन के प्रति आदरयुक्त हों, इसलिए हमने तार्किकों के मत के किंचित् दोष प्रदर्शित किये हैं; उनके तार्किक तात्पर्य के अनुसार हमने कुछ नहीं कहा है।"

४—कपिल की इस प्रकार भर्त्सना करते हुए शङ्कर का मत भागवत पुराण (जो शङ्कर के बाद की कृति हो सकता है[१५७]) के प्रत्यक्ष विरुद्ध है, जहाँ सांख्य-सूत्रकार का अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख है। इसीलिये भागवत पुराण में कपिल को विष्णु का पञ्चम अवतार कहा गया है:

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः काल-विप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्व-ग्राम-विनिर्णयम् (भागवत पुराण १.३, १०)।

"अपने पाँचवें अवतार में सिद्धेश कपिल के रूप में उन्होंने तत्वों का निर्णय करनेवाले काल-विप्लुत सांख्य का आसुरि के सम्मुख प्रवचन किया।"

---

[१५७] देखिये विलसनः विष्णुपुराण, भूमिका, पृष्ठ xliv, और li।

और भागवत पुराण ९.८, १२-१३ में कपिल की पुनः प्रशस्ति की गई है। यहाँ यह कथा आती है कि राजा सगर के साठ हजार पुत्रों ने कपिल को अपने यज्ञाश्व का चोर समझ कर जब उनका वध करना चाहा तब कपिल ने अपने शरीर मे प्रगट अग्नि के द्वारा उन सबको भस्म कर दिया। फिर भी, पुराणकार यह कहता है कि किसी विकार के कारण ऋषि ने ऐसा नहीं किया था :

न साधु-वादो मुनि-कोप-भर्जिताः नृपेन्द्र-पुत्राः इति सत्त्व-धामनि। कथं तमो रोषमयं विभाव्यते जगत्-पवित्रात्मनि खे रजो भुवः। यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर् यया मुमुक्षुस् तरते दुरत्ययम्। भवार्णवम् मृत्यु-पथं विपश्चितः परात्म-भूतस्य कथम् पृथङ्मतिः (भागवत पुराण ९.८, १३-१४)।

"यह कहना साधुवाद नहीं है कि कपिल मुनि के कोप से राजा के पुत्र भस्म हो गये, क्योंकि वह (कपिल) तो शुद्ध सत्व गुण के परम आश्रय हैं। उनका शरीर जगत् को पवित्र करता है, अतः उनमें क्रोधरूप तमोगुण की सम्भावना कैसे हो सकती है—क्या कहीं पृथ्वी की धूल का भी आकाश से सम्बन्ध हो सकता है? यह संसार-सागर एक मृत्यु-पथ है, जिसके पार जाना अत्यन्त कठिन है। परन्तु परमज्ञानी ही नहीं वरन् स्वयं परमात्मारूपी कपिल मुनि ने इस जगत् में सांख्य-शास्त्र की एक ऐसी दृढ नौका बना दी है, जिससे मुक्ति की इच्छा रखनेवाला कोई भी व्यक्ति उस समुद्र के पार जा सकता है। अतः ऐसे मुनि में शत्रु और मित्र की भेदबुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है?"

मेरे लिये सांख्यकार की प्रशसा करनेवाले और अधिक स्थलों का उद्धरण देना आवश्यक नहीं। इस पद्धति के सम्बन्ध में महाभारत के शान्तिपर्व के ३०० और उसके बाद के अध्यायों में बहुत कुछ कहा गया है। देखिये कोल० मिस० ए०, १.२२६; विलसनः विष्णुपुराण, भूमिका, पृ० xciv, १८ और बाद; भागवत पुराण ३.२४-३०, वेबर : इण्डिशे स्टूडियन में सर्वत्र, श्वेताश्वतर उपनिषद्, बिब० इ० १५.३५ और बाद में डा० रूअर की प्रस्तावना; और सांख्यसार के बिब० इ० संस्करण में डा० हॉल की भूमिका के पृ० १९ पर टिप्पणी।

इस प्रकार हम देख चुके कि भारत के सर्वाधिक यथातथ्य और आलोचनात्मक लेखकों ने श्रुति, जिन्हें वे स्वतंत्र और अपौरुषेय मानते हैं, और स्मृति, जिसे वे पौरुषेय और अपने प्रामाण्य के लिये श्रुति पर आधारित

मानते हैं, के बीच एक स्पष्ट विभेदात्मक रेखा खींची है। वास्तव में शङ्कर ने, जैसा कि हम देख भी चुके हैं, यदि सर्वथा नहीं तो भी बहुत कुछ स्मृतियों को एक स्वतंत्र आधार प्रदान करने का प्रयास किया है। किन्तु उन्होंने केवल ऐसी ही स्मृतियों को इस प्रकार सिद्ध किया है, जो उनके वेदान्तिक व्याख्या के अनुसार ही श्रुत्यानुकूल हैं ; जबकि उन्होंने अन्य को शास्त्र-विरुद्ध माना है। फिर भी, श्वेताश्वतर उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता, विष्णु और भागवत आदि पुराणों से यह स्पष्ट है कि सांख्य-सिद्धान्त प्राचीन काल में अत्यन्त प्रचलित रहे होंगे, और यह कि जब शङ्कर ने इन सिद्धान्तों को भ्रान्तिमूलक सिद्ध करने का प्रयास किया होगा, तब उन्हें अत्यन्त शक्तिशाली विपक्षियों का सामना करना पड़ा होगा।[१५८]

---

१५८ मैं डा० रूअर की श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रस्तावना (पृ० २६ और बाद) से निम्नस्थल उद्धृत कर रहा हूँ : "श्वेताश्वर उपनिषद् की रचना के समय साख्य एक नवीन पद्धति नही थी। इस समय इसे प्राचीन धारणाओ तथा ऐसे सत्तासम्पन्न व्यक्तियो की पूर्व-धारणाओ पर विजय प्राप्त करना पडा, जो उनके अपने अधिकार पर शङ्का प्रगट करनेवाले किसी भी सिद्धान्त के विरोधी थे। फिर भी, उसके अनेक अनुयायी बने ; इसके सिद्धान्तो को मनु तथा महाभारत के कुछ अंशो मे ग्रहण किया गया था, तथा इसके संस्थापक को सर्वसम्मति से दिव्य गौरव प्रदान किया गया है। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसके तर्कशास्त्रीय अंश आदर की अपेक्षा रखते थे ; और अनेक वेदविद् ब्राह्मणो द्वारा स्वीकृत होने के कारण इसे नास्तिक नही कहा जा सकता। अत्यन्त प्रसिद्ध और विद्वान् ब्राह्मण साख्य और वेदान्त की सत्यता के सम्बन्ध मे परस्पर मतभेद रखते थे, और इसी तथ्य ने वैदिक पद्धति के विरोधियो को स्वयं वेदो पर आक्षेप करने का प्रभावशाली अस्त्र प्रदान किया होगा। साख्य और वेदान्त दोनो मे ही दिव्य तथ्य है, अत: दोनो ही सत्य होने चाहियें ; किन्तु यदि एक का सिद्धान्त सत्य है तो दूसरे का असत्य, क्योंकि यह दोनो परस्पर विरोधी तथ्यों से परिपूर्ण हैं। हैं। यदि दोनो ही वेद से उत्पन्न हुये हैं, जो यह प्रत्यक्ष सत्य है, तो उक्त वाद का मत सत्य को व्यक्त नही कर सकता, क्योकि ऐसी दशा मे दोनो ही एक ही विषय पर परस्पर विरोधी मत का प्रतिपादन करते हुये प्रतीत होंगे। वेद के प्रति इस प्रकार की आपत्तियाँ प्राचीन काल मे भी की जा चुकी थी, यह उपनिषदो, मनु के अनेक स्थलो, और यास्क इत्यादि द्वारा स्पष्ट है। ऐसी दशा मे वेद की ईश्वर-वाक्य के रूप मे, उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये, वेदान्त और साख्य के सिद्धान्तो मे सामञ्जस्य स्थापित करने के आरम्भिक प्रयास

मेरे लिये इस बात का अनुसन्धान करना बहुत आवश्यक नहीं है कि पूर्वकाल में विभिन्न दर्शनों का परस्पर क्या सम्बन्ध था। यही कह देना पर्याप्त है कि वेदान्त, सांख्य, न्याय, आदि, के अत्यन्त कट्टर अनुयायियों ने, जैसा कि देखने से प्रतीत होता है, अत्यन्त तत्परता और तार्किकता के साथ अपनी-अपनी पद्धतियों की रक्षा की है और यह स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं कि कोई भी प्रतिद्वन्द्वी मत उनके मत से श्रेष्ठ है। विभिन्न सम्प्रदायों के सूत्रों का अध्ययन करना और निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है। दूसरी ओर, पुराणों की अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय पद्धतियों में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का एक साथ सम्श्लेषण मिलता है। आधुनिक काल में वेदान्त की आस्तिकता को अपेक्षाकृत अधिक स्वीकार किया गया है। फिर भी, ऐसा मत रखनेवाले कुछ लोग अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों को नास्तिक सिद्ध करने में शङ्कर का अनुसरण नहीं करते। इसके विपरीत ऐसे लोग यह मानते हैं कि अन्य दर्शनों के संस्थापक सिद्ध मुनियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का विभिन्न प्रकार के विद्यार्थियों की क्षमता और प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखकर इस प्रकार परिमार्जन किया है, जिसने ही अन्ततोगत्वा वेदान्त के स्वागत का मार्ग प्रशस्त किया। मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थान-भेद में यही दृष्टिकोण मिलता है, जहाँ विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रमुख सिद्धान्तों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

सर्वेपा च संक्षेपेण त्रिविधः एव प्रस्थान-भेदः। तत्र आरम्भ-वादः एकः। परिणाम वादो द्वितीयः। विवर्त्त-वादस् तृतीयः। पार्थिवाप्य-तैजस-वायवीयश् चतुर्विधाः परमाणवो द्व्य्-अणुकादि क्रमेण ब्रह्माण्ड-पर्यन्तं जगद् आरम्भन्ते। असद् एव कार्य्यं कारक-व्यापाराद् उत्पद्यते इति प्रथमस् तार्किकाणाम् मीमांसकाना च। सत्त्व-रजस्-तमो-गुणात्मकम् प्रधानम् एव महद्-अहङ्कारादि-क्रमेण जगद्-आकारण परिणमते। पूर्वम् अपि सूक्ष्म-रूपेण सद् एव कार्यं कारण-व्यापारेण अभिव्यज्यते इति द्वितीयः पक्षः सांख्य-योग-पातञ्जल-पाशुपतानाम्। ब्रह्मण' परिणामो जगद् इति वैष्णवानाम्। स्व प्रकाश-परमानन्दाद्वितीयम् ब्रह्म स्व-माया-

आश्चर्यजनक नहीं हैं। उदाहरण के लिये, ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्रख्यात ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने पातञ्जलि के योगसूत्र पर भी एक भाष्य लिखा जो आज भी उनके नाम से प्रचलित है। और इसी प्रकार शङ्कर के गुरु गोविन्द के भी गुरु प्रसिद्ध वेदान्ती गौडपाद ने ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका पर भाष्य लिखा; और भगवद्गीता का भी यही उद्देश्य है।"

वशाद् मिथ्यैव जगद्-आकारेण कल्पते इति तृतीयः पक्षो ब्रह्म-वादिनाम्। सर्वेषाम् प्रस्थान-कर्त्तृणाम् मुनीनां विवर्त्त-वाद-पर्यवसानेन अद्वितीये परमेश्वरे एव प्रतिपाद्ये तात्पर्यम्। न हि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात् तेषाम्। किन्तु वहिर्-विषय-प्रवणानाम् आपाततः पुरुषार्थे प्रवेशो न सम्भवति इति नास्तिक्य वारणाय तैः प्रकार-भेदाः प्रदर्शिताः। तत्र तेषां तात्पर्यम् अबुद्ध्वा वेद-विरुद्धेऽप्य् अर्थे तात्पर्यम् उत्प्रेक्षमाणास् तन्-मतम् एव उपादेयत्वेन गृह्णन्तो जनाः नाना-पथ-जुषो भवन्ति। इति सर्वम् अनवद्यम् (वेबरः इन्डिशे स्टूडियन १.२३)।

"इन विभिन्न सम्प्रदायों के विभेद को यदि हम संक्षेप में व्यक्त करना चाहें तो उसे त्रिविध कह सकते हैं। प्रथम सिद्धान्त आरम्भवाद से सम्बन्धित है। दूसरा परिणामवाद है, और तीसरा विवर्त्तवाद। चार प्रकार के परमाणु—पार्थिव, जलीय, तैजस, और वायवीय—जिनका आरम्भ दो परमाणुओं के योग से हुआ है, और जो ब्रह्माण्डपर्यन्त रहते हैं, जगत् के आरम्भ के कारण हैं: इस प्रकार कार्य-कारक के व्यापार से पहले जो असत् था, उसकी उत्पत्ति होती है। यह प्रथम सिद्धान्त है जो तर्किकों और मीमांसकों का है। दूसरा सिद्धान्त सांख्यों, योगवादियों, पातञ्जलों, और पाशुपतों का है जिसके अनुसार सत्त्व, रजस्, और तमस् से युक्त 'प्रधान' (अथवा 'प्रकृति') की ही महत्, और अहंकार आदि क्रम से जगत् के आकार में परिणति होती है: इस प्रकार जो पहले केवल सूक्ष्मरूप में था वही कार्यकारण व्यापार से अभिव्यञ्जित होता है। इस सिद्धान्त का एक दूसरा रूप वैष्णवों (रामानुजों) का है जो विश्व को ब्रह्म से उत्पन्न मानते हैं। तीसरा सिद्धान्त ब्रह्मवादियों (वेदान्तियों) का है जिसके अनुसार स्वप्रकाश, परमानन्द, और अद्वितीय ब्रह्म स्वयं अपनी माया से ही मिथ्या रूप में जगत् का आकार ग्रहण कर लेता है।

इन विभिन्न पद्धतियों के प्रवर्तक, समस्त मुनियों का चरम लक्ष्य विवर्त्तवाद का प्रवर्तन और उनका एकमात्र उद्देश्य एकमात्र परमेश्वर का प्रतिपादन करना है। ये मुनिगण भ्रान्त नहीं हैं (यद्यपि इनमें से कुछ ऐसे रहे हो सकते हैं जो परस्पर सहमत नहीं थे, अथवा ऐसे भी जो वेदान्त के सिद्धान्तों को नहीं मानते थे) क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। किन्तु यह देखकर कि मनुष्यगण वहिर्विषयों की सिद्धि में लिप्त होने के कारण एक साथ ही पुरुषार्थ में प्रवेश नहीं पा सकते, इन लोगों ने इसलिये अनेक सिद्धान्तों की रचना की कि मनुष्यगण नास्तिक न हो जाँय। मुनियों के इस तात्पर्य का मिथ्या ग्रहण करके और उन्हें वेद-विरुद्ध बातों का प्रवर्त्तक मानकर मनुष्यों ने इन विभिन्न मतों को

अपनी-अपनी उपयोगिता के अनुसार ग्रहण कर लिया है, और इस प्रकार नाना प्रकार की पद्धतियों के अनुयायी हो गये हैं। इस प्रकार सब कुछ संक्षेपरूप से व्यक्त किया गया।"

मैंने यह देखा है कि सांख्यसूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का भी बहुत कुछ यही दृष्टिकोण है, जिसे मैं यहाँ मधुसूदन सरस्वती से उद्धृत कर रहा हूँ। यह मत ब्रह्म मीमांसा अथवा वेदान्त को अन्य दर्शनों से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करता है :

अपने सांख्य प्रवचन भाष्य (बिब० इ०, पृ० ३ और बाद) में इन्होंने इस प्रकार लिखा है :

स्याद् एतत्। न्याय-वैशेषिकाभ्याम् अत्र अविरोधो भवतु। ब्रह्म-मीमासा-योगाभ्यां तु विरोधोऽस्त्य् एव। ताभ्यां नित्येश्वर-साधनात्। अत्र च ईश्वरस्य प्रतिषिद्धयमानत्वात्। न च अत्रापि व्यावहारिक-पारमार्थिक-भेदेन सेश्वर-निरीश्वर-वादयोर् विरोधोऽस्तु सेश्वर-वादस्य उपासना-परत्व-सम्भवाद इति वाच्यम्। विनिगमकाभावात्। ईश्वरो हि दुर्ज्ञेयः इति निरीश्वरत्वम् अपि लोक व्यवहार-सिद्धम् ऐश्वर्य्य-वैराग्याय अनुवदितुं शक्यते आत्मनः सगुणत्वम् इव। न तु क्वापि श्रुत्य्-आदाव् ईश्वरः स्फुटम् प्रतिषिद्धयते येन सेश्वर-वादस्यैव व्यावहारिकत्वम् अवधार्येत इति। अत्र उच्यते। अत्रापि व्यावहारिक-पारमार्थिक-भावो भवति। "असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुर् अनीश्वरम्" इत्यादि-शास्त्रैर् निरीश्वर-वादस्य निन्दितत्वात्। अस्मिन्न् एव शास्त्रे व्यावहारिकस्यैव प्रतिषेधस्य ऐश्वर्य्य-वैराग्याद्य्-अर्थम् अनुवादत्वौचित्यात्। यदि हि लौकायतिक-मतानुसारेण नित्यैश्वर्य्यं न प्रतिषिध्येत तदा परिपूर्ण-नित्य-निर्दोषैश्वर्य्य-दर्शनेन तत्र चित्तावेशतो विवेकाभ्यास-प्रतिबन्धः स्याद् इति सान्ख्याचार्य्याणाम् आशयः। सेश्वर-वादस्य न क्वापि निन्दादिकम् अस्ति येन उपासनादि-परतया तत् शास्त्रं सकोच्येत। यत् तु "नास्ति सांख्य-समं ज्ञानं नास्ति योग-समम् बलम्। अत्र वः संशयो मा भूज् ज्ञान सांख्यम् परम् स्मृतम्" इत्यादि वाक्यम् तद्-विवेकांशे एव साख्य ज्ञानस्य दर्शनान्तरेभ्यः उत्कर्षम् प्रतिपादयति न त्व् ईश्वर-प्रतिषेधांशेऽपि। तथा पराशराद्य्-अखिल-शिष्ट-संवादाद् अपि सेश्वर-वादस्यैव पारमार्थिकत्वम् अवधार्यते। अपि च "अक्षपाद-प्रणीते च काणादे साख्य-योगयोः। त्याज्यः श्रुति विरुधोऽशः श्रुत्य्-एक-शरणैर् नृभिः। जैमिनीये च वैयासे विरुधांशो न कश्चन। श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुति-पारं गतौ हि ताव्" इति पराशरोपपुराणादिभ्योऽपि ब्रह्म-मीमांसायाः ईश्वरांशे

बलवत्त्वम् । यथा । "न्याय-तन्त्राण्य् अनेकानि तैस् तैर् उक्तानि वादिभिः । हेत्व्-आगम-सदाचारैर् यद् युक्तं तद् उपास्यताम्" इति मोक्ष-धर्म-वाक्याद् अपि पराशराद्य्-अखिल-शिष्ट-व्यवहारेण ब्रह्म-मीमासा-न्याय-वैशेषिकाद्य्-उक्तः ईश्वर-साधक-न्यायः एव ग्राह्यो बलवत्त्वात् । तथा । "यं न पश्यन्ति योगीन्द्राः सांख्या अपि महेश्वरम् । अनादि-निधनम् ब्रह्म तम् एव शरणं व्रज" इत्यादि-कौर्मादि-वाक्यैः सान्ख्यानाम् ईश्वराज्ञानस्यैव नारायणादिना प्रोक्तत्वाच् च । किञ्च ब्रह्म-मीमांसायाः ईश्वरः एव मुख्यो विषयः उपक्रमादिभिर् अवधृतः । तत्रांशे तस्य बाधे शास्त्रस्यैव अप्रामाण्यं स्यात् । "यत्-परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात् । सांख्य-शास्त्रस्य तु पुरुषार्थ-तत्-साधन-प्रकृति-पुरुष-विवेकाव् एव मुख्यो विषयः । इति ईश्वर-प्रतिषेधांश-बाधेऽपि न अप्रामाण्यम् । "यत्-परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात् । अतः सावकाशतया सांख्यम् एव ईश्वर-प्रतिषेधांशे दुर्बलम् इति । न च ब्रह्म-मीमांसायाम् अपि ईश्वर एव मुख्यो विषयो न तु नित्यैश्वर्यम् इति वक्तुं शक्यते । "स्मृत्य्-अनवकाश-दोष-प्रसङ्ग"–रूप-पूर्व-पक्षस्य अनुपपत्त्या नित्यैश्वर्य्य विशिष्टत्वेन एव ब्रह्म-मीमांसा-विषयत्वावधारणात् । ब्रह्म-शब्दस्य पर-ब्रह्मण्य् एव मुख्यतया तु "अथातः पर-ब्रह्म-जिज्ञासा" इति न सूत्रितम् इति । एतेन सांख्य-विरोधाद् ब्रह्म-योग-दर्शनयोः कार्य्येश्वर-परत्वम् अपि न शान्कनीयम् । प्रकृति-स्वातन्त्र्यापत्त्या "रचनानुपपत्तेश् च न अनुमानम्" इत्यादि ब्रह्म-सूत्र-परम्परा-ऽनुपपत्तेश् च । तथा "स पूर्वेषाम् अपि गुरुः कालेन अनवच्छेदाद्" इति योग-सूत्र-तदीय-व्यास-भाष्याभ्या स्फुटम् ईशनित्यतावगमाच् च इति । तस्माद् अभ्युपगम-वादप्रौढि-वादादिना एव सांख्यस्य व्यावहारिकेश्वर-प्रतिषेध-परतया ब्रह्म-मीमांसा-योगाभ्यां सह न विरोधः । अभ्युपगम-वादश् च शास्त्रे दृष्टः । यथा विष्णु-पुराणे (१.१७,५४) । "एते भिन्न-दृशां दैत्याः विकल्पाः कथिताः मया । कृत्वाऽभ्युपगमं तत्र सन्क्षेपः श्रूयताम् मम" । इति । अस्तु वा पापिनां ज्ञान-प्रतिबन्धार्थम् आस्तिक-दर्शनेष्व् अप्य् अंशतः श्रुति-विरुद्धार्थ-व्यवस्थापनं तेषु तेष्व् अशेष्व् अप्रमाण्यं च । श्रुति-स्मृत्य्-अविरुद्धेषु तु मुख्य-विषयेषु प्रामाण्यम् अस्त्य् एव । अतः एव पद्म-पुराणे ब्रह्म-योग-दर्शनातिरिक्तानां दर्शनानाम् निन्दाऽप्य् उपपद्यते । यथा तत्र पार्वतीम् प्रति ईश्वर-वाक्यम् । "शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथा-क्रमम् । येषां श्रवण-मात्रेण पातित्यं ज्ञानिनाम् अपि । प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवम् पाशुपतादिकम् । मच्-छक्त्य्-आवेशितैर् विप्रैः सम्प्रोक्तानि ततः परम् ।

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकम् महत्। गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै। द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः। निरीश्वरेण वादेन कृतम् शास्त्रम् महत्तरम्। धिपणेन तथा प्रोक्तम् चार्वाकम् अति-गर्हितम्। दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्ध-रूपिणा। बौद्ध-शास्त्रम् असत् प्रोक्तं नग्न-नील पटादिकम्। माया-वादम् असच्-छास्त्रम् प्रच्छन्नम् बौद्धम् एव च। मयैव कथितम् देवि कलौ ब्राह्मण-रूपिणा। अपार्थं श्रुति-वाक्यानां दर्शयत् लोक-गर्हितम्। कर्म-स्वरूप-त्याज्यत्वम् अत्र च प्रति-पाद्यते। सर्व-कर्म-परिभ्रंशाद् नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते। परात्म-जीवयोर् ऐक्यम् मयाऽत्र प्रतिपाद्यते। ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितम् मया। सर्वस्य जगतोऽप्य् अस्य नाशनार्थं कलौ युगे। वेदार्थवद् महाशास्त्रम् माया-वादम् अवैदिकम्। मयैव कथितं देवि जगतां नाश-कारणाद्" इति। अधिकं तु ब्रह्म-मीमांसा-भाष्ये-प्रपञ्चितम् अस्माभिर् इति। तस्माद् आस्तिक-शास्त्रस्य न कस्याप्य् अप्रामाण्यं विरोधो वा स्व-स्व-विषयेषु सर्वेषाम् अबाधात् अविरोधाच् च इति। नन्व् एवम् पुरुष-बहुत्वांशेऽप्य् अस्य शास्त्रस्य अभ्युपगम-वादत्व स्यात्। न स्यात्। अविरोधात्। ब्रह्म-मीमांसायाम् अप्य् "अंशो नाना-व्यपदेशाद्" इत्यादि-सूत्र-जातैर् जीवात्मा-बहुत्वस्यैव निर्णयात्। सान्ख्य-सिद्ध-पुरुषाणाम् आत्मत्वं तु ब्रह्म-मीमांसया बाध्यते एव। "आत्मा इति तु उपयन्ति" इति तत्-सूत्रेण परमात्मनः एव परमार्थ-भूमाव् आत्मत्वावधारणात्। तथापि च सांख्यस्य न अप्रामाण्यम्। व्यावहारिकात्मनो जीवस्य इतर-विवेक-ज्ञानस्य मोक्ष-साधनत्वे विवक्षितार्थे बाधाभावात्। एतेन श्रुति-स्मृति-प्रसिद्धयोर् नानात्मैकात्मत्वयोर् व्यावहारिक-पारमार्थिक-भेदेन अविरोधः (सांख्यप्रवचन भाष्य)।

"ऐसा ही हो : न्याय और वैशेषिक में यहाँ कोई विरोध न माना जाय, किन्तु यह कहा जायगा कि ब्रह्म-मीमांसा (वेदान्त) और योग (पतञ्जलि का) के साथ सांख्य का वास्तविक विरोध है क्योंकि ये दोनों मत एक नित्य ईश्वर को मानते हैं जबकि सांख्य ऐसे ईश्वर को अस्वीकार करता है। (और उन्हीं लोगों का कथन है) ऐसा नहीं कहना चाहिये कि यहाँ भी (जैसा कि न्याय और वैशेषिक की दशा में था) व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद के कारण ईश्वर और निरीश्वरवाद के बीच कोई विरोध नहीं है क्योंकि ईश्वरवाद का तात्पर्य सम्भवतः केवल उपासना-परत्व है (और इसलिये व्यावहारिकता के अतिरिक्त इसका और कोई तात्पर्य नहीं है)। फिर भी, यह कहा जा सकता है कि आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कोई

आधार नहीं है। ईश्वर के दुर्ज्ञेय होने के कारण ही ऐश्वर्य्य-वैराग्य के उद्देश्य से उसी प्रकार लोक-व्यवहार पर आधारित निरीश्वरवाद के सिद्धान्त का अनुस्मरण किया जा सकता है जिस प्रकार यह कहा गया है कि आत्मा सगुण है। किन्तु वेद अथवा अन्य किसी भी शास्त्र में ईश्वर की अस्वीकृति नहीं है, क्योंकि इनमें केवल ईश्वरवाद की व्यावहारिकता को दिखाया जा सकता है। (फलस्वरूप ईश्वरवादी सिद्धान्त केवल व्यावहारिक मात्र नहीं, वरन् सत्य भी है और निरीश्वरवादी सांख्य तथा ईश्वरवादी पद्धतियों का विरोध वास्तविक और अपरिहार्य है)।

"इसका हम यह उत्तर देते हैं: इस दशा में भी व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद वर्त्तमान है। क्योंकि यद्यपि 'वह ईश्वर-विहीन जगत् को असत्य और अप्रतिष्ठित मानते हैं,' इत्यादि शास्त्रों के द्वारा निरीश्वरवादी सिद्धान्त की निन्दा की गई है, तथापि इस मत (सांख्य) में केवल ऐश्वर्य्य वैराग्य आदि को उत्पन्न करने के लिये व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर की अस्वीकृति का प्रतिपादन करना उचित था क्योंकि सांख्यकार का आशय यह है कि यदि लौकायतिकों के मतानुसार नित्यैश्वर्य्यत्व का प्रतिषेध न किया जाता तो मनुष्यगण एक परिपूर्ण, नित्य, और निर्दोष ईश्वर की उपासना तथा उस पर अपने चित्त को केन्द्रित करने और विवेकाभ्यास से वंचित रह जाते। किन्तु किसी भी कृति में ईश्वरवाद की निन्दा नहीं मिलती, जहाँ यह कहा गया हो कि यह मत केवल उपासना इत्यादि तक ही सीमित है। और, 'सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है, योग के समान कोई बल नहीं है; साख्यों के ज्ञान को परमश्रेष्ठ माना गया है इस पर शंका नहीं करनी चाहिये', इत्यादि वाक्यों के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि यह ईश्वर का प्रतिषेध नहीं वरन् विवेक के प्रतिपादन करने की दृष्टि से ही अन्य दर्शनों की अपेक्षा सांख्य की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं। साथ ही साथ, पराशर तथा अन्य अखिल शिष्ट व्यक्तियों की सहमति द्वारा यह सिद्ध है कि ईश्वरवादी सिद्धान्त वही है जो पारमार्थिकत्व को व्यक्त करता है। और पराशर उपपुराण तथा अन्य ऐसी ही कृतियों का निम्न स्थल यह दिखाता है कि ब्रह्म-मीमासा की शक्ति उसके ईश्वरवाद में ही निहित है: 'अक्षपाद (गोतम) और कणाद के मतों, तथा साख्य, और योग के मतों के वेद-विरोधी अशों को, वेद को ही एकमात्र प्रमाण माननेवाले व्यक्तियों को अस्वीकृत कर देना चाहिये। जैमिनि और व्यास (वेदान्त) के मतों में कोई भी अंश वेद-विरुद्ध नहीं है, क्योंकि इन दोनों ऋषियों ने वेदार्थ का पूर्णज्ञान प्राप्त किया था।' इसी प्रकार मोक्षधर्म (महाभारत के

शान्ति पर्व का एक अवान्तर पर्व) के इस उद्धरण द्वारा कि 'विभिन्न लेखकों ने न्याय और तन्त्र की अनेक पद्धतियों को व्यक्त किया है; इनमें से जो हेतु, आगम, और सदाचार पर आधारित है उसका आदर करना चाहिए,' यह प्रतिपादित होता है कि पराशर तथा अन्य शिष्ट व्यक्तियों के मतानुसारी ब्रह्म-मीमांसा, न्याय, और वैशेषिक इत्यादि केवल ईश्वरवादी सिद्धान्तों को ही इनकी शक्ति के कारण ग्रहण करना चाहिये। और इस तथ्य द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि ऐसे स्थलों, जैसे कूर्मपुराण के इस स्थल पर, 'उस महेश्वर, अनादि ब्रह्म की शरण में जाओ जिसे योगीन्द्र और सांख्य नहीं देखते,' नारायण (विष्णु) इत्यादि ने यह कहा है कि सांख्यों को ईश्वर का ज्ञान नहीं है।

"इसके अतिरिक्त, ब्रह्म-मीमांसा के उपक्रम में ही ईश्वर को मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना गया है। यदि इसके मुख्य विषय पर ही आपत्ति की जाय तो यह समस्त पद्धति प्रामाण्य-रहित हो जायगी। क्योंकि नियम यह है कि 'किसी शब्द का अर्थ वही होता है जिसे व्यक्त करना उस शब्द का प्रयोजन होता है'। जब कि सांख्यों का मुख्य विषय (१) पुरुषार्थ साधना, और (२) इसके साधन-स्वरूप पुरुष और प्रकृति का विवेक है। अतः ईश्वर का प्रतिषेध करने पर भी यह मत प्रामाण्य-रहित नहीं है क्योंकि यह नियम है कि 'किसी शब्द का अर्थ वही होता है जिसे व्यक्त करना उस शब्द का प्रयोजन होता है'। अतः सांख्य का अपना एक विशेष प्रयोजन है, और यह केवल ईश्वर-प्रतिषेध की दृष्टि से ही दुर्बल है।

"और न यही आक्षेप किया जा सकता है कि ब्रह्म-मीमांसा का मुख्य विषय केवल ईश्वर है नित्यैश्वर्यत्व नहीं, क्योंकि पूर्वपक्ष की इस आपत्ति को 'ईश्वरवादी सिद्धान्त स्मृति के अनवकाश दोष से युक्त है',[३५१] अप्रमाणित करके यह दिखाया जा चुका है कि एक नित्य ईश्वर का प्रतिपादन ही ब्रह्म मीमांसा का मुख्य विषय है। अतः ब्रह्म शब्द का मुख्यतः 'परम ब्रह्म' के द्योतक के रूप में व्यवहार किया जाता है, और ब्रह्म मीमांसा का प्रथम सूत्र इस प्रकार आरम्भ नहीं होता कि 'अथ परम ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ की जाती है' (वरन् इस प्रकार आरम्भ होता है कि 'अथ ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ की जाती है), अतः हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि सांख्य का विरोध करने के कारण ब्रह्म मीमांसा और योगदर्शन (एक नित्य नहीं वरन्) केवल एक ऐसे

---

[३५१] यही उद्धृत सूत्र (ब्रह्मसूत्र २, १, १) तथा उस पर शाङ्करभाष्य के अंशमात्र भी ऊपर पहले ही उद्धृत किया जा चुका है;

ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं जो कार्य-परत्व है ; क्योंकि यह (१) ब्रह्मसूत्र (२ २, १ और बाद) द्वारा अप्रमाणित हो चुका है जहाँ यह कहा गया है कि 'स्रष्टृत्व के ज्ञान से रहित अचेतन जगत् का कारण नहीं है क्योंकि ऐसा कारण किसी की भी रचना नहीं कर सकता'; प्रकृति के स्वातन्त्र्य की मान्यता के द्वारा भी यह असिद्ध हो जाता है; और (२) इस तथ्य द्वारा भी अप्रमाणित हो जाता है कि, 'काल के अनवच्छेद के कारण वह प्राचीन लोगों का गुरु है' इत्यादि (योगसूत्र १.२६ द्वारा तथा उस पर व्यास भाष्य),[१६०] में ईश्वर के नित्यत्व को स्पष्टरूप से समझा गया है। अतः, अपने सिद्धान्तों के आधार पर तर्क करते हुये, और साथ ही साथ महान बुद्धि-प्रदर्शन[१६१] करते हुये भी सांख्यों का दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक ईश्वर का प्रतिषेध करना है, अतः इनसे ब्रह्म-मीमांसा अथवा योग का विरोध नहीं होता। विशेष विषयों पर तर्क करने की पद्धति का शास्त्रों में उल्लेख है। अतः विष्णु पुराण (१.१७, ५४) में इस प्रकार कहा गया है : 'हे दैत्यगण ! मैंने जिन धारणाओं का अभी वर्णन किया है वे ऐसे व्यक्तियों के अनुमान हैं जो ईश्वर को अपने से भिन्न मानते हैं। इन्हें अंशतः उचित ग्रहण करते हुये मुझसे (परम सत्य का) संक्षिप्त विवरण सुनो।'

"अथवा यही मान लिया जाय कि पापियों को ज्ञान प्राप्त करने से वंचित रखने की दृष्टि से आस्तिक दर्शन भी ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जो अंशतः वेद विरुद्ध हैं ; और यह कि इन स्थलों पर ये दर्शन प्रामाण्य नहीं

---

[१६०] मैं इस सूत्र पर डा० बैलेन्टाइन द्वारा दिये हुये भोजराज के भाष्य का यह उद्धरण देता हूँ : "पूर्वेषाम् । आद्यानाम् ब्रह्मादीनाम् अपि स गुरुर् उपदेष्टा यत. स कालेन नावच्छिद्यते अनादित्वात् । तेषाम् पुनर् आदि-मत्त्वाद् अस्ति कालेन अवच्छेद.।" अर्थात् : "प्राचीन अर्थात् ब्रह्मा तथा अन्य आदि पुरुषो मे वह गुरु है क्योकि अनादि होने के कारण काल से अवच्छिन्न नही है , जब कि वे लोग आदि से युक्त होने के कारण कालावच्छिन्न हैं।"

[१६१] 'अभ्युपगम वाद' और 'प्रौढि-वाद' मे से प्रथम की संतोषजनक व्याख्या तथा इस सम्पूर्ण स्थल मे सुधार के लिये मैं प्रो० कोवेल का आभारी हूँ। डा० बैलेन्टाइन ने 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' का अनुवाद 'निहित सिद्धान्त' किया है (न्यायसूत्र १ ३१)। बौटलिङ्क और रॉथ ने अपने कोश मे 'अभ्युपगम-वाद' का अनुवाद 'समझौता पूर्ण दृष्टि से बाद-विवाद' किया है, और गोल्डस्टूकर इसका 'निहित-सूत्र' अनुवाद करते हैं। प्रौढिवाद के आशय के लिये देखिये ऊपर, पृ० १७८।

हैं। फिर भी, इनके मुख्य विषयों में प्रामाण्य है क्योंकि वे श्रुति और स्मृति के अनुसार हैं। इसीलिये हमें पद्मपुराण में ब्रह्म (वेदान्त) और योग दर्शनों के अतिरिक्त अन्य दर्शनों की निन्दा मिलती है; क्योंकि इस पुराण में ईश्वर (महादेव) पार्वती से इस प्रकार कहते हैं : 'हे देवी, मेरे द्वारा तामसों का यथाक्रम वर्णन सुनो, जिसके श्रवणमात्र से ज्ञानी जन भी पतित हो जाते हैं। पाशुपत इत्यादि शैवमतों को सर्वप्रथम मैंने ही कहा था। उसके बाद मेरी शक्ति से युक्त ब्राह्मणों ने निम्न मतों का, जैसे कणाद के महान् वैशेषिक दर्शन, और गौतम और कपिल के क्रमशः न्याय और सांख्यदर्शनों का उच्चारण किया। इनके बाद द्विजन्मा जैमिनि ने वेदार्थ पर आधारित किन्तु निरीश्वरवादी पूर्वमीमांसा नामक महान् दर्शन का निर्माण किया। इसी प्रकार अतिगर्हित चार्वाक् मत को धिषण[१९२] ने कहा, जब कि दैत्यों[१९३] के विनाश की दृष्टि से बुद्ध के रूप में विष्णु ने उन बौद्धों के असत् दर्शन को कहा जो नग्न अथवा नीलपट धारण करके रहते हैं। हे देवी, एक ब्राह्मण के रूप में स्वयं मैंने ही कलियुग में उस मायावाद को कहा, जो कि एक प्रच्छन्न बौद्धमत है, जो वेद के शब्दों को एक विकृत और सामान्यतः गर्हित अर्थ प्रदान करता है और समस्त कर्मों के परित्याग और इस प्रकार के परित्याग से सम्पन्न नैष्कर्मण्यत्व का प्रतिपादन करता है। इस दर्शन में मैं परमात्मा और जीवात्मा के ऐक्य का प्रतिपादन करता हूँ और यह दिखाता हूँ कि इस ब्रह्म का परमरूप वह है जिसमें यह निर्गुण हो जाता है। हे देवी यह मैं ही था जिसने वैदिक विषयों से युक्त होते हुये भी मायावाद का प्रतिपादन करनेवाले उस महान अवैदिक शास्त्र का समस्त जगत के विनाश के लिये कलियुग में उच्चारण किया था।' हम लोगों ने ब्रह्ममीमांसा-भाष्य में इस विषय की विस्तृत व्याख्या' की है। अतः किसी भी आस्तिक दर्शन में न तो प्रामाण्याभाव है और न कोई विरोध, क्योंकि अपने-अपने विषयों में ये सब अबाध और परस्पर अविरोधी हैं। तब क्या यह दर्शन (सांख्य) पुरुष के अनेकत्व के सम्बन्ध में केवल अपनी ही मान्यताओं के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण करता है? यह ऐसा नहीं करता; क्योंकि ब्रह्म-मीमांसा में भी इस प्रकार के सूत्रों द्वारा कि 'जीवात्मा परमात्मा की नाना उपाधियों में से एक अंश मात्र

---

[१९२] विलसन के कोश के अनुसार बृहस्पति का एक नाम।

[१९३] देखिये विलसन : विष्णु पुराण, पृ० ३३४ और बाद।

है'[१६४] (ब्रह्मसूत्र २.३, ४३), यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा अनेक है। किन्तु ब्रह्ममीमांसा इसे अस्वीकार करता है कि सांख्यों द्वारा प्रतिपादित पुरुष में आत्मत्व नहीं है, क्योंकि, 'वह आत्मवत् मानकर उसे ग्रहण करते हैं'[१६५] (ब्रह्मसूत्र ४.१, ३), द्वारा यह निर्णय हो जाता है कि परमार्थ के आधार पर केवल परमात्मा ही आत्मवत् है। फिर भी, सांख्य अप्रमाण्य नहीं है, क्योंकि यत जीवात्मा द्वारा अपनी इस स्थिति में प्राप्त अन्य वस्तुओं तथा अपने बीच विवेक करने का ज्ञान मोक्ष का साधन है, अतः यह दर्शन उस-विषय विशेष में बाधक नहीं है जिसका यह प्रतिपादन करता है। इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक विभेद के परिणामस्वरूप यह सिद्ध होता है कि श्रुति और स्मृति द्वारा प्रतिपादित आत्मा के एकत्व और अनेकत्व के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं है।"

हिन्दू दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच, चाहे वे कितने ही परस्पर विरोधी प्रतीत हों, अन्ततोगत्वा सैद्धान्तिक दृष्टि से परस्पर सम्मति सम्बन्धी उपरोद्धृत मधुसूदन सरस्वती का दृष्टिकोण, जिसका विज्ञानभिक्षु ने भी अंशतः समर्थन किया है, वैसा ही प्रतीत होता है जैसा कि साधारणतया आधुनिक पण्डितों का दृष्टिकोण। (देखिये डा० वैलेन्टाइन का सि० सा०, विज्ञापन, पृ० IV)। फिर भी, समझौते की यह पद्धति प्राचीन सिद्धान्तों से एक स्पष्ट विचलन है, और प्रत्यक्षतः वेदों और स्मृतियों, दर्शनों इत्यादि के बीच प्रामाण्य सम्बन्धी विभेद को प्रत्यक्षतः समाप्त कर देती है। क्योंकि

---

[१६४] फिर भी, इस पर शंकर (ब्रह्मसूत्र २ ३, ४३) ने इस प्रकार व्याख्या की है : "जीव ईश्वरस्य अंशो भवितुम् अर्हति यथाऽग्नेर् विस्फुलिङ्ग। अंशः इव अंशः। न हि निरवयवस्य मुख्योऽशो सम्भवति। कस्मात् पुनर् निरवयवत्वात् स इव न भवति। 'नानाव्यपदेशात्'।" अर्थात् "जीवात्मा ईश्वर का एक अश है, जिस प्रकार स्फुलिङ्ग अग्नि का (और यह केवल उस प्रकार ईश्वर पर निर्भर नही है, जिस प्रकार एक सेवक अपने स्वामी पर निर्भर रहता है। 'अश' का अर्थ 'अश' ही है, क्योकि वास्तविक आशय मे कोई भी किसी ऐसी वस्तु का अश नही हो सकता जो अवयवविहीन है। तब, जैसा कि ईश्वर अवयवविहीन है, जीवात्मा भी वैसा ही क्यो नही है ? नाना व्यपदेशो के कारण, इत्यादि।"

[१६५] मूल सूत्र इस प्रकार है "आत्मा इति तु उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"। अर्थात् "वे उसे आत्मवत् ही मानकर ग्रहण करते हैं।" यहाँ कुछ उपनिषद्-वाक्यो का तात्पर्य है जिन्हें ही शङ्कर ने उद्धृत किया है।

षड्दर्शनों के प्रणेता मुनिगण यदि सर्वज्ञ और निर्दोष हैं तो उनका स्थान भी वेदों के समकक्ष ही होगा।

फिर भी, मैं सांख्यों तथा अन्य तार्किक सम्प्रदायों के अनुयायियों के प्रति शंकर के भर्त्सनात्मक दृष्टिकोण और इन विभिन्न दर्शनों के सम्बन्ध में बाद के लेखकों के विचारों के इस अप्रासङ्गिक उल्लेख से लौटता हूँ। अपौरुषेय वेदों और उनके कल्पसूत्रादि पौरुषेय अङ्गों, तथा साथ ही साथ, अन्य स्मृतियों के बीच इस खण्ड में उद्धृत भारतीय भाष्यकारों द्वारा किया गया विभेद मेरे द्वारा ऊपर उद्धृत बृहदारण्यक उपनिषद् (= शतपथ ब्राह्मण) और मुण्डक उपनिषद् के विभिन्न स्थलों द्वारा पुष्ट नहीं होता। एक ही स्थल पर उल्लिखित अन्य ग्रन्थों तथा वैदिक संहिताओं को एक साथ ही वर्गीकृत करके उपनिषदों के प्रणेता इन सब को समान स्तर पर रखते हुये प्रतीत होते हैं; और उक्त प्रथम उपनिषद् इन सभी ग्रन्थों को परम पुरुष के निश्वास से उत्पन्न मानता है। अतः यदि एक प्रकार के ग्रन्थ अपौरुषेय हैं तो यह भी तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि उनके साथ वर्गीकृत अन्य भी ऐसे ही हैं। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार इनमें से किसी को भी (यदि हम वेदान्त और उपनिषद् को अपवाद मान लें) श्रेष्ठतम पद नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये सब समान रूप से एक ऐसी विद्या का प्रतिपादन करते हैं जिसका केवल परवर्त्ती महत्व ही है।

फिर भी, यतः शंकर (जिनकी, इसमें सन्देह नहीं, यह धारणा थी कि सामान्यतया स्मृतियों के अन्तर्गत वर्गीकृत किसी भी कृति को वास्तव में ब्रह्म का निश्वास मान लेने की आधुनिक सिद्धान्तों के साथ संगति नहीं है, और आस्तिक सिद्धान्तों के आधार पर केवल श्रुति के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थों को ही इस प्रकार की दिव्य उत्पत्ति का श्रेय दिया जा सकता है), बृहदारण्यक उपनिषद् के अपने भाष्य में यह मानते हैं कि वहाँ उल्लिखित चारों वेदों की संहिताओं को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ वास्तव में ब्राह्मणों के अंश हैं, अतः उनके इस भाष्य को उद्धृत करना आवश्यक हो जाता है, जो कि इस प्रकार है :

... "निश्वसितम् इव निश्वसितम्। यथा अप्रयत्नेनैव पुरुष-निश्वासो भवत्य् एव वा। अरे किं तद् निश्वसितं ततो जातम् इत्य् उच्यते। यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश् चतुर्विधम् मन्त्र-जातम्। इतिहासः इत्य् उर्वशी-पुरूरवसोर् संवादादिर् "उर्वशी ह अप्सराः" इत्यादि-ब्राह्मणम् एव। पुराणम् "असद् वा इदम् अग्रे आसीद्"

इत्यादि। विद्या देवजन-विद्या "वेदः सोऽयम्" इत्यादिः। उपनिषदः "प्रियम् इत्य् एतद् उपासीत्" इत्याद्याः। श्लोकाः "ब्राह्मण-प्रभवाः मन्त्रास तद् एते श्लोकाः" इत्य् आदयः। सूत्राणि वस्तु-संग्रह-वाक्यनि वेदे यथा "आत्मा इत्य् एव उपासीत" इत्यादीनि। अनुव्याख्यानानि मन्त्र-विवर्णानि। व्याख्यानानि अर्थवादाः।......एवम् अष्टविधम् ब्राह्मणम्। एवम् मन्त्र-ब्राह्मणयोर् एव ग्रहणम्। नियत-रचनावतो विद्यमानस्यैव वेदस्य अभिव्यक्तिः पुरुष-निश्वास-वत्। न च पुरुष-बुद्धि-प्रयत्न-पूर्वकः। ततः प्रमाणम् निरपेक्षः एव स्वार्थे।......तेन वेदस्य अप्रामाण्यम् आशङ्कते। तद्-आशङ्का-निवृत्त्य-अर्थम् इदम् उक्तम्। पुरुष-निश्वास-वद् अप्रयत्नोत्थितत्वात् प्रमाणं वेदो न यथाऽन्यो ग्रन्थः इति (बृहदारण्यक उपनिषद् २.४, १० पर शाङ्कर भाष्य)।

"'उसके निश्वास का अर्थ उसका निश्वास ही है, अथवा जैसे कि पुरुष का निश्वास होता है उसी प्रकार इससे प्रयत्न के अभाव का तात्पर्य है। अब यह बताया गया है कि उससे उत्पन्न निश्वास क्या था? वह यह था: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्वाङ्गिरसस् (अथर्ववेद) नामक चार प्रकार के मन्त्रसमुदाय, इतिहास अर्थात् उर्वशी-पुरूरवा का सवाद, अर्थात् 'उर्वशी ह अप्सराः' (शतपथ ब्राह्मण ११.५,१,१) इत्यादि ब्राह्मण-वाक्य इतिहास हैं: पुराण, जैसे 'आरम्भ में केवल यह असत् ही था,' इत्यादि; विद्या, अर्थात् 'वेदः सोऽयम्,' इत्यादि देवजन-विद्या; उपनिषद्, जैसे 'प्रिय है, इस प्रकार उपासना करे', इत्यादि; श्लोक, जैसे 'मंत्र ब्राह्मणों के स्रोत हैं, जिस विषय पर यह श्लोक है', इत्यादि; वेदों में आने वाले सूत्र जो वस्तुसग्रह-वाक्य होते हैं; जैसे 'आत्मा है—इस प्रकार उपासना करे', इत्यादि; अनुव्याख्यान, अर्थात् मंत्रों के विवरणात्मक व्याख्यान अथवा अर्थवाद।"......इन दो अन्तिम शब्दों की वैकल्पिक व्याख्या करने के पश्चात् भाष्यकार इस प्रकार अग्रसर होता है: "इस प्रकार यहाँ आठ प्रकार के ब्राह्मण भाग का उल्लेख है; और फलस्वरूप प्रस्तुत स्थल पर केवल मन्त्रों और ब्राह्मणों को ही ग्रहण करना चाहिए। नियत रचनावान् और विद्यमान वेद की अभिव्यक्ति की पुरुष के निश्वास के साथ तुलना की गई है। पुरुष की बुद्धि के प्रयत्नपूर्वक वेद की रचना नहीं हुई है।[१६६] फलस्वरूप यह अपने अर्थ-प्रामाण्य के लिये निरपेक्ष और स्वतंत्र है।"

---

[१६६] तुलना कीजिये ऊपर, पृ० ११४ पर उद्धृत ब्रह्मसूत्र १.१,३ पर शाङ्कर भाष्य, जहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के इसी स्थल का उद्धरण दिया गया है। यतः इस स्थल पर ब्रह्म को वेद का प्रणेता बताने का उद्देश्य ब्रह्म के ज्ञान की

इस स्थल पर अपने भाष्य को समाप्त करते हुए शङ्कर एक मान्यता के रूप में यह व्यक्त करते हैं कि इन शब्दों में उपनिषद् ने गत कुछ शब्दों से उत्पन्न वेद को अप्रामाणिक होने की आशङ्का का निवारण किया है, और इस प्रकार कहते हैं : "पुरुष के निश्वास के समान बिना प्रयत्न के ही उत्पन्न हुये होने के कारण वेद प्रमाण है, अन्य ग्रन्थों (पुरुष-प्रयत्न-जनित) के समान नहीं।" (देखिये सांख्य सूत्र ५.५०, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।

इस उपनिषद् में वर्णित सभी आठ प्रकार की कृतियों को केवल ब्राह्मण-भाग ही सिद्ध करने के इस प्रयास को कदापि संतोषजनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें से कुछ, जैसे, सूत्रादि को, सदैव एक भिन्न वर्ग की ऐसी कृतियाँ कहा गया है जो ईश्वर प्रेरणाजन्य नहीं हैं (देखिये मैक्स मूलर. ऐ० स० लि०, पृ० ७५,८६); और उक्त उपनिषद् के रचना के समय तक इतिहास-पुराण भी बहुत सम्भवतः एक पृथक् वर्ग की कृतियाँ बन चुके थे। शङ्कर की व्याख्या उस समय और असम्भाव्य हो जायगी जब हम इस स्थल के साथ ऊपर (पृ० ३५) उद्धृत मुण्डक उपनिषद् १.१,५, के एक भिन्न रूप की तुलना करें जहाँ यह कहा गया है कि, "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अपरा विद्यायें हैं।[१८७]

अलौकिक प्रकृति और उनकी शक्ति को व्यक्त करना है, अतः हमे प्रत्यक्षत (जब तक कि हमारा उद्देश्य इस महान भाष्यकार पर उक्त दो स्थलो पर परस्पर असगत सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने का आक्षेप नहीं करना है) यह मान लेना चाहिये कि प्रस्तुत स्थल पर वह इस तथ्य को अस्वीकृत नही करते कि ब्रह्मा का वेदो इत्यादि का अपने से उत्पन्न होने का ज्ञान और उनके अर्थ से परिचय था (जैसा कि उपरोद्धृत साख्यसूत्रकार और उसके भाष्यकार मानते हैं), यहाँ शङ्कर का प्रयोजन केवल यही सिद्ध करना है कि ब्रह्मा का ज्ञान और अर्थ-चेतना उनके किसी प्रयास का फल नहीं था।

[१८७] मैं यहाँ ऋग्वेद के भाष्य मे सायण द्वारा इस स्थल पर की गई टिप्पणी का उद्धरण देना चाहता हूँ. "अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थम् अवबोधयितुम् शिक्षादीनि षड्-अङ्गानि प्रवृत्तानि। अत एव तेषाम् अपर-विद्यारूपत्वम् मुण्डकोपनिषद्यू अथर्वणिका आमनन्ति। 'द्वे विद्ये' इत्यादि।... साधनभूत धर्म-ज्ञान-हेतुत्वात् षड्-अङ्ग-सहितानां कर्म-काण्डानां अपर-विद्यात्वम्। परम-पुरुषार्थ-भूत-ब्रह्म-ज्ञान हेतुत्वाद् उपनिषदां परविद्यात्वम्।" अर्थात् . "शिक्षा तथा अन्य षडङ्गो का प्रयोजन अत्यन्त गम्भीर वेद के अर्थ का बोध कराना है। अतः मुण्डक उपनिषद् मे, अथर्ववेद के अनुयायियो ने 'द्वे विद्ये' इत्यादि द्वारा यह कहा है कि

विभिन्न वेदाङ्गों को, जिनका बाद के लेखकों ने वेद के साथ स्पष्ट विभेद करते हुए उन्हे अपौरुषेय प्रमाण्य से युक्त नहीं माना है, यहाँ अभी भी चार वैदिक संहिताओं की कोटि में रखकर (ब्रह्म-ज्ञान के विपरीत) अपर-विद्या का प्रतिपादन करने वाला बताया गया है। इससे हम यह सहज निष्कर्ष निकाल सकते है कि सूत्रों तथा कुछ अन्य कृतियों की गणना कराते समय बृहदारण्यक उपनिषद् के रचयिता का भी उद्देश्य वेदाङ्ग, तथा सम्भवतः स्मृतियों को भी ब्रह्मा का निश्वास बताना था। जिन कृतियों को मुण्डक उपनिषद् में कल्प कहा गया है, उन्हें सामान्यतया कल्प-सूत्र भी कहते हैं।

यह निष्कर्ष कुछ अंशों तक महाभारत १२.२१०,१९ (जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) द्वारा भी पुष्ट होता है जहाँ यह कहा गया है कि, "स्वयम्भू की आज्ञा से महर्षियों ने तपस्या द्वारा सर्वप्रथम कल्प के अन्त में लुप्त हुये वेदों और इतिहासों को उपलब्ध किया।" किसी वैदिक ग्रन्थ में 'इतिहास' का जो भी अर्थ हो, इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में, जो स्वयं भी एक इतिहास है, इस शब्द से छन्द-बद्ध इतिहासों का तात्पर्य है। और हम यह देखते हैं कि उस स्थल पर इतिहास को भी वेदों के समकक्ष और वेदों की ही भाँति पूर्वस्थित तथा अलौकिक माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (७. १,१ और बाद) को भी देखिये जहाँ इतिहास और पुराण को 'पञ्चम वेद' को कहा गया है। भागवत् पुराण (३.१२, ३९) में भी इन्हें पुनः 'पञ्चमवेद' कहा गया है : इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदम् ईश्वरः। सर्वेभ्यः एव मुखेभ्यः ससृजे सर्व-दर्शनः।" अर्थात् "सर्वदर्शी ईश्वर ने अपने समस्त मुखों से पञ्चम वेद के रूप में इतिहास और पुराण का सृजन किया।" ऊपर पृ० ३२–३५ पर उद्धृत पुराणों और महाभारत के स्थलों को भी देखिये जहाँ इतिहास और स्वयं पुराणों को यदि वेदों से ऊँचा नहीं तो कम से कम उनके समकक्ष स्थान अवश्य दिया गया है। इन सार्वजनीन कृतियों द्वारा स्वयं अपने सम्बन्ध में ही व्यक्त आधिकारिक उक्तियों को, वास्तव में अपेक्षाकृत अधिक तर्कप्रिय और वैज्ञानिक लेखकों ने प्रामाणिक नहीं माना है। जैसा कि हम इस खण्ड के आरम्भ में ही देख चुके है, ऐसे लेखक वेदों और अन्य समस्त प्रकार की कृतियों के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींची है। किन्तु

कि यह कृतियाँ अपर विद्या का प्रतिवादन करती हैं। धर्म-ज्ञान का साधन होने के कारण षडङ्गो सहित सम्पूर्ण कर्मकाण्ड को अपर विद्या कहा गया है। दूसरी ओर परम पुरुषार्थरूपी ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण उपनिषदो को पर-विद्या कहा गया है।"

उपनिषदों के जिन स्थलों को मैंने उद्धृत किया है। उनसे ऐसा प्रतीत होगा कि कम से कम एक समय वेदों का अन्य शास्त्रों के साथ इतना स्पष्ट विभेद नहीं किया जाता था जितना बाद में होने लगा।

खण्ड १२:—वेदों के प्रामाण्य के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों तथा उनके भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत तर्कों का सिंहावलोकन और उन तर्कों पर टिप्पणी।

यतः गत खण्ड में मैंने वेद के नित्यत्व और निर्दोषत्व के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत विभिन्न दर्शनकारों और उनके भाष्यकारों के तर्कों की कुछ विस्तार से विवेचना की है, अत इन तर्कों की सर्वप्रमुख बातों का सिंहावलोकन करना सुविधाजनक होगा, और उसके बाद मैं कुछ ऐसे विचारों को प्रस्तुत करूँगा जो इन तर्कों की विवेचना पर आधारित होंगे।

वेद को प्रमाण्य मानने वाले इस प्रमाण्य की जिन आधारों पर स्थापना करते हैं वह सक्षेप में इस प्रकार हैं: (१) यह कहा गया है कि, सूर्य की भांति, वह (वेद) स्वयं प्रकाशित हैं और उनमें अपनी पूर्णता को व्यक्त करने, तथा भूत और भविष्य, महान और लघु, निकट और दूरस्थ, सभी वस्तुओं की व्याख्या करने की शक्ति अन्तर्निहित है (ऊपर पृ० ६८ पर उद्धृत सायण; ब्रह्म सूत्र १.१, ३ पर शाङ्कर भाष्य)। सांख्य-सूत्रकार ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है, जो, फिर भी, किसी दिव्य पुरुष के चेतन प्रयास से वेदों की उत्पत्ति के तथ्य को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करता है (देखिये पृ० १४३)। (२) यह कहा गया है कि वेद पौरुषेय नहीं हैं, क्योंकि ऐसे किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं है (माधव, ऊपर पृ० ९१ ९२, और बाद) जिसके कारण इनमें (वेद में) किसी भी ऐसी अपूर्णता की शङ्का नहीं की जा सकती जो किसी ऐसे कर्त्ता में हो सकती है (पृ० ७६ और बाद; सायण पृ० ११४)। (३) पूर्वमीमांसा इसमें इतना और जोड़ देता है कि वेद के शब्द नित्य हैं और इनका अपने अर्थ के साथ एक नित्य सम्बन्ध है (यह मानव इच्छा पर निर्भर एक काल्पनिक सम्बन्ध नहीं है), अत. वेद नित्य और निर्दोष हैं[१६८] (मीमांसा सूत्र और उस पर भाष्य, ऊपर पृ० ७८ और बाद,

---

[१६८] बृहदारण्यक उपनिषद (४ १, २) मे इस प्रकार कहा गया है: "वाचैव सम्राड् ब्रह्म ज्ञायते वाग् वै सम्राट परमम् ब्रह्म", अर्थात् हे राजन, वाच् से ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। वाच ही परम ब्रह्म है।"

और सर्वदर्शन संग्रह, ऊपर पृ० ९९ और बाद)। (४) गत मत की तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार (ऊपर पृ० ७६) तथा सायण ने भी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका (ऊपर पृ० ११४) में या तो और व्याख्या या परिमार्जन किया है, जिनका कथन है कि काल और आकाश के समान वेद भी एक विशिष्ट आशय में ही नित्य हैं, अर्थात् इनकी नित्यता वर्तमान मन्वन्तर तक ही सीमित थी। और यह कि वास्तव में सृष्टि के आरम्भ में इनकी, ब्रह्मा से उत्पत्ति हुई है किन्तु इन लोगों के मत के अनुसार वेद की इस प्रकार उत्पत्ति वेद की पूर्णता को प्रभावित नहीं करती, क्योंकि अपने कर्त्ता के निर्दोषत्व के कारण यह स्वयं प्रमाण हैं। (५) यद्यपि वेदान्त भी वेद के नित्यत्व की चर्चा करता है (ऊपर पृ० ११४), तथापि उसी स्थल पर यह वेद के स्वतंत्र कर्त्ता का भी उल्लेख करता है; जब कि एक अन्य स्थल (पृ० ११४) पर यह स्पष्ट रूप से ब्रह्मा को श्रुतियों का स्रोत अथवा कारण बताता है। ब्रह्मा को यहाँ परम-ब्रह्म का द्योतक क्लीव शब्द मानना चाहिये, एक वैयक्तिक कर्त्ता का द्योतक पुल्लिङ्ग नहीं।[१८९] (६) नैय्यायिकों के मतानुसार इस तथ्य से वेद का प्रमाण्य सिद्ध होता है कि धर्म का साक्षात् करनेवाले आप्तों से इनकी उत्पत्ति हुई है, और इन आप्तों की योग्यता की, हमारे समस्त अनुभवों तथा इन्द्रिय गम्य विषयों के क्षेत्र में, इनके उपदेशों के वाञ्छित फलों की उपलब्धि से पुष्टि हो जाती है (न्याय सूत्र, ऊपर पृ० १२५)। (७) वैशेषिक सिद्धान्तों तथा कुसुमाञ्जलि की सहमति के अनुसार वेद का प्रमाण्य उसके कर्त्ता की, जो ईश्वर है, सर्वज्ञता से सिद्ध होता है (वैशेषिक सूत्र, तर्क संग्रह, और कुसुमाञ्जलि, ऊपर पृ० १२८ और बाद ; १३५; और १३७ और बाद)।

इन तर्कों का विस्तृत अध्ययन करनेवाले पाठकों ने यह देखा होगा कि, कभी-कभी प्रमुख सिद्धान्तों पर भी इनमें परस्पर प्रत्यक्ष विरोध है ; और यह केवल अपने-अपने मत-विशेष के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये सर्वश. ग्राह्य नहीं हो सकते। योरोपीय विद्यार्थी (जब तक कि उसका कोई निहित स्वार्थ न हो) इन मतों को केवल ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से ही देख सकता है, जो अत्यन्त तीक्ष्ण और कल्पनाशील व्यक्तियों के धार्मिक विचारों की प्रगति का उदाहरण मात्र प्रस्तुत करते हैं। किन्तु इस पुस्तक को पढ़नेवाले भारतीय पाठकों की दृष्टि में इनका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व हो सकता है ; और यतः ऐसे पाठक यह जानना चाह सकते हैं कि इन तर्कों को पाश्चात्य विद्वान किस दृष्टि से देखते हैं, अतः मैं इस विषय पर कुछ अपना मत व्यक्त करूँगा।

---

[१८९] देखिये ऊपर नोट १६६, मे।

वेद के निर्दोषत्व की पुष्टि करनेवाले प्रथम आधार के, अर्थात् यह कि वेद स्वयं प्रकाशित अथवा स्वयं प्रमाण हैं, सम्बन्ध में मैं प्रथमतः यह कहना चाहूँगा कि यह एक ऐसे प्रकार का प्रमाण है जिसका मूल्यांकन केवल वैसे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने भारतीय श्रुतियों को विशेष अध्ययन का विषय बना रक्खा हो ; और द्वितीयतः यह कि प्रत्येक अध्येता को अपने-अपने तर्क और श्रद्धा के आधार पर ही इसका निर्णय करना चाहिये। यह प्रमाण किसी विशेष राष्ट्रीय और व्यक्तिगत सांस्कृतिक स्तर पर ही मनुष्यों को निर्णायक प्रतीत हो सकता है, और मुख्यतः वैसे ही लोगों को जो अपने बाल्यकाल से ही वेदों को परम्परागत श्रद्धा का विषय मानने के लिये अभ्यस्त हो चुके हैं; जब कि एक भिन्न मानसिक विकास, तथा भिन्न प्रभावों के अन्तर्गत रहनेवाले व्यक्ति के लिये यह सर्वथा निरर्थक प्रतीक होगा। यह सर्वथा स्पष्ट है कि स्वयं भारत में भी, प्राचीन समय में अनेक ऐसे विद्वान और धर्मात्मा व्यक्ति थे जो इस तर्क में कोई शक्ति नहीं देख सके थे और इसलिये उन्होंने वेद के प्रामाण्य को अस्वीकृत कर दिया था। यहाँ वास्तव में बुद्ध तथा उनके अनुयायियों से ही मेरा तात्पर्य है। यहाँ तक कि हम यह भी देख चुके हैं कि आस्तिक कहे जानेवाले, जैसे उपनिषदों, भगवद्गीता, और भागवत पुराण के प्रणेता भी जहाँ एक ओर वेद के अद्यतन भागों द्वारा प्रतिपादित दिव्यज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं, वहीं दूसरी ओर वे सूक्तों तथा उनसे सम्बद्ध कर्मकाण्ड को यदि घृणा की दृष्टि से नहीं देखते, तो कम-से-कम उसका अवमूल्यन अवश्य करते हैं।

द्वितीय, अर्थात् इस तर्क के सम्बन्ध में कि वेद अपौरुषेय और निर्दोष प्रमाण हैं, क्योंकि इनके किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं है, मुझे यह कहना है : यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस के समय का एक भूगोलज्ञ नील नदी के वर्ष-पर्यन्त जल से परिपूर्ण रहने के तथ्य की इस प्रकार व्याख्या करता था कि यह नदी पृथ्वी के चारों ओर स्थित एक ऐसे काल्पनिक सागर से निकलती है जिसे किसी ने देखा नहीं है। हिरोडोटस (२.२३) ने इस भूगोलज्ञ के सम्बन्ध में यह कहा है कि उसके इस मत का प्रतिवाद करना भी कठिन था क्योंकि वह अपने विवाद को एक अप्रत्यक्ष क्षेत्र में खींच ले जाता था। उन भारतीय अनुमानकर्त्ताओं के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है जो यह कहते हैं कि वेद अलौकिक हैं, क्योंकि जैसा कि अन्य ग्रन्थों की दशा में होता है, इनके किसी कर्त्ता का कोई स्मरण नहीं है। इस प्रकार ये लोग अपने तर्कों के नकारात्मक आधार को प्राचीनता की अज्ञात गहराईयों में ले जाकर अपने को किसी भी प्रत्यक्ष प्रतिवाद की सीमा से बाहर रखने का हर प्रकार से

प्रयत्न करते हैं। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है : (१) यदि यह मान भी लिया जाय कि बाद के युगों में वेद के किसी कर्त्ता का स्मरण नहीं था, तो यह वेदों की प्राचीनता के अतिरिक्त और कुछ भी सिद्ध नहीं करता। अतः इस विचार के समर्थकों को यह दिखाना आवश्यक है कि ऐसी स्थिति अनिवार्यतः वेद की अलौकिकता या अपौरुषेयत्व को सिद्ध करती है। (२) तथ्य तो यह है कि स्वयं भारतीय परम्परा भी वैदिक सूक्तों के रचयिता कुछ ऋषियों का उल्लेख करती है। यह सत्य है कि, जैसा हम देख चुके हैं (ऊपर पृ०), इन ऋषियों को केवल सूक्तों का 'द्रष्टा' मात्र बताया गया है, और यह कहा गया है इस प्रकार दृष्ट सूक्त पहले से ही वर्तमान थे। अतः उनके द्रष्टा ऋषि उनके रचयिता नहीं हैं। किन्तु, यतः परम्परा द्वारा यह प्रसिद्ध है कि अमुक-अमुक ऋषियों ने सूक्तों का उच्चारण किया था, अतः यह कैसे सिद्ध किया जा सकता है कि यह ऋषि, अथवा सूक्तों के उच्चारक जो भी रहे हों, स्वयं अपनी ही बौद्धिक कृति का उच्चारण नहीं कर रहे हैं? इन कृतियों की समस्त प्रकृति, और अन्तर्साक्ष्य द्वारा व्यक्त इनकी उत्पत्ति की स्थिति इस मान्यता के अनुकूल है कि ये (वेद) उन प्राचीन चारणों[१७०] की, जिन्होंने इनका उच्चारण किया था, व्यक्तिगत आकांक्षाओं और भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति से अधिक और कुछ नहीं। इन गीतों में आर्य ऋषियों ने अपने पैतृक देवों की स्तुतियों की प्रख्याति की है (साथ ही साथ उन लोगों इन देवों को ग्राह्य मानी जानेवाली विभिन्न प्रकार की हवियों से इनकी कृपा प्राप्त करने का भी प्रयास किया है), और इन देवों से स्वास्थ्य, सम्पत्ति, दीर्घायुष्य, पशु, सन्तान, अपने शत्रुओं पर विजय, पाप से क्षमा, और कुछ दशाओं में दिव्य कृपाओं की भी, कामना की है।

इन सूक्तों का प्रयोजन इस स्थल द्वारा भली प्रकार व्यक्त हो जाता है जिसे मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग में (कोल० मिस० पृ०, १.२६ से) उद्धृत कर चुका हूँ : "अर्थेप्सवः ऋषयो देवताश् छन्दोभिर् अभ्यधावन्", अर्थात् "विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की कामना से ऋषिगण छन्दों सहित देवताओं के पास शीघ्रतापूर्वक गये।" उसी स्थल पर उद्धृत निरुक्त ७.१, में इस प्रकार कहा गया है : "यत-कामः ऋषिर् यस्यां देवतायाम् अर्थपत्यम्

[१७०] यहाँ मूल लेखक ने अंग्रेजी शब्द 'बार्ड' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'चरण' होता है। नि.सन्देह उसने 'सेजेज' अथवा 'ऋषि' शब्द का अपेक्षा इस शब्द का जानबूझ कर वेद के द्रष्टाओं को हेय सिद्ध करने के लिये ही प्रयोग किया है जिससे अनुवादक कदापि सहमत नही।—अनुवादक।

इच्छन् स्तुतिम् प्रयुङ्क्ते तद्-देवतः स मन्त्रो भवति", अर्थात् "प्रत्येक सूक्त का वही देवता है, जिसे किसी अर्थ-काम से ऋषि अपनी स्तुतियाँ सम्बोधित करता है।" और निरुक्त के इस स्थल के बाद के स्थल (७.३) पर इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि सूक्त ऋषियों की विभिन्न भावनाओं अथवा आकांक्षाओं को ही व्यक्त करते हैं :

परोक्ष-कृताः प्रत्यक्ष-कृताश् च मन्त्राः भूयिष्ठाः अल्पशः आध्यात्मिकाः। अथापि स्तुतिर् एव भवति न आशीर्वादः "इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्" इति यथा एतस्मिन् सूक्ते। अथापि आशीर् एव न स्तुतिः "सुचक्षाः अहम् अक्षिभ्याम् भूयासं सुवर्चाः मुखेन सुश्रुत कर्णाभ्याम् भूयासम्" इति। तद् एतद् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु। अथापि शपथाभिशापौ। "अद्य मुरीय" इत्यादि ... अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा। "न मृत्युर आसीद्" इत्यादि ....। अथापि परिदेवना कस्माचिद् भावात्। "सुदेवो अद्य प्रपतेद् अनावृद्" इत्यादि। अथापि निन्दा-प्रशंसे। "केवलाघो भवति केवलादि" इत्यादि। एवम् अक्ष-सूक्ते द्यूत-निन्दा च कृषि-प्रशंसा च। एवम् उच्चावचैर् अभिप्रायैर् ऋषीणाम् मन्त्र-दृष्टयो भवन्ति (निरुक्त ७.३)।

"[गत स्थल पर वर्णित मन्त्रों के चार प्रकारों में से], ऐसे मन्त्रों की संख्या बहुत होती है जो (१) किसी देवता को परोक्ष रूप से सम्बोधित करते हैं, (२) जो किसी देवता को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित करते हैं, और (३) जो उपासक को प्रत्यक्ष तथा देवता को परोक्ष रूप से सम्बोधित करते हैं; जबकि (४) उन मन्त्रों की संख्या अत्यन्त कम होती है जो स्वयं को सम्बोधित होते हैं। ऐसा भी हो सकता है कि किसी देवता की बिना किसी कामना के ही स्तुति की गई हो, जैसे, 'अब मैं इन्द्र के वीर कर्मों को कहूँगा" इत्यादि, (ऋग्वेद १.३२,१) सूक्त में है। कहीं-कहीं केवल कामना ही होती है, स्तुति नहीं, जैसे, 'मैं आंखों से भली प्रकार देखूँ, मुख से सुन्दर ज्योतिवाला बनूं, कानों से भली प्रकार सुनूं' (मानव गृह्यसूत्र १.९,२५)। ऐसा अधिकांशतः आध्वर्यव (यजुर) वेद में तथा याज्ञिक मंत्रों में होता है। कहीं-कहीं शपथ और अभिशाप भी रहता है, जैसे 'यदि मैं यातुधान हूँ तो आज ही मरूँ" (ऋग्वेद ७ १०४,१५)। कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष के वर्णन की इच्छा रहती है, जैसे 'उस समय न मृत्यु थी न अमरता', (ऋग्वेद १०.१२९,२)। कहीं-कहीं किसी अवस्था विशेष से शान उत्पन्न होता है, जैसे, 'वे सुन्दर देवता आज ऐसा उड़ें कि फिर न लौटें' (ऋग्वेद १०.९५,१४)। पुनः,

कहीं-कहीं निन्दा और प्रशंसा रहती है, जैसे, 'जो व्यक्ति अकेला खाता है वही एक मात्र पापी है,' (ऋग्वेद १०.११७,६)। इसी प्रकार, अक्षसूक्त (ऋग्वेद १०.३४) में द्यूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा है। इस प्रकार मन्त्र के विषय में ऋषियों की दृष्टि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से रहती है।"[१७१]

फिर भी, यह द्रष्टव्य है कि, इस स्थल पर यद्यपि यास्क ने उन आकांक्षाओं की चर्चा की है जो ऋषिगण विभिन्न सूक्तों से व्यक्त करते हैं, तथापि वे अपने युग में प्रचलित इस विचार को स्वीकार करते थे कि ऋषियों ने सूक्तों का 'साक्षात्' किया था, और इसी विचार का प्रतिपादन भी किया है।

निरुक्त १०.४२, में विशेष सूक्तों के छन्द के रूप को ऋषि परुच्छेप की विशिष्ट योग्यता का परिणाम बताया गया है :[१७२] "अभ्यासे भूयांसम् अर्थम् मन्यन्ते यथा 'अहो दर्शनीय अहो दर्शनीय' इति। तत् परुच्छेपस्य शीलम्।" अर्थात् "मनुष्यगण यह मानते हैं कि दुहराने से अर्थ विस्तृत हो जाता है, जैसे इन शब्दों में, 'हे दर्शनीय, हे दर्शनीय।' यह परुच्छेप का शील है।"

---

[१७१] निरुक्त ४ ६ मे त्रित नामक एक ऐसे महर्षि का उल्लेख है जिसने उस समय एक सूक्त का दर्शन किया जब उसे एक कूप मे फेंक दिया गया था (त्रितं कूपेऽवहितम् एतत् सूक्तम् प्रति बभौ)।

[१७२] तैत्तरीय संहिता २ ५,८,३, मे एक परुच्छेप का इस प्रकार वर्णन है : "नृमेधस् च परुछेपश् च ब्रह्मवाद्यम् अवदेताम् 'अस्मिन् दाराव् आर्द्रेऽग्निं जनयाव यतरो नौ ब्रह्मीयान्' इति। नृमेधोऽभ्यवदत् स धूमम् अजनयत्। परुछेपोऽभ्यवदत् सोऽग्निम् अजनयत्। 'ऋषे' इत्य् अब्रवीद 'यत् समावद्विद्व कथा त्वम् अग्निम् अजीजनो नाहम्' इति। 'सामिधेनीनाम् एव अह वर्णं वेदे' इत्य् अब्रवीत्। 'यद् घृतवत् पदम् अनूच्यते स आसा वर्णस् 'तां त्वा समिद्भिरङ्गिर' इत्य् आह सामिधेनिष्व् एव तज् ज्योतिर् जनयति।" अर्थात्, "नृमेध और परुछेप के बीच ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध वाद विवाद हुआ। उन लोगो ने कहा, हममे से कौन अधिक ब्रह्मविद् है यह देखने के लिये हम आर्द्र लकडी से ('विना कर्षण', भाष्य) अग्नि उत्पन्न करे।' नृमेध ने (एक मन्त्र) कहा किन्तु उससे केवल धूम ही उत्पन्न हुआ परुछेप (एक मन्त्र) कहा और अग्नि उत्पन्न किया। नृमेध ने कहा, 'हे ऋषि! हम लोगो का ज्ञान तो बराबर है, फिर ऐसा क्यो हुआ कि आपने तो अग्नि उत्पन्न कर दी किन्तु मैं न कर सका।" परुच्छेप ने उत्तर दिया, 'मैं सामिधेनी के वर्णं से परिचित हूँ। जिस वाक्य मे 'घृत' शब्द होता है वही उनका वर्णं होता है। जब कोई व्यक्ति इन शब्दो को दुहराता है कि 'हे अङ्गिरस् मैं तुम्हे समिधा और घृत से समृद्ध करता हूँ', तब वह सामिधेनी मे ज्योति उत्पन्न करता है'।"

निरुक्त ३.११ में ऋषि कुत्स को व्याख्याकार औपमन्यव द्वारा इस प्रकार वर्णित बताया गया है : "ऋषिः कुत्सो भवति कर्त्ता स्तोमानाम् इत्य् औपमन्यवः", अर्थात् "औपमन्यव के अनुसार कुत्स एक सूत्र-कर्त्ता ऋषि का नाम है।"

इसी प्रकार इस ग्रन्थ (निरुक्त १०.३२) में ऋषि हिरण्यस्तूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'उन्होंने इस सूक्त का उच्चारण किया (हिरण्य-स्तूपः ऋषिर् इदं सूक्तं प्रोवाच)।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ, मैं निरुक्त के इन स्थलों का यह दिखाने के लिये उद्धरण नहीं दे रहा हूँ कि निरुक्तकार सूक्तों को ऋषियों की अपनी बुद्धि की उपज मानता था, क्योंकि ऐसा करना 'साक्षात्' शब्द के आशय से भिन्न होगा जिसे उसने उस मानसिक क्रिया के लिये प्रयुक्त किया है जिससे इन सूक्तों की उत्पत्ति हुई। ऊपर उद्धृत (पृ० १२९) निरुक्त १.२० के उस स्थल पर, जहाँ ऋषियों को धर्म का साक्षात् करनेवाला बताया गया है, जिन शब्दों से ऋषियों का वर्णन किया गया है उससे भी यही प्रगट होता है कि निरुक्तकार ने ऋषियों को बाद के हीन मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च स्थान प्रदान किया है। किन्तु मेरे द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यास्क ने सूक्तों को, ऋषियों द्वारा परिस्थिति-विशेष में ही व्यवहृत, और ऋषियों की वैयक्तिक भावनाओं तथा आकांक्षाओं को ही व्यक्त करनेवाला माना है। (देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत निरुक्त २.१० और २४ भी जो इस मत की पुष्टि करते हैं)। किन्तु यदि यह सत्य है तो, यह मान्यता सर्वथा अनावश्यक है कि ये सूक्त, अर्थात् विशिष्टतः अनेक ऋषियों की विभिन्न भावनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करनेवाले ये सूक्त, चिरन्तन थे तथा ऋषियों ने इनका ठीक उन्हीं-उन्हीं समयों पर साक्षात् किया जब-जब वे अपने विभिन्न उद्देश्यों को व्यक्त करना चाहते थे। प्रायः उतने ही प्रबल तर्कों द्वारा यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये मनुष्यों द्वारा व्यवहृत साधारण भाषा का सम्पूर्ण भण्डार चिरकाल से ही वर्तमान रहा है।[१७३]

[१७३] जैसा यहाँ कहा गया है उसी प्रकार की कठिनाई, अर्थात् यह कि कालाधीन मनुष्यो और पदार्थों को भी वेद मे नित्य कहे गये होने की कठिनाई का, जैमिनि ने अनुभव किया था (देखिये ऊपर पृ० ८४ और बाद)। मैं आगे पुन. इस विषय पर आऊँगा। फिर भी देखिये, चिरकाल से चिरकालतक प्रत्येक सृष्टि मे एक प्रकार की बातो के पुन. पुन. आवर्तित होने के विषय से सम्बद्ध ब्रह्मसूत्र १.३०, ३०, जिसे परिशिष्ट मे उद्धृत किया जायगा।

वेद प्रमाण्य-सम्बन्धी इस तृतीय तर्क के प्रति कि वेद नित्य हैं क्योंकि इनके शब्द नित्य हैं और इन शब्दों का अपने वाच्यार्थ के साथ केवल परम्परागत नहीं वरन् नित्य और निहित सम्बन्ध है, मुझे यह कहना है कि इसे न्यांय और सांख्य दोनों ने ही अस्वीकृत कर दिया है।[१७४] (यदि मैंने इस आस्तिक तर्क को ठीक-ठीक समझा है तो) मैं यह देख पाने में असमर्थ हूँ कि यह वेद के प्रमाण्य को किसी भी अन्य ग्रन्थ से अधिक किस प्रकार सिद्ध करता है। यदि वेद के शब्द नित्य हैं, तो बौद्ध-ग्रन्थों के शब्द भी नित्य होने चाहियें; और फलस्वरूप, यदि नित्यत्व पूर्व-अस्तित्व का प्रमाण है, तो आस्तिकों के इसी तर्क द्वारा इन नास्तिक कृतियों का निर्दोषत्व भी उसी प्रकार सिद्ध हो जाता है जिस प्रकार वेद की अलौकिक उत्पत्ति। अथवा यदि ऐसा तात्पर्य है कि केवल वेद के ही शब्द नित्य और निर्दोष हैं, तो यह एक ऐसी मान्यता होगी जिसके लिये और प्रमाण की आवश्यकता है। यदि महर्षियों द्वारा गृहीत होना इसका प्रमाण माना जाय, तो यह कहा जा सकता है कि स्वयं इन ऋषियों के प्रमाण्य को ही तब तक स्वीकार नहीं किया जा सकता जब तक इसे सिद्ध न कर दिया जाय।

वेद के प्रमाण्य के पक्ष में ऊपर वर्णित चौथे, पाँचवें, छठवे और सातवें तर्कों के सम्बन्ध में, जिन्हें विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों अथवा मतावलम्बियों ने प्रस्तुत किया है, इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन लोगों ने अधिकांशतः इस बात को कि किसी सर्वज्ञ, अथवा, कम-से-कम किसी आप्त प्रणेता से ही वेद की उत्पत्ति हुई है, सिद्ध मान लिया है। इस उक्ति का एक मात्र अपवाद हमें न्याय और सांख्य सूत्रों के इस तर्क में मिलता है कि वेद का निर्दोषत्व इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि ऐहिक फलों का विधान करनेवाले मन्त्र कभी भी निष्फल नहीं होते क्योंकि इनका अनुभव के आधार पर परीक्षण किया जा सकता है। इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पारलौकिक विषयों से सम्बद्ध वेद के अंश भी प्रमाणिक हैं क्योंकि दोनों अंशों के कर्त्ता एक ही हैं। यह तर्क ऐसे लोकों के अतिरिक्त और किसी को विश्वसनीय नहीं प्रतीत हो सकता, जो प्रथमतः अनुभव सिद्ध विषयों से सम्बद्ध वेद के समस्त मन्त्रों की अनिवार्य प्रभावोत्पादकता को स्वीकार करते हैं, और द्वितीयतः यह मानते हैं कि वेद के ऐसे अंशों तथा उन अंशों के प्रणेता एक ही हैं। इस प्रथम मान्यता को सिद्ध करना असम्भव तथा दूसरी को सिद्ध करना तो असम्भव से भी कठिन है।

[१७४] देखिये बैलेनटाइन. क्रि० फि०, पृ० १८६, १८९, १९१, और १९२।

वेद के नित्यत्व के विरुद्ध एक ऐसी आपत्ति की गई है जिसका जैमिनि ने प्रतिवाद करने का प्रयास किया है। आपत्ति यह कि वेद में विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख होने के कारण यह ऐसे व्यक्तियों के पूर्व वर्तमान नहीं रहे हो सकते जिनके कार्यों का इनमें वर्णन है। अतः वेद कालगत है। जैसा कि हम ऊपर (पृ० ८२) देख चुके हैं, जैमिनि ने इन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नामों की व्याख्या के आधार पर ही इस आपत्ति का समाधान करने का प्रयास किया है। इस प्रकार यह कहा गया है कि 'बबर प्रावहणि' उस वायु की ही एक उपाधि है जो नित्य है। और ऐसा कहा गया है कि इसी समान समस्त परिस्थितियों में इसी विधि का व्यवहार करना चाहिये। एक आपत्तिकर्त्ता ने अनित्य वस्तुओं का उल्लेख करनेवाले जिस स्थल का उल्लेख किया है वह ऋग्वेद ३.५३, १४ का है, जो इस प्रकार है: "तुम्हारे लिये गायें कीकटों के बीच क्या कर रही हैं?" इत्यादि। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ मीमांसा सूत्रकार ने यह दिखाने का प्रयास किया होता कि 'कीकटों' से किसी नित्य प्राणी का तात्पर्य है। किन्तु निरुक्तकार यास्क, जो इस प्रकार के किसी सूक्ष्मान्वेषण में अभ्यस्त नहीं हैं, कीकटों को अनार्य बताते हैं। यह मान लेना कठिन है कि जैमिनि ने—जब तक कि हम उन्हें, जैसे वे प्रतीत होते हैं, एक शान्त-चित्त और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक की अपेक्षा एक धर्मोत्साही नहीं मान लेते—कभी भी गम्भीरतापूर्वक ऐसी कल्पना की होगी कि उनकी यह व्याख्या-पद्धति सर्वग्राह्य हो सकेगी।[१७८] ब्राह्मणों का उद्देश्य, उनमें वर्णित अनेक घटनाओं को इस प्रकार व्यक्त करना है मानो ये घटनायें कभी-कभी वास्तव में घटी थीं और इनमें आनेवाले व्यक्ति भी वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उदाहरण के लिये, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत शतपथ और एतरेय ब्राह्मणों, तथा तैत्तिरीय संहिता, इत्यादि, की कथायें।

---

[१७८] सायण की ऋग्वेद भाष्य भूमिका मे यह कहा गया है: "मनुष्य-वृत्तान्त-प्रतिपादक' ऋचो नाराशस्य.", अर्थात "मनुष्यो के इतिहास का वर्णन करनेवाली ऋचाओं को नाराशसी कहते हैं।" निरुक्त ९-९ मे यास्क की परिभाषा भी तत्वतः ऐसी ही है। जैसा कि सायण का कथन है, यदि नाराशंसी सूक्तो की ऋचायें होते हैं, और उनकी परिभाषा के अनुसार इनका प्रयोजन मनुष्यो के इतिहास का वर्णन करना होता है, तो यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि यह अनित्य पदार्थों से ही सम्बद्ध हैं। देखिये वाजसनेयिसहिता ३ ५३ पर भाष्य मे महीधर द्वारा प्रस्तुत 'नारासशेन स्तोमेन' की परिभाषा, जिसे आगे उद्धृत किया जायगा।

और इस निष्कर्ष पर आये बिना वैदिक सूक्तों का अध्ययन भी असंभव है कि इनमें असंख्य ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिनमें इनके रचयिताओं के विश्वास के अनुसार पूर्वयुगों में पृथिवीवासी मनुष्यों ने ही भाग लिया था। (देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय भाग में प्रायः सर्वत्र ऋग्वेद से उद्धृत स्थल)।

इसमें सन्देह नहीं कि हम वैदिक सूक्तों की उत्पत्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में उसी समय उचित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं जब हम इस बात का अनुसन्धान करें कि वेद के मान्य उच्चारक ऋषियों का स्वयं अपनी उक्तियों के सम्बन्ध में क्या विचार था; और अगले अध्याय में मैं इसी विषय का अनुसन्धान करूँगा।



अध्याय २

ऋषिगण, तथा वैदिक सूक्तों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनके विचार

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय भाग, तथा गत पृष्ठों में भी मैं यह दिखा चुका हूँ कि स्वयं ऋग्वेद के सूक्त असख्य ऐसे प्रदत्त प्रदान करते हैं जिनके आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि किन परिस्थितियों में इनकी उत्पत्ति और किस प्रकार इनकी रचना हुई थी। हम देख चुके हैं कि वेद एक समाज-विशेष, विशिष्ट धार्मिक धारणाओं, और उन समस्त भौतिक तथा नैतिक प्रभावों की अभिव्यक्ति को व्यक्त करनेवाली स्वाभाविक कृतियाँ हैं जो इनकी रचना के समय व्याप्त थीं और इनके रचयिताओं की मानसिक स्थिति पर प्रभाव डाला था। (देखिये ऊपर पृ० २१९ और बाद, तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम तथा द्वितीय भाग)। वेद में हमें ऐसे विचार, एक ऐसी भाषा, एक ऐसी आत्मा, और एक ऐसी छाप मिलती है जो बाद के काल के हिन्दुओं की धार्मिक कृतियों की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। ये हमारे सम्मुख अक्सर उन सरल भावाङ्कुरों को व्यक्त करते हैं जिनसे ही बाद के काल में प्रचलित पुराकथात्मक धारणाओं का विकास हुआ—ऐसे अंकुर जिनका अनेक दशाओं में अत्यन्त कल्पनात्मक और अपरिमित विकास यह सिद्ध करता है कि पुरातन काल की सरलता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी और अत्यन्त सुन्दर तथा निःसीम कल्पनाओं ने उनका स्थान ले लिया था। इनके द्वारा हमें उस भूभाग का भी एक अत्यन्त स्पष्ट सकेत मिलता है जहाँ इनकी रचना हुई थी। इनके द्वारा यह पता लगता है कि अपने चतुर्दिक शत्रुओं (जिनमें से कुछ, सम्भवत. भाषा और जाति दोनों की दृष्टि से भिन्न थे) के साथ युद्ध करती हुई आर्य जातियाँ पूर्व और दक्षिण की ओर अग्रसर हो रही थीं। इनके द्वारा हमें विशेष प्रकार की स्तुतियों के भी उदाहरण मिलते हैं। इनमें सुरक्षा और विजय की ऐसी स्तुतियाँ भी हैं जिनका उन स्थितियों में रहनेवाले लोगों के लिये अपने उपास्य देवों को सम्बोधित करना स्वाभाविक था, तथा साथ ही साथ, सामान्य प्रकृति की स्तुतियाँ भी हैं जो मानव सुख-सुविधा के लिये देवों को समर्पित की गई हैं। वेद के द्वारा हमें एक ऐसे वर्ग के उपास्य देवों (जो यदि सर्वथा नहीं तो प्रमुखतः पञ्चभूतों के तथा प्रकृति अथवा तर्क के क्षेत्र की विभिन्न शक्तियों के मूर्तीकरण हैं) का भी पता

लगता है जिनका महत्त्व बाद के भारतीयों की दृष्टि में, क्रमशः, कम होता गया, और नवीन गुणों तथा अनेक दशाओं में नवीन उपाधियों से विभूषित एक भिन्न प्रकार के देवों ने जिनका स्थान ले लिया।

वैदिक सूक्तों के ये गुण हमें इन्हें इनसे सम्बद्ध चारणों अथवा अन्य प्राचीन रचयिताओं के विचारों, भावों, और आकांक्षाओं के स्वाभाविक प्रतिनिधि तथा अभिव्यक्ति मानने के लिये प्रचुर आधार प्रदान करते हैं; जब कि इनकी भाषा-शैली का पुरातन रूप, और इनका प्रतिपादन तथा इनके प्रयोगों का विधान करनेवाले कर्मकाण्डी साहित्य में इनकी भाषा को नित्य कहा जाना, इस शंका के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ता कि ये भारतीय धर्म-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन हैं।

जैसा कि मैं दिखा चुका हूँ, स्वयं वैदिक सूक्तों से ही हम यह भी जान सकते हैं कि इनमें से कुछ नवीन और कुछ अपेक्षाकृत प्राचीन हैं; ये कवियों की अनेक पीढ़ियों की कृतियाँ हैं; इनकी रचना सम्भवतः अनेक शताब्दियों तक होती रही; तथा यह भी कि कुछ स्थलों पर इनके रचयिताओं ने इन्हें अपनी बुद्धि की उपज कहा है, जब कि अन्य स्थलों पर वे या तो यह कहते प्रतीत होते हैं कि स्वय इनके शब्दों में अलौकिकता है, अथवा इनकी रचना किसी दिव्य प्रेरणा या सहायता से हुई है।

खण्ड १—वैदिक संहिताओं के ऐसे स्थल जो प्राचीन और आधुनिक के रूप में ऋषियों का विभेद करते हैं।

सूत्रकारों द्वारा स्वयं अपने लिये, पूर्वकाल के सूक्तद्रष्टा ऋषियों के लिये, तथा साथ ही साथ, विभिन्न प्रकार की दिव्य उपासना का प्रतिपादन करने वाले अपने समकालीन लोगों के लिये भी, जिन उपाधियों अथवा विशेषणों का प्रयोग किया गया है वह इस प्रकार हैं: ऋषि, कवि, मेधाविन्, विप्र, विपश्चित्, वेधस्, मुनि, इत्यादि। वर्टॉलिङ्क और रॉथ के कोश में 'ऋषियों' की ऐसे व्यक्तियों के रूप में परिभाषा की गई है, "जो अकेले अथवा सहगान के रूप में अपने लिये अथवा दूसरों के लिये, गायनों तथा कृत्रिम भाषा में देवों का आवाहन करते थे"; और इस शब्द को मुख्यतः "ऐसे पुरोहित-चारणों का द्योतक कहा गया है जो इस कला को अपना व्यवसाय बना लेते थे।" 'कवि' शब्द का अर्थ 'बुद्धिमान' अथवा 'कवि' ही है; और आधुनिक संस्कृत में इसका साधारणतया बाद का ही आशय अधिक प्रचलित है। 'विप्र' का 'बुद्धिमान',

और वाद की संस्कृत में 'ब्राह्मण' अर्थ है। 'मेधाविन्' का अर्थ 'तीक्ष्ण बुद्धि' है, तथा 'विपश्चित्' और 'वेधस्' का 'बुद्धिमान' अथवा 'विद्वान्'। आधुनिक संस्कृत में 'मुनि' एक 'तपस्वी' अथवा 'भक्त' का द्योतक है। इसका ऋग्वेद में बहुत अधिक प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी, ८.१७,१३ में मिलता है।

ऋग्वेद का निम्न स्थल या तो समकालीन ऋषियों तथा अपेक्षाकृत प्राचीन ऋषियों के बीच स्पष्ट विभेद, अथवा इनमें से एक या दूसरे वर्ग का ही उल्लेख करते हैं। ऋषियों की यह क्रमगत परम्परा ऋग्वेद के ऐतिहासिक तत्वों में से एक है। स्वयं ऋषियों ने ही यह स्वीकार किया है उनके समय के पूर्व भी अनेक लोग हो चुके थे और अनेक घटनायें घट चुकी थीं, जिसका तात्पर्य हुआ कि यह सब लोग काल की सीमा से बाहर नहीं थे। इस प्रकार स्वय वेद के साक्ष्य के आधार पर ही जैमिनि के इस कथन (देखिये ऊपर पृ० ८५ और बाद) का प्रतिवाद हो जाता है कि वेद में केवल नित्य और पूर्व-स्थित वस्तुओं मात्र का ही उल्लेख है।

यदि अपने अनुसन्धान के इस विषय के अन्तर्गत मैंने आवश्यकता से अधिक स्थलों का उद्धरण दिया है, तो इसका उद्देश्य यही दिखाना है कि मेरे मत के पक्ष में संहिताओं से प्रचुर प्रमाण दिये जा सकते हैं।[1]

अग्निः पूर्वेभिर् ऋषिभिर् ईड्यो नूतनैर् उत। स देवान् एह वक्षति (ऋग्वेद १.१,२)।

"पूर्वकाल में जिसकी ऋषियों ने उपासना की थी तथा अब भी जिसकी ऋषिगण स्तुति करते हैं, वही अग्नि देवों को यहाँ (यज्ञ में) बुलाते हैं।"

'पूर्वेभि.' शब्द की सायण ने इस प्रकार व्याख्या की है: "पुरातनैर् भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिर् ऋषिभिः", अर्थात् "भृगु, अङ्गिरस् प्रभृत पुरातन ऋषिगण", इत्यादि। और 'नूतनै.' की 'इदानीन्तनैर् अस्माभिर् अपि' (आधुनिक समय के हम लोगों द्वारा भी) के रूप में व्याख्या है। देखिये निरुक्त ७.१६ भी।

प्रियमेध-वद् अत्रि-वज् जातवेदो विरूप-वत्। अङ्गिरस्-वद् महि-व्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधि हवम्। महि-केरवः ऊतये प्रिय-मेधाः अहूषत (ऋग्वेद १ ४५,३-४)।

---

[1] प्रस्तुत तथा बाद के खण्डो मे उद्धृत स्थलो के अनुवाद के परिमार्जन मे मैं प्रो० ऑफरेख्त की सहायता के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। फिर भी, यत. जिस विषय को सिद्ध करने के लिए इन स्थलो का उद्धरण दिया गया है उसकी दृष्टि से उद्धृत स्थल अधिकाशतः स्पष्ट हैं, अत' किसी अन्य विषय की दृष्टि से यदि मेरी त्रुटियाँ रह भी गई हो तो उनका विशेष महत्त्व नही है।

"हे महान् कर्मवाले (अग्नि देवता), जिस प्रकार तुमने प्रियमेध, अत्रि, विरूप, और अङ्गिरस् का आवाहन सुना था, उसी प्रकार अब प्रस्कण्व के आवाहन को भी सुनो। स्तुतियों के गायन में प्रवीण प्रियमेधों ने तुम्हें (अग्नि को) आहूत किया था।"

यहाँ तीसरी ऋचा में प्रस्कण्व का वर्तमान होने के रूप में, तथा प्रियमेध, अत्रि, विरूप, और अङ्गिरस का पूर्वकाल में हुये होने के रूप में उल्लेख है। फिर भी, चौथी ऋचा में प्रियमेध के वंशजों को वर्तमान बताया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अन्य तीन भी अलग-अलग परिवारों के ही नाम हैं। ऋग्वेद ३.५३,७ में 'विरूपों' का उल्लेख प्रतीत होता है, और ८.६४,६ (जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा) में एक विरूप को सम्बोधित किया गया है। ५.२२,४ में अत्रियों का उल्लेख है।

ये चिद् हि त्वाम् ऋषयः पूर्वे ऊतये जुहूरे इत्यादि (ऋग्वेद १.४८,१४)।

"प्राचीन ऋषिगण, जिन्होंने तुम्हें अन्न और रक्षा के लिये बुलाया था," इत्यादि।

याम् अथर्वा मनुष् पिता दध्यङ् धियम् अत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथा इन्द्रे उक्था समग्मत इत्यादि (ऋग्वेद १.८०,१६)।

'अथर्वन्, अथवा हमारे पिता मनु, अथवा दध्यञ्च् ने जो कर्म किये, उनकी हवियाँ और स्तुतियाँ इन्द्र में एकत्रित हुईं," इत्यादि।

आहुर् विप्रासः अश्विना पुराजः (ऋग्वेद १.११८,३)।

"हे अश्विन, प्राचीन ऋषि (विप्र) कहते हैं", इत्यादि।

आ मे अश्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः (ऋग्वेद १.१३१,६)।

"इस आधुनिक ऋषि (वेधस्) की स्तुतियों को सुनो, इस आधुनिक ऋषि की।"

दध्यङ् ह मे जनुषम् पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर् मनुर् विदुर् इत्यादि (ऋग्वेद १.१३९,९)।

"पूर्वसमय के दध्यञ्च्, अङ्गिरस्, प्रिमेध, कण्व, अत्रि, और मनु मेरे जन्म को जानते हैं।"

यथा पूर्वेभ्यो जरितृभ्यः इन्द्र मयः इव आपो न तृष्यते बभूथ। ताम् अनु त्वा निविदं जोहावीमि इत्यादि (ऋग्वेद १.१७५,६)।

"हे इन्द्र ! जिस प्रकार तुमने प्राचीन स्तोताओं को सुख दिया, उसी प्रकार प्यासे को जल देने के समान मुझे भी सुख दो। मैं तुम्हारा बार-बार आह्वान करता हूँ," इत्यादि।

वि यो ररप्श ऋषिभिर् नवेभिर् वृक्षो न पक्वः सृण्यो न जेता। मर्यो न योषाम् अभि मन्यमानो अच्छा विवक्मि पुरुहूतम् इन्द्रम् (ऋग्वेद ४.२०,५)।

"स्त्री की कामना रखनेवाले व्यक्ति की भाँति उस इन्द्र को यहाँ बुलाता हूँ जो पके वृक्ष के तथा शस्त्र-कुशल[२] विजेता के समान वीर और नवीन ऋषियों द्वारा पूजित होते हैं।"

तम् प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्राः दधिरे मन्द्र-जिह्वम् (ऋग्वेद ४.५०,१)।

"उन विशिष्ट जिह्वावाले और प्रसन्नता प्रदान करनेवाले (बृहस्पति) को प्राचीन ऋषियों ने पुरोहित पद पर स्थापित किया।"

न ते पूर्वे मघवन् न अपरासो न वीर्यं नूतनः कश्चन आप (ऋग्वेद ५.४२, ६)।

"हे मघवन, न तो कोई पुरातन, न कोई उनके पश्चात् होनेवाला, और न कोई नवीन पराक्रमी ही तुम्हारी समता कर सकता है।"

के उ नु ते महिमनः समस्य अस्मत् पूर्वे ऋषयो अन्तम् आपुः। यद् मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास् तन्वाः स्वायाः (ऋग्वेद १०.५४,३)।

"हमारे पूर्व के ऋषियों में से भी किसने तुम्हारी महिमा का आदि-अन्त पाया है? क्योंकि तुमने अपने माता-पिता (आकाश-पृथिवी) को स्वयं अपने ही शरीर से प्रकट किया है।"

यथा चित् पूर्वे जरितारः आसुर् अनेद्याः अनवद्या अरिष्टाः (ऋग्वेद ६.१९,४)।

जिस प्रकार (इन्द्र के) प्राचीन स्तोता पाप-रहित, अहिंसित और अनिन्द्य थे उसी प्रकार हम भी हों।"

इदा हि ते वेविषतः पुराजाः प्रत्नासः आसुः पुरुकृत् सखायः। ये मध्यमासः उत नूतनास उतावमस्य पुरुहूत बोधि (ऋग्वेद ६.२१,५)।[३]

---

[२] प्रो० ऑफरेख्त का विचार है कि 'सृण्यो न जेता' का सम्भवतः "हँसियो का विजेता" (पुरस्कार के रूप मे) अर्थ है।

[३] इस ऋचा का बेनफे के समवेद की ग्लासरी, पृ० ७६, मे अनुवाद हुआ है।

"हे बहुकार्य वाले इन्द्र ! प्राचीनकालीन अङ्गिरस् आदि ऋषि, वर्तमान-कालीन ऋषियों के समान साधक थे। मध्यकाल में भी तुम्हारे स्तोता हुये हैं। परन्तु हे इन्द्र ! तुम मुझ इस काल के साधक की स्तुति श्रवण करो।"

स तु श्रुधि इन्द्र नूतनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कारुधायः (ऋग्वेद ६.२१,१)।

"हे पराक्रमी इन्द्र ! कवि की सहायता करते हुये उस आधुनिक (ऋषि) की स्तुतियों को सुनो जो तुम्हारी स्तुति की कामना रखता है।"

तम् उ नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासः अभि वाजयन्तः इत्यादि (ऋग्वेद ६.२२,२)।

"हमारे प्राचीन पूर्वज, सात नवग्व ऋषियों ने इन्द्र को प्रवर्द्धमान करते हुये उनकी स्तुति की।"

एवा नपातो मम तस्य धीभिर् भरद्वाजाः अभ्यर्चन्ति अर्कैः (ऋग्वेद ६.५०,१५)।

"इस प्रकार मेरे पौत्र भरद्वाज-गण (मेरी ?) स्तुतियों और सूक्तों से तुम्हारी स्तुति करते है।"

त्वे ह यत् पितरश् चिद् नः इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् इत्यादि (ऋग्वेद ७.१८,१)।

"हे इन्द्र हमारे पूर्वजों ने भी तुम्हारी स्तुति के द्वारा ही समस्त धनों को प्राप्त किया।"

उतो घ ते पुरुष्याः इद् आसन् येषाम् पूर्वेषाम् अशृणोर् ऋषीणाम्। अध अहम् त्वा मघवन् जोहवीमि त्वं नः इन्द्र असि प्रमतिः पितेव (ऋग्वेद ७.२९, ४)।

"पूर्वकाल के जिन ऋषियों की स्तुतियों को तुमने सुना वह भी मनुष्य योनि में उत्पन्न हुये थे। हे मघवन, मैं पुनः पुनः तुम्हारा आवाहन करता हूँ। तुम पिता के समान ही हमारा हित करनेवाले हो।"

"ते चिद् हि पूर्वे कवयो गृणन्तः पुरो मही दधिरे देवपुत्रे (ऋग्वेद ७.५३, १)।

"स्तुति करते हुये प्राचीन कवियों ने उन दो विस्तीर्ण (आकाश और पृथिवी) को आगे प्रतिष्ठित किया जिनके ही पुत्र देवगण हैं।"

ते इद् देवानां सधमादः आसन् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्य-मन्त्राः अजनयन् उषासम् (ऋग्वेद ७.७६, ४)।

"वे प्राचीन पवित्र ऋषि देवों के आनन्द में भागी हुये। हमारे पितरों ने छिपे प्रकाश को ढूंढा; उन्होंने सत्य-मन्त्रों से उपस् को प्रकट किया।"

कुविद् अङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवाः अनवद्यासः आसन्। ते वायवे मनवे बाधिताय अवासयन्न्[४] उपसं सूर्येण (ऋग्वेद ७.९१, १)।

"वे देवता जो स्तुति से समृद्ध हुये थे निःसन्देह सर्वथा आक्षेपरहित थे। उन्होंने सकटग्रस्त मनु के उद्धार और वायु को हवि प्रदान करने के लिये सूर्य और उपस् को प्रकाशित किया।"

श्यावाश्वस्य सुन्वतस् तथा शृणु यथा अशृणोर् अत्रेः कर्माणि कृण्वतः (ऋग्वेद ८.३६, ७)

"यज्ञानुष्ठान करनेवाले महर्षि अत्रि की स्तुति के ही समान, सोम का अभिषव करनेवाले श्यावाश्य की भी स्तुति को सुनो।"[५]

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ऋग्वेद ९.९६, ११)।

"हे पवित्र सोम, कर्मों मे चतुर हमारे पूर्व-पुरुषों ने तुम्हारे सहयोग से ही यज्ञादि कर्म किये थे।"

त्वे सोम प्रथमाः वृक्त-बर्हिषो महे वाजाय श्रवसे धियं दधुः (ऋग्वेद ९.११०, ७)।

पूर्वकाल के (पुरोहितों ने) कुश छेदन के बाद, हे सोम! बल और अन्न के लिये अपनी बुद्धि को तुम्हारे आश्रित किया।"

इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः (ऋग्वेद १०.१४, १५ = अथर्ववेद १८.२, २)?

"पूर्वकाल में जिन ऋषियों ने हमें मार्ग दिखाया था उनको हम नमस्कार करते हैं।" (यह सिद्ध करने के लिये भी इस ऋचा का प्रयोग किया जा सकता है कि वैदिक काल के अन्त में स्वयं ऋषिगण भी पूजा के पात्र हो गये थे)।

वसिष्ठासः पितृवद् वाचम् अक्रत देवान् इळानाः ऋषिवद्। इत्यादि (ऋग्वेद १.६६,१४)।

"पूर्वजों की भाँति, ऋषियों की भाँति, वसिष्ठ के वंशजों ने भी मंगल-कामना करते हुये देवताओं का पूजन किया।"

---

[४] देखिये २ 'वस्' शब्द के अन्तर्गत बेवफे की सामवेद-ग्लॉसरी।

[५] तुलना कीजिये ८.३५, १९, ८.३७, ७।

ऋग्वेद १०.६७,१ का एक बाद के खण्ड में उद्धरण दिया जायगा।

त्वम् अहर्यथाः उपस्तुतः पूर्वेभिर् इन्द्र हरिकेश यज्वभिः (ऋग्वेद १०.९६,५)।

"हे हरिकेश इन्द्र ! जब प्राचीन ऋषियों ने तुम्हारी स्तुति की तब तुमने आनन्द प्राप्त किया।"

त्वाम् पूर्वे ऋषयो गीर्भिर् आयन् त्वाम् अध्वरेषु पुरुहूत विश्वे (ऋग्वेद १०.९८,९)।

"प्राचीन ऋषियों ने स्तुति करते हुये तुम्हारे पास आगमन किया। हे बहुतों द्वारा आहूत, सभी मनुष्य यज्ञ के समय तुम्हारी ओर गमन करते हैं।"

इमौ ते पक्षाव् अजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांसि अपहंसि अग्ने। ताभ्याम् पतेम सुकृताम् उ लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः (वाजसनेयि संहिता १८.५२)।

"हे अग्नि, तुम्हारे जो जरा-रहित और उड़नशील पंख हैं, जिनसे तुम राक्षसों का वध करते हो, उन्हीं पंखों के द्वारा हम, पुण्यात्माओं के उस लोक को प्राप्त हों जिस लोक में हमारे पूर्वपुरुष ऋषिगण जा चुके हैं।" (यह ऋचा शतपथ ब्राह्मण ९.४,४,४, में उद्धृत है)।

जैसा कि ऋग्वेद १.२ की भाष्य भूमिका में सायण ने कहा है, इन प्राचीन ऋषियों के अन्तर्गत भृगु, अङ्गिरस्, तथा कुछ अन्य जिनके नामों का उल्लेख नहीं है, आते हैं। एक अन्य स्थल पर हमें अथर्वन्, मनु, दध्यञ्च्, तथा अन्य का उल्लेख मिलता है। यहाँ मैं इन ऋषियों के किसी विशेष विवरण की विवेचना नहीं करूँगा। भृगु सम्बन्धी कुछ उद्धरणों के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग का सन्दर्भ दूँगा; मनु से सम्बद्ध विभिन्न स्थल भी प्रथम भाग, तथा द्वितीय में भी मिल सकते हैं। अथर्वन्, तथा साथ ही साथ, अङ्गिरस् के सम्बन्ध में प्रो० गोल्डस्टूकर का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश, और इन्हीं ऋषियों तथा दध्यञ्च् के लिये बॉटलिङ्क-रॉथ का संस्कृत-जर्मन कोश देखा जा सकता है।

खण्ड २—वेद के ऐसे स्थलों के उद्धरण जहाँ अपेक्षाकृत प्राचीन तथा आधुनिक सूक्तों के बीच विभेद किया गया है।

मैं इस खण्ड में, जिन स्थलों का उद्धरण देना चाहता हूँ उनसे यह स्पष्ट होगा कि ऐसे सूक्तों को, जिन्हें ऋषियों ने देवों को सम्बोधित किया है, अक्सर

नवीन कहा गया है, जब कि कभी-कभी कुछ अन्य प्राचीन सूक्तों का भी उल्लेख है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषियों का ऐसा विचार था कि, प्राचीन और सम्भवतः रूखी स्तुतियों को ही दुहराने की अपेक्षा, नवीन तथा अधिक विस्तृत और सुरचित सूक्तों द्वारा स्तुति करने पर देवगण अधिक प्रसन्न होंगे।

फिर भी, किसी रचयिता द्वारा किसी सूक्त का नवीन कहा गया होना हमें किसी संग्रह में आनेवाले अन्य सूक्तों की अपेक्षा उसका काल निर्धारण करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं करता, क्योंकि, जैसा कि हम देखेंगे, 'नवीन' विशेषण वेदों में सर्वत्र अनेक सूक्तों के लिये प्रयुक्त हुआ है, और अक्सर यदि किसी सूक्त को नवीन नहीं भी कहा गया है तो भी वह वास्तव में अपने आस-पास के अन्य सूक्तों की अपेक्षा नवीन हो सकता है। फिर भी, जब कोई ऋषि अपनी ही अभिव्यक्ति को नवीन कहता है तो हमारे लिये यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि वह ऋषि उसी प्रकार के अनेक अन्य अपेक्षाकृत प्राचीन गीतों से भी परिचित है। विभिन्न सूक्तों का सापेक्षिक काल-निर्धारण, उनकी भाषा, शैली, छन्द, विचार, और सामान्य विषयवस्तु द्वारा प्रस्तुत अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ही किया जा सकता है; और हमें, निःसन्देह यह आशा है कि ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों का कालगत वर्गीकरण करने की दिशा में क्रमशः आलोचनात्मक विद्वानों के अनुसन्धानों द्वारा पर्याप्त प्रगति होगी।

ऋषियों द्वारा उच्चरित सूक्तों, स्तुतियों, अथवा प्रशस्तियों को अनेक प्रकार के नाम दिये गये हैं, जैसे ऋच्, सामन्, यजुष्, ब्रह्मन्, अर्क, उक्थ, मन्त्र, मन्मन्, मति, मनीषा, सुमति, धी, धीति, धिष्णा, स्तोम, स्तुति, सुष्टुति, प्रशस्ति, शंस्, गिर्, वाच्, वचस्, नीथ, निविद्, इत्यादि।

स नः स्तवानः आभर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीम् इषं। (ऋग्वेद १.१२,११)।

"नवीन[६] स्तोत्रों से स्तुति किये जाते हुये तुम, हमको धन, पुत्र, और अन्न प्रदान करो।" (सायण ने नवीयसा की पूर्वकैट् अप्य् असम्पदितेन गायत्रेण, अर्थात् 'ऐसा सूक्त जिसे पूर्व ऋषियों तक ने नहीं बनाया' के रूप में व्याख्या की है)।

इमम् ऊ षु त्वम् अस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्रवोचः (ऋग्वेद १.२७,४)।

---

[६] तुलना कीजिये, सास्स ३३, ३, ४०, ३; ९६, १; ९८, १, १४४, ९; १४९, १, और इसिया, ४२, १०।

"हे अग्नि हमारे इस हवि, इस नवीन स्तोत्र का देवताओं के सम्मुख वर्णन करो।"

तं नव्यसी हृदः आ जायमानम् अस्मत् सुकीर्त्तिर् मधुजिह्वम् अश्याः। यम् ऋत्विजो वृजने मानुषासः प्रयस्वन्तः आयवो जीजनन्त (ऋग्वेद १.६०,३)।

"हृदय से उत्पन्न हमारी नवीन स्तुतियाँ उन मधुर जिह्वा अग्नि को उनके जन्म के समय प्राप्त हों, जिन्हें मनु वंशियों ने हवियों से उत्पन्न किया।" (देखिये बाद के पृष्ठ पर ३.३९,१ को, और १.१७१,२ तथा २.३५,२ को भी जिनका अगले खण्ड में उद्धरण दिया जायगा।

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयम् भगम् मित्रम् अदितिं दक्षम् अस्रिधम् इत्यादि (ऋग्वेद १.८९,३)।

"भग, मित्र, अदिति, दक्ष, अस्रिध का प्राचीन स्तुतियों से आह्वान करते हैं।" इत्यादि। (पूर्वकालीनया। नित्यया। निविदा। वेदात्मिकया वाचा, अर्थात् 'एक प्राचीन, नित्य, सूक्त—एक वेदवाक्य')।

स पूर्वया निविदा कव्यता आयोर् इमाः प्रजाः अजनयद् मनूनाम् (ऋग्वेद १.९६,२)।

"एक प्राचीन स्तुति, आयु की काव्यकृति, से अग्नि ने मनुओं की प्रजा को प्रकट किया।"[७]

स नो नव्येभिर् वृष-कर्मन्न् उक्थैस् पुरां दर्त्तः पायुभिः पाहि शग्मैः (ऋग्वेद १ १३०,१०)।

'हे पराक्रमी, शत्रु-दुर्ग भञ्जक इन्द्र! तुम नये स्तोत्रों और सहायताओं द्वारा हमारी रक्षा करो।"

प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिम् अग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे (ऋग्वेद १.१४३,१)।

"मैं बल के पुत्र अग्नि को एक नवीन सूक्त, एक वाच् द्वारा उच्चरित विचार, भेंट करता हूँ।"

तद् अस्मै नव्यम् अङ्गिरस्-वद् अर्चत इत्यादि (ऋग्वेद २.१७,१)।

"अङ्गिरस् के समान नवीन स्तुतियों से इन्द्र की स्तुति करो।" ('नवीन' अर्थात् अन्येष्व् अदृष्ट-पूर्वम्, सायण)।

हरी नु कं रथे इन्द्रस्य योजम् आयै सूक्तेन वचसा नवेन। मो षु त्वाम् अत्र बहवो हि विप्राः नि रीरमन् यजमानासो अन्ये (ऋग्वेद २.१८,३)।

---

[७] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण का प्रो० हॉग का अनुवाद, पृष्ठ १४३।

"इन नवीन और सुव्यक्त स्तोत्रों द्वारा मैंने इन्द्र के रथ में अश्व संयोजित[८] किये, जिससे वह यहाँ आयें। अन्य विद्वान् स्तोता, जिनकी संख्या अनेक है, तुम्हें यहाँ आने से न रोकें।"

स इमाम् अविड्ढि प्रभृतिं यः ईशिषे। अया विधेम नवया महा गिरा (ऋग्वेद २.२४,१)।

"तुम, जो विश्व के अधीश्वर हो, हमारी स्तुति को स्वीकार करो, हम इस नवीन और महान स्तोत्र द्वारा तुम्हारा पूजन करते हैं।"

एता ते अग्ने जनिमा सनानि प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम् (ऋग्वेद ३.१,२०)।

"हे पुरातन अग्नि, हमने इन प्राचीन और नवीन स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति की।" (तुलना कीजिये बाद के खण्ड में उद्धृत ऋग्वेद ८. ८४,५)।

यः स्तोमेभिर् वावृधे पूर्व्येभिर् यो मध्यमेभिर् उत नूतनेभि (ऋग्वेद ३.३२,१३)।

"पुरातन, मध्यकालीन, तथा नवीन स्तोत्रों से जो इन्द्र वृद्धि प्राप्त करते है।"

१. इन्द्रम् मतिर् हृदः आ वच्यमाना अच्छा पतिं स्तोमतष्टा जिगाति। आ जागृविर् विदथे शस्यमाना इन्द्र यत् ते जायते विद्धि तस्य। २. दिवश् चिद् आ पूर्व्या जायमाना वि जागृविर् विदथे शास्यमाना। भद्रा वस्त्राणि अर्जुना वसाना सा इयम् अस्मे सनजा पित्र्या धीः (ऋग्वेद ३.३९,१-२)।

"स्तुति से सम्पादित और हृदय से उच्चरित यह चैतन्य स्तोत्र यज्ञ के समय उच्चरित होने पर इन्द्र के पास जाते हैं : हे इन्द्र ! जो स्तुति मैंने तुम्हारे लिये उत्पन्न की है उसे स्वीकार करो। सूर्योदय से भी पूर्व उत्पन्न होकर यज्ञ में उच्चरित, चैतन्य, उज्ज्वल परिधानों से युक्त, यह हमारी प्राचीन पूर्वजों से प्राप्त स्तुति है।" (सायण ने पित्र्या की पितृ-क्रमागता के रूप में व्याख्या की है)।

इयं ते पूषन् आघृणे सुष्टुतिर् देव नव्यसि। अस्माभिस् तुभ्यं शस्यते (ऋग्वेद ३.६२,७)।

---

८ तुलना कीजिये 'वाचो युजा हरी' (ऋग्वेद ८.४५,३९; ८ ८७,९), 'ब्रह्म-युज्' (ऋग्वेद १ १७७,२, ३ ३५,४, ८.१,२४, ८ २,२७, ८ १७,२), और 'मनोयुज्' (ऋग्वेद १.१४,६; १.५१,१०, ४ ४८,४; ५ ७५,६, ८ ५,२)।

"हे दिव्य और प्रकाशमान् पूषन्, इस नवीन स्तुति का हम तुम्हारे लिये उच्चारण करते हैं।"

प्र सू महे सुशरणाय मेधां गिरम् भरे नव्यसीं जायमानाम् (ऋग्वेद ५.४२,१३)।

"मैं महान रक्षक (इन्द्र) को एक तत्काल रचित स्तुति समर्पित करता हूँ।"

यत् पूर्व्यम् मरुतो यच् च नूतनं यद् उद्यते वसवो यच् च शस्यते। विश्वस्य तस्य भवथ नवेदसह् (ऋग्वेद ५.५५,८)।

"हे मरुद्गण! समस्त उच्चरित स्तुतियों, वसुओं में जो कुछ प्राचीन है और जो कुछ आधुनिक है उसे जानो।"

...सुवीरं त्वां स्वायुधं सुवज्रम् आ ब्रह्म नव्यम् अवसे ववृत्यात् (ऋग्वेद ६.१७,१३)।

"हे सुवीर, अपने आयुध वाले और वज्रधारी इन्द्र! हमारे अभिनव स्तोत्र हमारी रक्षा के लिये तुम्हें प्रेरित करें।" ("नवीन, अर्थात् जिनकी पहले कभी किसी ने रचना न की हो : स्तोत्र, अर्थात् हमारे द्वारा निर्मित सूक्त" : नूतनम् अन्यैर् अकृत पूर्वम्। ब्रह्म अस्माभिः कृतं स्तोत्रम्—सायण)।

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठम् प्रत्नम् प्रत्न-वत् परितंसयध्यै (ऋग्वेद ६.२२,७)।

"मैं प्राचीनों की भाँति तुम्हें, जो प्राचीनवत् हो, एक नवीन स्तुति से उद्दीप्त करता हूँ।"

सं च त्वे जग्मुर् गिरः इन्द्र पूर्वीर् वि च त्वद् यन्ति विभ्वो मनीषाः। पुरानूनं च स्तुतयः ऋषीणाम् पस्पृध्रे इन्द्रे अधि उक्थार्काः (ऋग्वेद ६.३४,१)।

"हे इन्द्र! तुम में अनेक स्तोत्र सगृहीत हैं; तुमसे अनेक विचार उत्पन्न होते हैं। पूर्व समय में, तथा अब भी, ऋषियों के सूक्त और मन्त्र आदि स्पर्धा-पूर्वक इन्द्र के पास जाते हैं।"

यः पूर्व्याभिर् उत नूतनाभिर् गीर्भिर् वावृधे ग्रिणताम् ऋषीनाम् (ऋग्वेद ६.४४,१३)।

"वह इन्द्र जो स्तोताओं के प्राचीन तथा अभिनव स्तोत्रों द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं।" (देखिये ऋग्वेद ३.३२,१३)।

आ सखायः सुबर्दुघां धेनुम् अजध्वम् उप नव्यसा वचः।[१] (ऋग्वेद ६.४८, ११)।

---

[१] ऋग्वेद ८ ३९,२ के इन शब्दो की तुलना कीजिये 'नि अग्ने नव्यसा वचस् तनूषु शंसम् एषम्'।

"हे सखा ! सुदुग्धा गाय को एक अभिनव स्तोत्र से उधर भेजो ।"

स्तुपे जन सुव्रतं नव्यसीभिर् गीर्भिर् मित्रावरुणा सुम्नयन्ता (ऋग्वेद ६.४९,१)।

"मैं नवीन स्तोत्रों से उपकारशील मित्र और वरुण के साथ सुव्रती लोगों की स्तुति करता हूँ ।" ('सुव्रती जाति, अर्थात् दिव्य जाति, अथवा देवों का का साथ': सुकर्माणं जनं दैव्यं जनं देवसङ्घम्—सायण)।

अभि त्यं वीरं गिर्वणसम् अर्च इन्द्रम् ब्रह्मणा जरितर् नवेन (ऋग्वेद ६,५०, ६)।

"हे स्तोता ! वीर इन्द्र का नवीन सूक्त से स्तवन करो, जो स्तुतियों से होते हैं ।"

४. ता नव्यसो जरमाणस्य मन्म उप भूषतो युयुजानसप्ती इत्यादि ।
५. ता वल्गू दस्रा पुरुशाकतमा प्रत्ना नव्यसा वचसा विवासे (ऋग्वेद ६.६२,४-५)।

"सन्नद्ध अश्वों के साथ ये अश्विनद्वय अपने नवीन स्तोता की स्तुतियों के पास आगमन करें। मैं इन उज्ज्वल, शक्तिशाली, सर्वाधिक पराक्रमी, और पुरातन (अश्विनी कुमारों) की नवीन सूक्त द्वारा स्तुति करता हूँ ।"

ऋग्वेद ७.३५,१४ को अगले खण्ड में उद्धृत किया जायगा ।

प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिर् गीर्भिः कृणुध्वम् सदने ऋतस्य इत्यादि (ऋग्वेद ७ ५३,२)।

"यज्ञ-स्थल पर नवीन सूक्तों से पूर्वजों, पितरों (अर्थात् आकाश और पृथ्वी) का पूजन करो," इत्यादि ।

भूरि चक्र मरुतः पित्र्याणि उक्थानि या वः शस्यन्ते पुरा चित् (ऋग्वेद ७.५६,२३)।

"हे मरुद्गण ! जब पूर्वकाल में जब हमारे पूर्वजों की स्तुतियाँ तुम्हारे लिये उच्चरित की गई थीं तब तुमने महान कर्म किये थे ।"

'' ''अभि वः आवर्त्तू सुमतिर् नवीयसी''[१०] तूय यात पिपीपवः (ऋग्वेद ७.५९,४)।

"यह अभिनव सूक्त तुम्हें इधर लायें, पान करने के इच्छुक, शीघ्र यहाँ आओ ।"

---

[१०] यही 'सुमतिर् नवीयसी', शब्द ऋग्वेद ८.९२,९ मे भी आते हैं, जहाँ इनका यही आशय नही हो सकता ।

प्र वाम् मन्मानि ऋचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन् इमानि (ऋग्वेद ७.६१,६)।

"तुम्हारी स्तुति के लिये निर्मित नवीन सूक्त स्तुतियों द्वारा तुम्हें संतुष्ट करें।"

शुचि नु स्तोमं नव-जातम् अद्य इन्द्राग्नी वृत्र-हना जुषेथम्। उभा हि वां सुहवा जोहवीमि इत्यादि (ऋग्वेद ७.९३,१)।

"वृत्र का वध करने वाले हे इन्द्र और अग्नि! आज निर्मित मेरे नवीन और पवित्र सूक्त को कृपापूर्वक ग्रहण करो। मैं तुम दोनों का बार-बार आह्वान करता हूँ, अतः तुम उसका कृपापूर्वक श्रवण करो," इत्यादि।

ताभिर् आयातम् ऊतिभिर् नव्यसीभि· सुशस्तिभिः यद् वां वृषण्वसू हुवे (ऋग्वेद ८.५,२४)।

"यतः मैं तुम्हारा नवीन स्तुतियों से आह्वान करता हूँ, अतः हे वैभवशाली देव! अपने उन्हीं रक्षा-साधनों सहित मेरे पास आओ।" (इस उद्धरण में 'नव्यसीभिः' शब्द को 'ऊतिभिः' का भी विशेषण माना जा सकता है।

अहम् प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्व-वत्। येन इन्द्रः शुष्मम् इद् दधे (ऋग्वेद ८.६,११)।

"कण्व के समान मैं अपनी स्तुति को एक प्राचीन सूक्त से अलंकृत करता हूँ, जिससे इन्द्र बल प्राप्त करते हैं।"

इमां सु पूर्व्याम् धियम् मधोर् घृतस्य पिप्युषीं कण्वाः उक्थेन वावृधुः (ऋग्वेद ८.६,४३)।

"कण्वों ने अपनी स्तुति से मधुर घृत से युक्त उस प्राचीन सूक्त को समृद्ध किया।"

इयं ते ऋत्वियावती धीतिर् एति नवीयसी सपर्यन्ती इत्यादि (ऋग्वेद ८.१२,१०)।

"यह नवीन और विधियुक्त सूक्त तुम्हारा आदर करने के लिये गमन करता है," इत्यादि।

यूनः ऊ सु नविष्ठया वृष्णः पावकान् अभि सोभरे गिरा। गाय इत्यादि (ऋग्वेद ८.२०,१९)।

"हे सोभरि! इन युवा, शक्तिशाली, और उज्ज्वल देवों का नवीन स्तोत्र से गायन करो," इत्यादि।

श्रुष्टी अग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते वि मायिनस् तपुषा रक्षसो दह (ऋग्वेद ८.२३,१४)।

"हे वीर, मनुष्यों के रक्षक, अग्नि ! मेरे इस नवीन सूक्त का श्रवण करके मायावी राक्षसों को अपने तेज से भस्म करो।"

······कशावन्ता विप्रा नविष्ठया मती। महो वाजिनाव् अर्वन्ता सचा असनम् (ऋग्वेद ८.२५, २४)।

"मैंने एक नवीन सूक्त के द्वारा इन दो, विप्रवत् और महान्, शक्तिशाली, द्रुतगामी, और कशावन्त कुमारों का स्तवन किया।"

अग्निर् वेद मर्त्तानाम् अपीच्यम्······अग्निर् द्वारा व्यूर्णुते स्वाहुतो नवीयसा (ऋग्वेद ८.३९, ६)।

"अग्नि मनुष्यों के रहस्यों को जानते हैं······नवीन सूक्त द्वारा आहूत होने पर अग्नि द्वारों को खोलते हैं।

एव इन्द्राग्निभ्याम् पितृ-वद् नवीयो मान्धातृ-वद् अङ्गिरस्-वद् अवाचि इत्यादि (ऋग्वेद ८.४०,१२)।

"अपने पितरों, और मान्धातृ, और अङ्गिरस् की भाँति ही इस प्रकार इन्द्र के लिये एक नवीन सूक्त का उच्चारण किया गया," इत्यादि।

तम् ऊ षु समना गिरा पितणां च मन्मभिः नाभाकस्य प्रशस्तिभिर् यः सिन्धूनाम् उप उदये सप्त-स्वसा स मध्यमः (ऋग्वेद ८.४१,२)।

"पितरों के सूक्तों,[11] और नाभाक की स्तुतियों के द्वारा उनका (वरुण का) सतत पूजन करो। उनकी स्तुति करो जो नदियों के जन्मस्थल पर निवास करते हैं, सात बहनों के अधिपति हैं, और मध्य में स्थित हैं।" (यह ऋचा निरुक्त १०.५ में उद्धृत है। यास्क ने नाभाक को एक ऋषि बताया है : ऋषिभिर् नाभाको बभूव)। इस स्थल का एक अनुवाद रौथ ने अपने निरुक्त में भी दिया है, जहाँ इसके पूर्व के सूक्त की इन दो ऋचाओं (८ ४०, ४.५) का भी उल्लेख है जिनमें नभाक ('नाभाक' के पूर्वज) का इस प्रकार वर्णन है : अभ्यर्च नाभाक-वद् इन्द्राग्नी यजसा गिरा

[11] यहाँ प्रयुक्त 'पितृणा च मन्मभि' शब्द ऋग्वेद १०.५७,३ (= वाजसनेयि संहिता ३ ५३) मे भी आते हैं : "मनो नु आ हुवामहे नाराशंसेन सोमेन पितृणा च मन्मभि" अर्थात् "मनुष्यो की स्तुतियो और पितरो के सूक्तो सहित सोम द्वारा मैं उसकी आत्मा को आहूत करता हूँ।" वाजसनेयि संहिता मे 'सोमेन' के स्थान पर 'स्तोमेन' है। भाष्यकार ने वहाँ 'नाराशंसेन स्तोमेन' की 'मनुष्यो की प्रशस्ति करने वाले सूक्त', और 'पितृणा च मन्मभिः' की 'पितरो की स्तुति करने वाले सूक्त के रूप मे व्याख्या की है" (पितरो यैः स्तोत्रैर् मन्यन्ते ते मन्मानस् तैर् इत्यादि)। देखिये ज० ए० सो, १८६६, पृ० ४४९ और ४५८ मे इस सूक्त का प्रो० मैक्स मूलर का अनुवाद।

प्र ब्रह्माणि नाभाक-वद् इन्द्राग्निभ्याम् इरज्यत ; अर्थात्, 'यज्ञ और स्तुति के द्वारा, नभाक की भाँति इन्द्र और अग्नि की स्तुति करो'' नभाक की भाँति अपनी स्तुतियों को इन्द्र और अग्नि की ओर भेजो।" 'सात बहनों' की व्याख्या के लिये रौथ ने निरुक्त ५.२७ (ऋग्वेद ८.५८, १२) का सन्दर्भ दिया है जहाँ सात नदियों का उल्लेख है।

अग्निः प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस् तन्वं स्वाम् कविः विप्रेण ववृधे (ऋग्वेद ८.४४, १२)

"विप्र और प्राचीन सूक्त का श्रवण करके अपने शरीर को प्रकाशित करते हुये बुद्धिमान अग्नि वृद्धि को प्राप्त हुये।"

वय घ अपूर्व्या इन्द्र ब्रह्माणि वृत्रहन्। पुरुतमासः पुरुहूत वज्रिवो भृतिं न प्र भरामसि (ऋग्वेद ८ ६६, ११)।

"हे वृत्रहन्, वज्रधारी, अनेक व्यक्तियों द्वारा आहूत इन्द्र! हम तुम्हारे अनेक स्तोता तुम्हारे वेतन-भोगियों के समान, तुम्हारे पास ऐसे नवीन सूक्त लाते हैं जैसे पहले कभी नहीं थे।"

इयं ते नव्यसी मतिर् अग्ने अधायि अस्मद् आ मन्द्र सुजात सुक्रतो अमूर दस्म अतिथे। सा ते अग्ने शन्तमा चनिष्ठा भवतु प्रिया तया वर्धस्व सुष्टुतह् (ऋग्वेद ८.७४, ७.८)।

"हे प्रसन्नचित्त सुजात, शक्तिशाली, त्रुटिरहित और मेधावी अतिथि, अग्नि! हम इस नवीन सूक्त को तुम्हें समर्पित करते हैं। यह तुम्हे प्रिय, सुखकर, और रुचिकर हो ' इसके द्वारा स्तुति होने से तुम वृद्धि को प्राप्त हो।"

...इन्द्रं गीर्भिर् हवामहे। इन्द्रम् प्रत्नेन मन्मना मरुत्वन्तम् हवामहे इत्यादि। १२ (= सामवेद २.३४०) वाचम् अष्टापदीम् अहम् नव-स्रक्तिम् ऋत-स्पृशम्। इन्द्रात् परि तन्वम् ममे (ऋग्वेद ८.७६, ५.६)।

"हम गायनों से इन्द्र का आवाहन करते हैं; हम मरुत्वन्त इन्द्र का एक प्राचीन सूक्त से आह्वान करते हैं।...हम इन्द्र के लिये एक आठ पदों, और नौ पंक्तियोंवाले, ऋत-स्पृश् स्तोत्र की रचना करते हैं।" (इस ऋचा का बेनफे ने अपने सामवेद में अनुवाद और विवेचन किया है।

नु नव्यसे नवीयसे सूक्ताय साधय पथः। प्रत्न-वद् रोचय रुचः (ऋग्वेद ९.९, ८)।

"हे सोम मेरे अत्यन्त नवीन और अभिनव सूक्त का पथ प्रशस्त करो; और पहले की भाँति ज्योति को प्रकाशित करो।"

एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यः परि। धारया पवते सुतः (ऋग्वेद ९.४२, २)।

"एक प्राचीन सूक्त से देवों के पास गिराया गया यह देवता अपनी धाराओं से पवित्र करता है।"

स प्रत्न-वद् नव्यसे विश्व-वार सूक्ताय पथः कृणुहि प्राचः इत्यादि (ऋग्वेद ९.९१, ५)।

"हे विश्ववार देवता! पहले की भाँति मेरे इस नवीन सूक्त का मार्ग प्रशस्त करो।"

तं गाथया पुराण्या पुनानम् अभि अनूषत। उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः (ऋग्वेद ९ ९९, ४ = सामवेद २ ९८३)।

"उन्होंने एक प्राचीन गाथा से पवित्र देवता की स्तुति की; और देवों के नाम से युक्त सूक्तों ने उनका वर्धन किया।" (बेनफे ने इस अन्तिम पाद का एक भिन्न रूप से अनुवाद किया है)।

... इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्व रथं न शुचयद्भिर् अङ्गैः (ऋग्वेद १० ४,६)।

"हे अग्नि तुम्हारे लिये ही यह एक नवीन स्तोत्र है: अपने उज्ज्वल भागों वाले रथ को सन्नद्ध करो।"

समानम् अस्मै अनपावृद् अर्च क्ष्मया दिवो असमम् ब्रह्म नव्यम् इत्यादि (ऋग्वेद १०.८९,३)।

"एक नवीन, उपयुक्त, और आकाश तथा पृथिवी कहीं भी जिसकी समता न हो ऐसे स्तोत्र से इन्द्र का सतत अर्चन करो।"

इमाम् प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयम् अस्मै उशते शृणोतु नः (ऋग्वेद १०.९१,१३)।

"मैं इन प्राचीन देवता को अपनी यह नवीन स्तुतियाँ सम्बोधित करूँगा, जिसकी इन्हें इच्छा है, वह हमें सुनें।"

...नव्यं नव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् इत्यादि (ऋग्वेद १०.९६,११)।

"तुम सदैव नवीन सूक्तों से आनन्द प्राप्त करते हो, जो तुम्हें प्रिय हैं," इत्यादि।

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वा उप गन्तवै उ। आभूषन्तस् ते सुमतौ नवायां वयम् इन्द्र त्वा शुनं हुवेम् (ऋग्वेद १०.१६०,५)।

"अश्व, पशु, और धन की इच्छा से हम तुम्हारा अपने पास बुलाने के लिये आवाहन करते हैं। एक नवीन सूक्त द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हुये, हे इन्द्र! हम तुम्हारा शुभ आवाहन करें।"

खण्ड ३—ऋग्वेद के ऐसे स्थल जिनमें ऋषियों ने अपने को सूक्तकार बताया है।

इस खण्ड में, मैं सर्वप्रथम, ऐसे स्थलों का उद्धरण देना चाहता हूँ जिनमें ऋषियों ने स्वयं अपने को स्पष्टरूप से सूक्तकार बताया है, और कहीं भी किसी प्रकार के अलौकिक स्रोत से प्रेरणा अथवा सहायता की चर्चा नहीं की है। तदुपरान्त मैं कुछ ऐसे स्थल उद्धृत करूँगा जिनमें, यद्यपि, सूत्र की रचना के सम्बन्ध में प्रत्यक्षतः कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि ऐसा भी कुछ नहीं जो पाठकों को इस कल्पना की ओर अग्रसर कर सके कि ऋषियों ने उनको अपने मस्तिष्क की उपज के अतिरिक्त कुछ और माना है। मैं ऐसे उद्धरणों को, जिनमें ऋषियों ने अपने कर्तृत्व को व्यक्त किया है, उन क्रियाओं के क्रम से प्रस्तुत करूँगा जिनका इस विचार को व्यक्त करने के लिये प्रयोग हुआ है। यह क्रियायें इस प्रकार हैं: (१) 'कृ' अर्थात्, 'करना'; (२) 'तक्ष' (=यूनानी τέκταινομαι) अर्थात्, 'बनाना', 'निर्माण करना' और (३) 'जन्' अर्थात् 'उत्पन्न होना', 'जन्म लेना'; तथा इनके साथ कुछ अन्य क्रियायें भी जो अपेक्षाकृत कम स्पष्ट हैं।

१. सर्वप्रथम मैं उन स्थलों का उद्धरण दे रहा हूँ जिनमें सूत्रों की रचना के लिये 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है। तुलना कीजिये ऋग्वेद ७.६१,६ जिसे गत खण्ड में ही उद्धृत किया जा चुका है)।

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिर् आसया[१३]। अकारि रत्न-धातमः (ऋग्वेद १.२०,१)।

रत्न-प्रदान करनेवाले इस सूक्त की देव-जन्माओं के लिये विप्रों ने अपने मुख से रचना की है।

एतेन अग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत् ते चकृम विदा वा (ऋग्वेद १.३१,१८)।

'हे अग्नि यह स्तुति वृद्धि को प्राप्त हो जिसकी हम लोगों ने अपनी शक्ति अथवा ज्ञान से रचना की है।'

---

[१३] पाठक इस शब्द के आशय के सम्बन्ध मे प्रो० हॉग का मत उनके 'ब्रह्म' शब्द पर जर्मन भाषा मे लिखे गये शोध-निबन्ध के पृ० ११ और बाद, मे देख सकते हैं। हॉग ने मेरे पास भी उस निबन्ध की एक प्रति भेजने की कृपा की जो मुझे उस समय प्राप्त हुई जब ये पृष्ठ मुद्रण के लिये भेजे जा रहे थे। प्रो० हॉग ने ऋग्वेद १ ८८,४,७,१०३,८, का भी, जहाँ यह शब्द आता है ऐसे स्थलो के रूप मे उद्धरण दिया है।

'''कण्वासो वाम् ब्रह्म कृण्वन्ति अध्वरे तेषां सु शृणुतं हवम् (ऋग्वेद १.४७, २)।

"कण्वगण तुम्हारे लिए एक स्तुति की रचना करते हैं; उनके आवाहन को भली प्रकार सुनो।"

एवा ते हरियोजना सुवृक्ति इन्द्र ब्रह्माणि गोतमासः अक्रन् (ऋग्वेद १.६१,१६)।

"अश्वों को संयोजित करनेवाले हे इन्द्र ! गोतमों ने तुम्हें आकर्षित करने वाले सूक्तों की इस प्रकार रचना की।"

एतानि वाम् अश्विना वीर्याणि प्र पूर्व्याणि आयवः अवोचन्। ब्रह्म कृण्वन्तो[13] वृषणा युवभ्यां सुवीरासो विदथम् आ वदेम (ऋग्वेद १.११७, २५)।

"हे अश्विनों ! तुम्हारे इन प्राचीन वीर कर्मों को मनुष्यों ने कहा। हम लोग भी, जो वीर मनुष्यों में शक्तिशाली हैं, एक सूक्त की रचना करके, हे देवो ! अपनी स्तुति का उच्चारण करें।"

एष वां स्तोमो अश्विनाव् अकारि मानेभिर् मघवाना सुवृक्ति (ऋग्वेद १.१८४,५)।

"हे मघवन अश्विनों ! मानों ने तुम्हारे लिये इस बलयुक्त स्तोत्र की रचना की।" (तुलना कीजिये, १.१६९,८; १७१,५; १८२,८; १८४,३)।

एतानि वाम् अश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदास: अक्रन् (ऋग्वेद २.३९,८)।

"इन वर्द्धक स्तुतियों की, इस स्तोत्र की, हे अश्विनों ! गृत्समदों ने तुम्हारे लिये रचना की है।"

स्वर्यवो मतिभिस् तुभ्य विप्राः इन्द्राय वाहः कुशिकासः अक्रन् (ऋग्वेद ३.३०,२०)।

"स्वर्ग की कामना से, हे इन्द्र ! कुशिकाओं ने तुम्हारी स्तुति में एक स्तोत्र की रचना की।" ('वाहः' शब्द को सायण ने 'स्तोत्र' कहा है)।

अकारि ब्रह्म समिधान तुभ्यं इत्यादि (ऋग्वेद ४.६,११)।
"हे प्रज्वलित (अग्नि), तुम्हारे लिये एक स्तोत्र की रचना की गई।

एवेद् इन्द्राय वृषभाय वृष्णो ब्रह्म अकर्म भृगवो न रथम्।.........
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धिया स्याम रथ्यः सदासाः (ऋग्वेद ४.१६,२०-२१)।

"जिस प्रकार भृगुओं ने एक रथ की रचना की, उसी प्रकार हम कामनाओं की वर्षा करनेवाले और नित्य युवा इन्द्र के लिये स्तोत्रों की रचना करते हैं। ....हे रथाश्वों के अधिपति, तुम्हारे लिये एक नवीन स्तोत्र की रचना की गई है। अपने स्तोत्र (अथवा यज्ञादि) से हम रथों तथा अक्षय सम्पत्ति से युक्त हों।"

अति वा यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यः क्रियमाणं निनित्सात्। तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्म-द्विषम् अभि तं शोचतु द्यौः (ऋग्वेद ६.५२,२)।

"हे मरुद्गण, जो कोई अपने को हमसे श्रेष्ठ मानता है, अथवा हमारे द्वारा रचित स्तोत्र की निन्दा करता है, उसका अनिष्ट हो; आकाश उस ब्रह्म-द्वेषी को जलावें।" [१४]

आदित्या रुद्राः वसवो जुषन्त (अथर्व वेद में जुपन्ताम्) इदम् ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः। शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाताः इत्यादि (ऋग्वेद ७.३५,१४)।

"इस नवीन स्तोत्र को, जिसकी हमने रचना की है, आदित्यगण, रुद्रगण और वसुगण, प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करें। अन्तरिक्ष, पृथिवी, और द्युलोक के देवता हमारी स्तुतियों को सुनें," इत्यादि।

वयं नु ते दाश्वांसः स्याम ब्रह्म कृण्वन्तः इत्यादि (ऋग्वेद ७.३७,४)।

"स्तोत्रों की रचना करके हम तुम्हारी स्तुति करें," इत्यादि।

इय वाम् ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर् ब्रह्म इन्द्राय वज्रिणे अकारि (ऋग्वेद ७.९७,९)।

"हे ब्रह्मणस्पते! इस श्रेष्ठ स्तोत्र की तुम्हारे और वज्रधर इन्द्र के लिये रचना की है।"

आयाहि कृणवाम ते इन्द्र ब्रह्माणि वर्द्धना इत्यादि (ऋग्वेद ८.५१.४)।

"इन्द्र, आओ हम ऐसे स्तोत्रों की रचना करे जो तुम्हारा वर्द्धन करते हैं," इत्यादि।

ब्रह्म ते इन्द्र गिर्वणः क्रियन्ते अनतिद्भुता। इमा जुषस्व हर्यश्व योजना या ते अमन्महि (ऋग्वेद ८. ९०, ३)।

---

[१४] इसका प्रो० हॉग ने गत टिप्पणी मे उद्धृत निबन्ध मे अनुवाद किया है।

"हे स्तोत्रों से प्रेम रखनेवाले इन्द्र ! हमने तुम्हारे लिये अनुपम स्तोत्रों की रचना की है। हे हर्यश्व ! उन स्तोत्रों को ग्रहण करो जिनकी मैंने तुम्हारे अश्वों को संयोजित करने के लिये रचना की है।"

......अध प्रियम् शूषम् इन्द्राय मन्म ब्रह्मकृतो[१५] बृहदुक्थाद् अवाचि (ऋग्वेद १०. ५४,६)।

"मन्त्रों के रचयिता बृहदुक्थ ने इन्द्र के लिये एक श्रेष्ठ और शक्तिशाली स्त्रोत्र का उच्चारण किया।[१६]

मन्द्रा कृणुध्वं धियः आ तनुध्वं नावम् अरित्रपरणीं कृणुध्वम् (ऋग्वेद १०.१०१,२)।

"हर्ष प्रदायक स्तोत्रों की रचना करो, स्तुतियों को बनाओ, डाँडों से चलने वाली नौका की रचना करो।"

ऐसा सम्भव है कि इन स्थलों में से अनेक में 'कृ' धातु का केवल ऐसे प्रयोगों के अंग्रेजी शब्द 'मेक' (बनाना) जैसा ही आशय हो : जैसे यह कहते हैं कि 'स्तुति करो' (मेक सप्लीकेशन्स), और ऐसी स्थिति में इससे 'रचना करने' की अपेक्षा 'समर्पित करना' अर्थ ही होगा। किन्तु ऋग्वेद ४.१६,२० जैसे स्थलों पर ऐसा आशय नहीं हो सकता जहाँ ऋषि ने भृगुओं[१७] द्वारा रथ की रचना करने के समान ही स्तोत्र की रचना करने की बात कही है; और अब मैं जिन स्थलों को उद्धृत करने जा रहा हूँ उनको देखते हुए तो उक्त व्याख्या सर्वथा असम्भव होगी।

---

[१५] तैत्तिरीय ब्राह्मण २ ८,८,५ के, 'ऋषयो मन्त्रकृतो मनीषिण', और ऋग्वेद ९.११४,२ के 'ऋषे मन्त्र-कृता स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयम् गिर । सोमं नमस्य राजन यो जज्ञे वीरुधाम् पतिः" (अर्थात् "मन्त्र कृतो के स्तोमो से तुम्हारे शब्दो को समृद्ध करते हुये ऋषि कश्यप ने उस राजा सोम की स्तुति की जिसके पौधों के अधिपति के रूप मे जन्म हुआ है।") की तुलना कीजिये।

[१६] प्रो० हॉग का विचार है कि यहाँ 'ब्रह्म-कृत्' से स्तोत्र का तात्पर्य है। आपने ऐसे अन्य स्थलो का भी उल्लेख किया है जहाँ यह आता है। देखिये ऊपर उद्धृत उनके निबन्ध का पृ० १२।

[१७] देखिये ऋग्वेद ५.२९,१५, और १०. ३९, १४ जिन्हे कुछ आगे उद्धृत किया जायगा और जिनमे 'कृ' और 'तक्ष्' दोनो ही धातुओ का प्रयोग हुआ है।

२. ऐसे स्थल जहाँ स्तोत्रों की रचना के लिये 'तक्ष्' धातु का प्रयोग हुआ है।

सनायते गोतमः इन्द्र नव्यम् अतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय इत्यादि (ऋग्वेद १.६२,१३)।

"गौतम के वंशज, नोधस् ने इस स्तोत्र की तुम्हारे लिये रचना की, हे इन्द्र! तुम जो पुरातन और अश्वों को सन्नद्ध करनेवाले हो," इत्यादि।

इमां ते वाचं वसुयन्तः आयवो रथं न धीरः स्वपाः अतक्षिषुः सुम्नाय त्वाम् अतक्षिषुः (ऋग्वेद १ १३०, ६)।

"धनेच्छुक मनुष्यों ने तुम्हारे लिये इस स्तोत्र की उसी प्रकार रचना की है जिस प्रकार एक चतुर कारीगर रथ बनाता है, और इस प्रकार सुख प्रदान करने के लिए वे सब तुन्हें सजाते हैं।"

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः (ऋग्वेद १.१७१,२)।

"हे दिव्य मरुद्गण! तुम्हारा यह स्तोत्र हृदय से रचा और मन से धारण किया गया है। (सायण के अनुसार अन्तिम शब्दों का अर्थ 'अनुकूल मन से तुम इसे ग्रहण करो' है)।

एवा ते गृत्समदाः शूर मन्म अवस्यवो न वयुनानि तक्षुः (ऋग्वेद २ १९,८)।

"हे शूर! पोषण प्राप्त करने की इच्छा से गृत्समदों ने उसी प्रकार एक स्तोत्र की रचना की जिस प्रकार मनुष्य रचना करते हैं।" (सायण ने 'वयुन' की 'मार्ग' के रूप में व्याख्या की है)।

इम सु अस्मै हृदः आ सुतष्टम् मन्त्रं वोचेम कुविद् अस्य वेदत् (ऋग्वेद २.३५,२)।

"हम उनके प्रति हार्दिक भावों से रचित यह स्तुति करें, क्या वह इससे अवगत नहीं होंगे?"

एतं ते स्तोमं तुवि-जात विप्रो रथं न धीरः स्वपाः अतक्षम् (ऋग्वेद ५.२,११)।

"मुझ विप्र ने, हे शक्तिशाली देवता! इस सूक्त की तुम्हारे लिये उसी प्रकार रचना की है जिस प्रकार कारीगर रथ की रचना करता है।"

इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म। वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयुः रथ न धीरः स्वपाः अतक्षम् (ऋग्वेद ५.२९,१५)।

"हे अत्यन्त पराक्रमी इन्द्र! हमने आज तुम्हारे लिये जिन नवीन स्तोत्रों की रचना की है उन सब स्तोत्रों को स्वीकार करो। धनेच्छुक मैंने अपने स्तोत्रों

को सुन्दर रूप से बने वस्त्रों के समान उसी प्रकार बनाया है, जिस प्रकार एक चतुर कारीगर रथ बनाता है।" (तुलना कीजिये ऋग्वेद ३.३०,२)।

इमा ब्रह्माणि वर्धना अश्विभ्यां सन्तु शन्तमा। या तक्षाम रथान् इव अवोचाम बृहद् नमः (ऋग्वेद ५.७३,१०)।

"जिस प्रकार कलाकार शिल्पी, रथों का निर्माण करता है, उसी प्रकार रचित हमारी पुष्टिकारक स्तुतियाँ अश्विनों के लिये स्नेहदायिनी हों; हमने बृहत नमस्कार का उच्चारण किया।"

अपूर्व्या पुरुतमानि अस्मै महे वीराय तवसे तुराय। विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांसि आसा[१८] स्थविराय तक्षम् (ऋग्वेद ६.३२, १ = सामवेद १.३२२)।

"महान, शत्रुहन्ता, वेगवान्, वज्रधारी, एवं बढ़े हुये इन्द्र के निमित्त मैंने अपने मुख से सुविस्तृत, सुखप्रद, और अपूर्व स्तोत्रों की रचना की।"

आ ते अग्ने ऋचा हविर् हृदा तष्टम् भरामसि (ऋग्वेद ६.१६,४७)।

"हे अग्नि! हम तुम्हे इस ऋचा में हृदय से रचित हवि समर्पित करते है।" (तुलना कीजिये ऋग्वेद ३.३९,१)।

एते द्युम्नेभिर् विश्वम् आतिरन्त मन्त्र ये वा अरं नर्या अतक्षन् (ऋग्वेद ७.७,६)।

"इन मनुष्यों (वसिष्ठों) ने, जिन्होंने कुशलतापूर्वक स्तोत्र की रचना की है, अपनी शक्ति से समस्त वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है।"

यो वां गर्त्तम् मनसा तक्षद् एतम् ऊर्ध्वां धीतिं कृणवद् धारयच् च (ऋग्वेद ७ ६४,४)।

"हे मित्र और वरुण! जिसने मानसिक रथ की तुम्हारे लिये रचना की, इस ऊर्ध्व स्तोत्र को धारण करे" (यही 'ऊर्ध्वा धीति.' शब्द ऋग्वेद १.११९,२ में भी आते है)।

उत ब्रह्मण्या वयं तुभ्यम् प्रवृद्ध वज्रिवो विप्राः अतक्ष्म जीवसे (ऋग्वेद ८.६,३३)।

"हे वज्रिन्! हमने, जो विप्र हैं, अपने जीवन के लिये तुम्हारे प्रति स्तोत्रों की रचना की।"

एतं वां स्तोमम् अश्विनाव् अकर्म अतक्षाम भृगवो न रथम्। नि अमृक्षाम योषणां न मर्य्ये नित्यं न सूनुं तनयं दधाना. (ऋग्वेद १० ३९,१४)।

---

[१८] 'आसा' के आशय के लिये देखिये ज० ए० सो०, १८६७, पृ० २३२ और बाद मे प्रो० मैक्स मूलर का निबन्ध; बॉटलिङ्क-रीथ का कोश, व० स्था०।

हे अश्विनों ! हमने इस स्तोत्र की तुम्हारे लिये रचना की है; हमने इसकी उसी प्रकार रचना की है जैसे भृगुओं ने रथ की रचना की। हमने पति के लिये अलंकृत वधू के समान इसका श्रृङ्गार किया है। हम इस और अपनी इन स्तुतियों के क्रम को उसी प्रकार सञ्चालित कर रहें हैं जिस प्रकार वंशजों का अविच्छिन्न क्रम चलता है।" (देखिये ऋग्वेद ४.१६,२०)।

नीचे इस स्थल पर सायण के भाष्य का उद्धरण दिया जा रहा है, जिसकी प्रति के लिये मैं प्रो० मैक्स मूलर का आभारी हूँ: हे अश्विनौ वा युवयोर् एतं यथोक्तं स्तोमं स्तोत्रम् अकर्म अकुर्म। तद् एतद् आह। भृगवो न भृगवः इव रथम् अतक्षाम वयं स्तोत्रम् संस्कृतवन्तः। कर्मयोगाद् ऋभवो भृगवः उच्यन्ते। अथवा रथकाराः भृगवः। किञ्च वयं नित्यं शाश्वत तनय यागादीनां कर्मणां तनितारं सूनुं न औरसम् पुत्रम् इव स्तोत्र दधानाः धारयन्तो मर्त्ये मनुष्ये न्यमृक्षाम युवयोः स्तुतिं नितरां संस्कृतवन्तः। अर्थात्, "हे अश्विनों ! हमने गत स्तोत्र की तुम्हारी स्तुति के लिये रचना की है। उसका यह तात्पर्य है: जिस प्रकार भृगु ने एक रथ का निर्माण किया है उसी प्रकार हमने स्तोत्र की भली प्रकार रचना की है। यहाँ इस स्थल पर ऋभुओं को भृगु कहा गया है, अथवा भृगु रथकार हैं। साथ ही, साथ स्तोत्र को, औरस पुत्र की भाँति ही, यज्ञों और अन्य कर्मों का नित्य शाश्वत प्रवर्तक मानकर हम मनुष्यों ने इस स्तुति को सावधानी से बनाया है।" इस भाष्य में 'योपणा' शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। इसी सूक्त की बारहवीं ऋचा में अश्विनों से यह निवेदन किया गया है कि वे ऋभुओं द्वारा निर्मित, विचारों से भी वेगवान, रथ पर बैठकर आयें: 'आ तेन यातम् मनसो जवीयसा रथं यं वाम् ऋभवश् चक्रुर् अश्विना।'

अग्नये ब्रह्म ऋभवस् ततक्षुः (ऋग्वेद १०.८०,७)।

"ऋभुओं ने अग्नि के लिये एक स्तोत्र की रचना की।"

३—अब मैं कुछ ऐसे स्थलों का उद्धरण दूँगा जिनमें स्तोत्रों को ऋषिजन्य अथवा ऋषियों द्वारा उत्पन्न बताया गया है (तुलना कीजिये ऋग्वेद ७.९३,१)।

वैश्वानराय धिषणाम् ऋतावृधे घृत न पूतम् अग्नये जनामसि (ऋग्वेद ३.२, १)।

"अपने यज्ञों को बढ़ाने वाले अग्नि वैश्वानर के प्रति हम शुद्ध घृत के समान एक स्तोत्र उत्पन्न करते हैं।"

नवं नु स्तोमम् अग्नये दिवः श्येनाय जीजनम्। वस्वः कुविद् वनाति नः (ऋग्वेद ७.१५,४)।

"आकाश के श्येन, अग्नि के प्रति, हमने एक नवीन सूक्त को उत्पन्न किया है। क्या वह हमें सम्पत्ति और समृद्धि प्रदान नहीं करेंगे ?"

ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूत्नाः इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः (ऋग्वेद ७.२२,९)।

"समस्त प्राचीन और नवीन ऋषि विप्रों ने इन्द्र के लिये स्तुतियों को उत्पन्न किया है।"

न सोमः इन्द्रम् असुतो ममाद न अब्रह्माणो मघवानं सुतासः। तस्मै उक्थं जनये यज् जुजोपद् नृवद् नवीयः शृणवद् यथा नः (ऋग्वेद ७.२६,१)।

"जब तक सोमरस को बाहर गिराया नहीं जाता तब तक वह इन्द्र को मदमत्त नहीं करता; और न बिना स्तुति के हवि मघवनों को सन्तुष्ट करती है। उनके लिये हम ऐसा स्तोत्र उत्पन्न करते हैं जो उनको प्रसन्न करे और मनुष्यों की भाँति वे हमारे नवीन (उत्पादन) को सुनें।"

......सुवृक्तिम् इन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्राः (ऋग्वेद ७.३१,११)।

"विप्रों ने इन्द्र के लिये एक सुन्दर स्तोत्र और स्तुति की रचना की।"

इयं वाम् अस्य मन्मनः इन्द्राग्नी पूर्व्य-स्तुतिर् अभ्राद् वृष्टिर् इव अजनि। शृणुतं जरितुर् हवम् इत्यादि (ऋग्वेद ७.९४,१–२ = सामवेद २.२६६)।

"हे इन्द्र और अग्नि ! मेघ से वृष्टि-जल के उत्पन्न होने के समान स्तोता ने तुम्हारे लिये अपनी आत्मा से इस स्तोत्र को उत्पन्न किया। अपने प्रशंसक के आवाहन को सुनो", इत्यादि। (बेनफे का विचार है कि 'मन्मन्' से सोम का अर्थ है जिनके स्तोत्र, अर्थात् जिनके गिरने की ध्वनि, वर्षाजल के गिरने के समान होती है। सामवेद के भाष्यकार ने 'मन्मन्' को 'स्तोतृ' माना है)।

अस्मै ते प्रतिहर्यते जातवेदो विचर्षणे अग्ने जनामि सुष्टुतिम् (ऋग्वेद ८.४३,२)।

"हे विचक्षण अग्नि जातवेदस ! मैं तुम्हारे लिये एक स्तुति को उत्पन्न करता हूँ जिसे कृपापूर्वक ग्रहण करो।"

आ त्वा अयम् अर्कः ऊतये ववर्त्तति यं गोतमाः अजीजनन् (ऋग्वेद ८.८८,४)।

"जिस स्तोत्र को गोतमों ने उत्पन्न किया वह हमारा पोषण करने के लिये तुम्हें प्रवृत्त करता है।"

श्रुधि हवं तिरश्च्याः इन्द्र यस् त्वा सपर्यति सुवीर्यस्य गोमतो रायः

पूर्धि महान् असि। इन्द्र यस् ते नवीयसीं गिरम् मन्द्राम् अजीजनत् चिकित्विन्-मनसं धियम् प्रत्नाम् ऋतस्य पिप्युषीम् (ऋग्वेद ८.९५,४.५)।

"हे इन्द्र! अपने स्तोता तिरश्ची के आह्वान को सुनो; उसे धन, बलशाली सन्तान, और पशु आदि से समृद्ध करो, क्योंकि तुम महान हो। हे इन्द्र! तुम्हारे लिये जिसने ऐसे नवीन और हर्षप्रद स्तोत्रों की रचना की है जो प्रबुद्ध मन से उत्पन्न और पवित्र सत्यों से युक्त एक प्राचीन मानसिक कृति है।"

(ये ऋचायें सामवेद २.२३३,२३४ में भी आती हैं और प्रो० बेनफे ने सामवेद के अपने संस्करण के पृ० २३० और २५० पर इनका अनुवाद किया है। इस स्थल पर उल्लिखित स्तोत्र को प्रत्यक्षतः एक साथ ही नवीन और प्राचीन कहा गया है। किन्तु दोनों कैसे हो सकता है? यह एक प्राचीन स्तोत्र रहा हो सकता है जिसको फिर से लिखा और अलङ्कृत किया गया है, और इस प्रकार यह तत्वतः तो प्राचीन किन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से नवीन हो सकता है[११]। तुलना कीजिये सेन्ट जॉन का गॉस्पेल १३.३४, और सेन्ट जॉन का प्रथम एपिसिल, २ ७,८ और ३.११)।

... ...मधोर् धाराभिर् जनयन्तो अर्कम् इत् प्रियाम् इन्द्रस्य तन्वम् अवीवृधन् (ऋग्वेद ९.७३,२)।

"एक स्तोत्र को उत्पन्न करके उन्होंने इन्द्र के प्रिय शरीर का मधु की धाराओं से वर्द्धन किया।"

...अतो मतीर् जनयत स्वधाभिः (ऋग्वेद ९.९५,१ = सामवेद १.५३०)।

"अतः स्वधा के साथ स्तोत्र को उत्पन्न करो।" (प्रो० बेन्फे 'जनयत' को भूतकाल एकवचन, अन्य पुरुष मानकर सोम के लिये व्यवहृत करते हैं)।

इमाः अग्ने मतयस् तुभ्यं जाताः गोभिर् अश्वैर् अभि गृणन्ति राधः (ऋग्वेद १०.७,२)।

"हे अग्नि! इन स्तोत्रों को तुम्हारे लिये उत्पन्न किया गया है, अपनी उदारता को पशुओं और अश्वों द्वारा व्यक्त करो।"

५. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्रा अशिवा जघान। तत् तद् इद् अस्य पौंस्यं गृणीमसि पिता इव यस् तविषीं वावृधे शवः। ६. स्तोमं ते इन्द्र विमदाः अजीजनन् अपूर्व्यम् पुरुतमं सुदानवे। विद्म हि अस्य भोजनम् इनस्य यद् आ पशुं न गोपाः करामहे। ७. मा किर् नः एना सख्या वियौषुस् तव च इन्द्र विमदस्य च ऋषेः। विद्म हि

[११] जैसा कि प्रो० ऑफरेख्त इसे व्यक्त करते हैं 'गिर्', 'धी' का विरोधी है।

ते प्रमतिं देव जामि-वद् अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि (ऋग्वेद १०.२३,५–७)।

५. विभिन्न प्रकार के उत्तेजनात्मक वाक्यों को बोलनेवाले कई सहस्त्र दुष्टों को इन्द्र ने अपनी ललकार से शान्त किया। हम उस इन्द्र के अनेक पराक्रमों का कीर्त्तन करते हैं जो पिता के समान, शक्ति और बल में वृद्धि को प्राप्त हुआ। ६. हे उदार इन्द्र! विमदों ने तुम्हारे लिये एक अपूर्व और सुन्दर स्तोत्र की रचना की है। हम तुम्हारी स्तुतियों के साधन को जानते हैं। जिस प्रकार चरवाहा गायों को अपनी ओर बुलाता है उसी प्रकार हम भी तुमको आहूत करते हैं। ७. हे इन्द्र! विमद से जो तुमने सख्य भाव स्थापित किया है उसे शिथिल मत होने देना। हे देव! हम तुम्हारी मति से परिचित हैं; बन्धु-बान्धवों की भाति तुम्हारा हम लोगों के साथ बन्धु-भाव सदैव बना रहे।"

इमाम् धियं सप्त-शीर्ष्णीम् पिता नः ऋतप्रजाताम् बृहतीम् अविन्दत्। तुरीयं स्विज् जनयद् विश्वजन्यो अयास्यः उक्थम् इन्द्राय शन्सन् (ऋग्वेद १०.६७,१)।

"हमारे पितरों ने सात छन्दों वाले इस विस्तृत स्तोत्र को रचा जो सत्य से उत्पन्न हुआ; विश्व का कल्याण चाहनेवाले अयास्य ऋषि ने इन्द्र की स्तुति करते हुये चौथे स्तोत्र की रचना की।" (अपने कोश में रौथ ने 'अयास्य' को एक व्यक्तिवाचक नाम माना है, किन्तु उनका यह भी कथन है कि 'अक्लान्त' के आशय में यह एक विशेषण भी हो सकता है)।

कीलाल-पे सोम-पृष्टाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुम् अग्नये (ऋग्वेद १०.९१,१४)।

'अमृत-पान करनेवाले, सोमपृष्ठ, तथा बुद्धिमान् अग्नि के लिये मैंने हृदय से एक सुन्दर स्तोत्र को उत्पन्न किया है।" (देखिये ऋग्वेद १.१०९,१.२ भी जिसे नीचे उद्धृत किया जायगा)।

४—निम्नलिखित स्थलों पर उपसर्ग सहित अथवा उपसर्ग के बिना 'ऋ' धातु (हिलाना, पहुँचाना, भेजना) का स्तोत्रों के उच्चारण अथवा निर्माण के लिये प्रयोग किया गया है।

नासत्याभ्याम् बर्हिर् इव प्रवृञ्जे स्तोमान् इयर्मि अभ्रिया इव वातः। याव् अर्भगाय विमदाय जाया सेनाजुवा नि ऊहतुः रथेन (ऋग्वेद १.११६,१)।

"जिस प्रकार मैंने नासत्यों के लिये कुश को फैलाया है उसी प्रकार उनके पास स्तोत्र भी भेजता हूँ, जैसे वायु मेघ को प्रेरित करता है; मैं उनकी

स्तुति करता हूँ जिन्होंने युवा विमद के पास उनकी वधू को वाण के समान द्रुतगामी रथ पर बैठाकर पहुँचाया था।"

प्र वां स मित्रा-वरुणौ ऋतावा विप्रो मन्मानि दीर्घश्रुद् इयर्त्ति। यस्य ब्रह्माणि सुक्रतू अवाथः आ यत् क्रत्वा न शरदः पृणैथे (ऋग्वेद ७.६१,२)।

"हे मित्र और वरुण! भक्त विप्र (ऋषि) दीर्घश्रुत स्तोत्रों को तुम्हारे पास भेजते हैं। हे शक्तिशाली देवो! तुम कृपापूर्वक उनकी स्तुति को ग्रहण करो जिससे अनेक शरदों तक उनकी उत्कटता से अतृप्त न रहो।" (देखिये वॉटलिङ्क और रौथ का कोश व० स्था० 'आ + पृ' ।

इमां ते इन्द्र सुष्टुतिं विप्रः इयर्त्ति धीतिभिः। जामिम् पदा इव पिप्रतीम् प्र अध्वरे (ऋग्वेद ८.१२,३१)।

"इस यज्ञ में विद्वान् स्तुति करनेवाला स्तुतियों को उसी प्रकार तुम्हारे पास पहुँचाता है जिस प्रकार लोग अपने बन्धुओं को उच्च स्थान मे ले जाते हैं।"

... ऋताद् इयर्मि ते धियम् मनोयुजम् (ऋग्वेद ८.१३,२६)।

"पवित्र कर्मों से मैं एक स्तोत्र भेजता हूँ जो तुम्हारे हृदय को आकर्षित करेगा।"

प्र इन्द्राग्निभ्यां सुवचस्याम् इयर्मि सिन्धाव् इव प्रेरयं नावम् अर्कैः (ऋग्वेद १०.११६,९)।

"मैं सुन्दर शब्दों से युक्त एक स्तोत्र इन्द्र और अग्नि के पास भेजता हूँ, मानों मैंने अपनी स्तुतियों से सागर में एक नौका को अवतरित किया है।"

(तुलना कीजिये ऋग्वेद २.४२,१ जहाँ इन्द्र को कपिञ्जल पक्षी के रूप में व्यक्त किया गया है: इयर्त्ति वाचम् अरितेव नावम्, अर्थात् "वह इस प्रकार वाच को भेजता है जैसे खेनेवाला नौका को प्रेरित करता है।" देखिये १०.१०१,२ भी जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।

प्र ते यक्षि प्र ते इयर्मि मन्म भूवो यथा वन्द्यो न हवेषु। धन्वन्न् इव प्रपा असि त्वम् अग्ने इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् (ऋग्वेद १०.४,१)।

"मैं तुम्हें स्तुति समर्पित करता हूँ, मैं तुम्हे एक हवि भेजता हूँ, जिससे तुम हमारे आह्वानों की वन्दनाओं से प्राप्त हो सको। क्योंकि, हे प्राचीन राजन्, अग्नि! तुम अपने स्तोता के लिये उसी प्रकार हो जिस प्रकार मरुस्थल में जल-प्रपात।"

५—निम्नलिखित स्थलों पर स्तोत्रों की रचना अथवा उनके समर्पण के लिये अन्य धातुओं का व्यवहार हुआ है।

इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त (ऋग्वेद १.६१,२)।

"उन्होंने हृदय, मन, और बुद्धि से पुरातन पति इन्द्र के लिये स्तोत्रों को बनाया।"

अस्मै इद् उ स्तोम संहिनोमि रथं न तष्टा इव इत्यादि (ऋग्वेद १.६१,४)।

"उन (इन्द्र) के लिये मैं उसी प्रकार एक स्तोत्र भेजता हूँ जिस प्रकार रथकार रथ बनाकर भेजता है," इत्यादि।

इमं स्तोमं अर्हते जातवेदसे रथम् इव सम् महेम मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिर अस्य संसदि अग्ने सख्ये मा रिषाम वयं तव (ऋग्वेद १.९४,१ = सामवेद १.६६)।

"हमलोग जातवेदस् के लिये, एक रथ के समान, एक स्तोत्र को बनायें (अथवा भेजें), जिससे उनकी बुद्धि सभा में हमारे लिये कल्याणकारी हो। हे अग्नि! तुम्हारे मित्र होकर हम कभी भी सन्तापित न हों।" ('मह्' धातु का अर्थ पूजा करना अथवा आदर करना है।[१०] पाठक बेनफे के अनुवाद की तुलना कर सकते हैं)।

सहिताओं में अनेक ऐसे स्तोत्र मिलते हैं जिनमें ऋषि इन स्तोत्रों की अपने द्वारा रचना अथवा प्रणयन का प्रत्यक्ष उल्लेख किये बिना ही विभिन्न उपास्य देवों को अपने स्तोत्र समर्पित करने की चर्चा करते हैं। उन अनेक स्थलों के आधार पर, जिनका मैं उद्धरण दूँगा, जिन अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया है, मेरे विचार से यही स्वाभाविक निष्कर्ष होगा कि ऋषियों का अपना व्यक्तित्व उनके मन में सर्वोपरि था। वे इस बात के प्रति जागरूक नहीं थे कि जिन स्तुतियों का वे देवों के लिये उच्चारण कर रहे हैं स्वय उनकी स्वतन्त्र बुद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से उत्पत्ति हुई हो सकती है। निम्नस्थल ऐसे ही हैं, जो विचार और उच्चारण की उस पद्धति को व्यक्त करते हैं जो स्तोत्रों में अत्यन्त प्रचलित है।

तम् त्वा वयम् पतिम् अग्ने रयीणाम् प्रशम्सामो मतिभिर् गोतमास. (ऋग्वेद १.६०,५)।

"हे धनाधिप अग्नि! गोतम के वशज स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति करते हैं।"

एव अग्निर् गोतमेभिर् ऋतावा विप्रेभिर् अस्तोष्ट जातवेदः (ऋग्वेद १.७७,५)।

"गोतम ऋषि ने पवित्र अग्नि जातवेदस् की इस प्रकार स्तुति की है।"

इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त (ऋग्वेद १.६१,२)।

"उन्होंने हृदय, मन, और बुद्धि से पुरातन पति इन्द्र के लिये स्तोत्रों को बनाया।"

अस्मै इद् उ स्तोम संहिनोमि रथं न तष्टा इव इत्यादि (ऋग्वेद १.६१,४)।

"उन (इन्द्र) के लिये मैं उसी प्रकार एक स्तोत्र भेजता हूँ जिस प्रकार रथकार रथ बनाकर भेजता है," इत्यादि।

इमं स्तोमं अर्हते जातवेदसे रथम् इव सम् महेम मनीषया। भद्रा हि नः प्रमतिर अस्य संसदि अग्ने सख्ये मा रिषाम वयं तव (ऋग्वेद १.९४,१ = सामवेद १.६६)।

"हमलोग जातवेदस् के लिये, एक रथ के समान, एक स्तोत्र को बनायें (अथवा भेजें), जिससे उनकी बुद्धि सभा में हमारे लिये कल्याणकारी हो। हे अग्नि! तुम्हारे मित्र होकर हम कभी भी सन्तापित न हों।" ('मह्' धातु का अर्थ पूजा करना अथवा आदर करना है।[१०] पाठक बेनफे के अनुवाद की तुलना कर सकते हैं)।

संहिताओं में अनेक ऐसे स्तोत्र मिलते हैं जिनमें ऋषि इन स्तोत्रों की अपने द्वारा रचना अथवा प्रणयन का प्रत्यक्ष उल्लेख किये बिना ही विभिन्न उपास्य देवों को अपने स्तोत्र समर्पित करने की चर्चा करते हैं। उन अनेक स्थलों के आधार पर, जिनका मैं उद्धरण दूँगा, जिन अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया गया है, मेरे विचार से यही स्वाभाविक निष्कर्ष होगा कि ऋषियों का अपना व्यक्तित्व उनके मन मे सर्वोपरि था। वे इस बात के प्रति जागरूक नहीं थे कि जिन स्तुतियों का वे देवों के लिये उच्चारण कर रहे हैं स्वय उनकी स्वतन्त्र बुद्धि के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से उत्पत्ति हुई हो सकती है। निम्नस्थल ऐसे ही हैं, जो विचार और उच्चारण की उस पद्धति को व्यक्त करते हैं जो स्तोत्रों में अत्यन्त प्रचलित है।

तम् त्वा वयम् पतिम् अग्ने रयीणाम् प्रशम्सामो मतिभिर् गोतमासः (ऋग्वेद १.६०,५)।

"हे धनाधिप अग्नि! गोतम के वंशज स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति करते हैं।"

एव अग्निर् गोतमेभिर् ऋतावा विप्रेभिर् अस्तोष्ट जातवेदः (ऋग्वेद १.७७,५)।

"गोतम ऋषि ने पवित्र अग्नि जातवेदस् की इस प्रकार स्तुति की है।"

अवोचाम रहूगणाः अग्नये मधुमद् वचः। द्युम्नैर् अभि प्र णोनुमः (ऋग्वेद १.७८,५)।

"हम, रहूगणों ने, अग्नि के प्रति मधुमय वचन का उच्चारण किया। हम प्रशस्तियों के द्वारा उनका सतत स्तवन करते हैं।"

सोम गीर्भिस् त्वा वयं वर्धयामो वचो-विदः। सुमृलीको नः आविश (ऋग्वेद १.९१,११)।

"हे सोम! हम लोग, जो वाच-कुशल है, स्तुतियों से तुम्हारा वर्द्धन करते हैं; दया से पूर्ण तुम हममें प्रवेश करो।"

इमां ते धियम् प्र भरे महो महीम् ...(ऋग्वेद १.१०२,१)।

"मैं हर्ष के साथ तुम्हें यह महान स्तोत्र समर्पित करता हूँ।"

अतारिष्म तमसस् पारम् अस्य प्रति वां स्तोमो अश्विनाव् अधायि (ऋग्वेद १.१८३,६)।

"हम इस अन्धकार से पार हो गये हैं; अश्विनों! तुम्हें एक स्तोत्र समर्पित किया गया है।"

पितुर् न पुत्रः सिचम् आ रभे ते इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः (ऋग्वेद ३.५३,२)।

"हे शक्तिशाली इन्द्र! एक अत्यन्त मधुर स्तोत्र के द्वारा तुम्हारे वस्त्र को उसी प्रकार पकड़ते हैं (जैसे एक पुत्र अपने पिता के वस्त्र को पकड़ता है)।

एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथानि अग्ने निण्या वचांसि। निवचना कवये काव्यानि अशंसिषम् मतिभिर् विप्रः उक्थैः (ऋग्वेद ४.३,१६)।

"बुद्धिमान् अग्नि को, जो इन समस्त गीतों और रहस्यमय वचनों को जानते हैं, जो कवि हैं, मैं एक विप्र, इन स्तोत्रों, काव्यों को ध्यान और स्तुति पूर्वक समर्पित करता हूँ।"

अवीवृधन्त गोतमाः इन्द्र त्वे स्तोम-वाहसः (ऋग्वेद ४.३२,१२)।

'हे इन्द्र! गोतमों ने एक स्तोत्र लाकर तुम्हारा वर्द्धन किया।"

तुभ्य इदम् अग्ने मधुमत्तमं वचस् तुभ्यम् मनीषा इयम् अस्तु शं हृदे। त्वां गिरः सिन्धुम् इव अवनीर् महीर् आ प्रिणन्ति शवसा वर्धयन्ति च (ऋग्वेद ५.११,५)।

"हे अग्नि! यह मधुरतम स्तुतियाँ, हमारी मानसिक कृतियाँ, तुम्हारे हृदय को सुखी करें। जिस प्रकार महान नदियाँ सागर को परिपूर्ण करती हैं उसी प्रकार स्तुतियों के शब्द तुम्हें परिपूर्ण करते हुये बलवान बनाते हैं।"

अग्ने चिकिद्धि अस्य नः इदं वचः सहस्य। तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर् वर्धन्ति अत्रयो गीर्भिः शुम्भन्ति अत्रयः (ऋग्वेद ५.२२,४)।

"हे बलवान अग्नि, इन शब्दों को सुनो। तुम सुन्दर नासिका वाले और गृहपति हो, अत्रिगण तुम्हें स्तोत्रों से बढ़ाते और वाणी से विभूषित करते हैं।"

सूक्तेभिर् वो वचोभिर् देव-जुष्टैर् इन्द्रा नु अग्नी अवसे हुवध्यै (ऋग्वेद ५ ४५,४)।

"हे इन्द्र और अग्नि! सहायतार्थ हम तुम्हें ऐसे सुवाच शब्दों से आहूत करें, जो देवों को प्रिय हैं।"

तं वो धिया परमया पुराजाम् अजरम् इन्द्रम् अभि अनूषि अर्कैः इत्यादि (ऋग्वेद ७.३८,२)।

"हे पुरातन और अजर इन्द्र! मैं एक श्रेष्ठ स्तोत्र और स्तुतियों से तुम्हारा पूजन करता हूँ।"

प्राचीम् ऊ देवा अश्विना धियम् मे अमृध्रां सातये कृतं वसूयुम् (ऋग्वेद ७.६७,५)।

"हे दिव्य अश्विनी कुमारो! धन की अभिलाषा करनेवाली हमारी सतत स्तुति को पूर्ण करो।"

पुनीषे वाम् अरक्षसम् मनीषाम् सोमम् इन्द्राय वरुणाय जुह्वन्। घृत-प्रतीकाम् उषस न देवीम् इत्यादि (ऋग्वेद ७.८५,१)

"इन्द्र और वरुण को सोम समर्पित करते हुये मैं इस युग्म के लिये उज्ज्वल मुखवाली देवी उषस् के समान पुनीत स्तोत्र बनाता हूँ[११]।"

अस्माकम् अद्य वाम् अयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः। युवाभ्या भूतु अश्विना (ऋग्वेद ८.५,१८)।

"हमारा यह स्तोत्र तुम्हारे निकट पहुँचे, और हे अश्विन! यह तुम्हें यहाँ लाने में समर्थ हो।"

किम् अन्ये पर्यासते अस्मत् स्तोमेभिर् अश्विना। पुत्रः कण्वस्य वाम् ऋषिर् गीर्भिर् वत्सो अवीवृधत् (ऋग्वेद ८.८,८)।

"हे आश्विन! हमारे अतिरिक्त और कौन तुम्हारे चतुर्दिक स्तोत्रों के साथ बैठ सकता है? कण्व के पुत्र वत्स ने अपने स्तोत्रों से तुम्हारा वर्द्धन किया है।"

८. आ प्र यात मरुतो विष्णो अश्विना पूषन् माकीनया धिया। ११. इदा हि वः उपस्तुतिम् इदा वामस्य भक्तये उप वो विश्ववेदसो नमस्युर् आसृक्षि (ऋग्वेद ८.२७,८.११)

"हे मरुद्गण, विष्णु, अश्विनद्वय, पूषन्, मेरे स्तोत्र के पास आओ। क्योंकि, हे धनों के स्वामी! धन की इच्छा से मैं भक्तिपूर्वक तुम्हारे पास एक स्तोत्र भेजता हूँ।"

२. अग्ने स्तोमं जुषस्व मे वर्धस्व अनेन मन्मना। प्रति सूक्तानि हर्य नः। २२. उत त्वा धीतयो मम गिरो वर्द्धन्तु विश्वहा। अग्ने सख्यस्य बोधि नः। २६. युवानं विश्पतिं कविं विश्वादम् पुरु-वेपसम्। अग्निं शुम्भामि मन्मभिः (ऋग्वेद ८.४४,२.२२.२६)।

"हे अग्नि! हमारे स्तोत्र को ग्रहण करो: हमारी इस मानसिक कृति से वृद्धि प्राप्त करो: हमारे सुन्दर शब्दों में हर्ष प्राप्त करो; और मेरे विचार और शब्द सदैव तुम्हारा वर्द्धन करें; हे अग्नि मेरे सख्यभाव को जानो। युवा, जनाधिपति, कवि, सर्वभक्षी, और अत्यन्त प्रकम्पित रहनेवाले अग्नि की मैं अपनी मानसिक कृति से स्तुति करता हूँ।"

अस्ता इव सुप्रतरं लायम् अस्यन् भूषन्न् इव प्रभर स्तोमम् अस्मै। वाचा विप्रास् तरत वाचम् अर्यो निरमय जरितः सोमे इन्द्रम् (ऋग्वेद १०.४२,१)।

"अपने दूरघाती वाण को छोड़नेवाले धनुर्धर की भाँति मैं भी अत्यन्त उत्साह के साथ इन्द्र को स्तोत्र समर्पित करता हूँ। तुम्हारे वचनों से विप्रगण शत्रु के वचन को परास्त करते हैं। हे स्तोता! इन्द्र को सोम के पास ले जाओ।"

एव प्लतेः सूनुर् अवीवृधद् वो विश्वे आदित्याः अदिते मनीषी। ईशानासो नरो अमर्त्येन अस्तावि जनो दिव्यो गयेन (ऋग्वेद १०.६३,१७)।

"हे समस्त आदित्यगण, अदिति, और शासन करने वाली शक्तियो, प्लति के पुत्र ने तुम्हारा इस प्रकार वर्द्धन किया है। दिव्यजनों की अमर गय ने प्रशस्ति की है।"

मनीषिणः प्रभरध्वम् मनीषाम् यथा यथा मतयः सन्ति नृणाम्। इन्द्रं सत्यैर् आ ईरयाम कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर् विदानः (ऋग्वेद १०.१११,१)।

"मनीषिगण उसी प्रकार की स्तुतियाँ समर्पित करते हैं जिस प्रकार के मनुष्यों के विविध विचार होते हैं। हम अपने सत्य कर्मों के द्वारा इन्द्र को आहूत करें, क्योंकि वह एक वीरकर्मा, विद्वान्, और स्तुतियों से प्रसन्न होने वाले हैं।"

निम्नलिखित मन्त्र में, जो कि एक दान-स्तुति से लिया गया है, यद्यपि लाक्षणिक रूप से ही, यह कहा गया है कि वह राजा भी एक ऋषि होता है जो पुरोहितों को उदारतापूर्वक दान देता है।

तम् एव ऋषिं तम् ऊ ब्रह्माणम् आहुर् यज्ञन्यं सामगाम् उक्थशासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध (ऋग्वेद १०.१०७,६)।

"यही वह है जिसे वे ऋषि, पुरोहित, पवित्र याज्ञिक, सामगायक, और सामनों का उच्चारण करनेवाला कहते हैं; यही वह है जो उज्ज्वल अग्नि के तीन शरीरों को जानता है—यह वह मनुष्य है जो दक्षिणा देने में प्रथम होता है।"

खण्ड ४—ऋग्वेद के ऐसे स्थल जिनमें ऋषियों अथवा स्तोत्रों की अलौकिकता का उल्लेख है।

इस खण्ड में मैं वैदिक सूक्तों के ऐसे स्थलों का संग्रह प्रस्तुत करने जा रहा हूँ जिनमें उनके रचयिताओं के मतानुसार या तो स्वयं ऋषियों को अथवा उनकी कृतियों को अलौकिक गुणों से युक्त बताये गये होने का स्पष्ट संकेत मिलता है। इस विवेचन के सन्दर्भ में हम यह देखेंगे कि (१) बाद के सूक्तकर्त्ता ऋषियों द्वारा अपने पूर्वगामी ऋषियों को अलौकिक गुणों से युक्त कहा गया है; (२) ऋषियों द्वारा अक्सर ऐसी अभिव्यक्तियों का व्यवहार किया गया है जो उनकी रचनाओं को सामान्य रूप से एक दिव्य प्रभाव द्वारा प्रभावित मानती हैं; जबकि कहीं अधिक स्थल ऐसे भी हैं जहाँ विभिन्न प्रकार के शब्दों के द्वारा किसी एक अथवा विशिष्ट देवता को उन सूक्तों की प्रेरणा का श्रेय दिया गया है; और (३) ऐसे स्थलों की संख्या भी पर्याप्त है जहाँ सूक्तों अथवा उनके छन्दों को गुह्य अथवा अभिचारीय गुणों से युक्त बताया गया है।

अब मैं इन विभिन्न वर्ग के उदाहरणों के उद्धरण दूँगा।

१—मैं कुछ ऐसे स्थलों का उद्धरण दे रहा हूँ जो पूर्वगामी ऋषियों को मानवेतर गुणों अथवा अलौकिक क्षमताओं से युक्त मानते हैं।[२२] ऐसे स्थल यह हैं :

ये चिद् हि पूर्वे ऋतसापः आसन् साकं देवेभिर् अवदन्न् ऋतानि। ते चिद् अवासुर् इत्यादि (ऋग्वेद १.१७९, २)।

[२२] तुलना कीजिये अथर्ववेद १० ७,१४।

धर्मपालक ऋषि जो प्राचीन काल में हुए, और जो देवताओं से सत्य-सम्बन्धी वार्तालाप करते थे, वैवाहिक जीवन व्यतीत करते थे," इत्यादि।

ते इद् देवानां सधमादः आसन्न् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः। गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्राः अजनयन्न् उपासम् (ऋग्वेद ७.७६,४)।

वे पुरातन ऋषिगण, देवताओं के सहयोगी थे। पितरों ने गूढ़ प्रकाश को प्रकट किया; सत्य मन्त्रों से उन्होंने उपस् को उत्पन्न किया।"

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन। इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः (ऋग्वेद १०.१४,१५)।

राजा यम को एक अत्यन्त मधुर हवि समर्पित करो। उन पूर्वज ऋषियों का यह नमस्कार समर्पित हो जो सर्वप्रथम पथ-प्रदर्शक थे।

१. अङ्गिरसः—दसवें मण्डल के ६२ वें सूक्त में अङ्गिरसों से सम्बद्ध निम्न स्थल मिलते हैं :

१. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ताः इन्द्रस्य सख्यम् अमृतत्वम् आनश। तेभ्यो भद्रम् अङ्गिरसो वः अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः। ३. ये ऋतेन सूर्यम् अरोहयन् दिवि अप्रथयन् पृथिवीम् मातरम् वि इत्यादि (ऋग्वेद १०.६२,१.३)।

"हे अङ्गिराओ! तुमने यज्ञ और दक्षिणा आदि से पवित्र होकर इन्द्र से मैत्री और अमरत्व प्राप्त कर लिया है। तुम्हारा मंगल हो। हे ऋषिगण! तुम मुझ स्तुति करनेवाले मानव को आश्रय दो। तुमने यज्ञ के द्वारा सूर्य को आकाश में प्रतिष्ठित किया और हमारी पृथिवी को फैलाया," इत्यादि।

इसके बाद निम्न ऋचायें आती हैं।

४. अयं नाभा वदति वल्गुवो गृहे देव-पुत्राः ऋषयस् तत् शृणोतन ···। ५. विरूपासः इद् ऋषयस् ते इद् गम्भीर-वेपसः। अङ्गिरसः सूनवस् ते अग्नेः परि जज्ञिरे (ऋग्वेद १०.६२,४,५)।

"हे गृह के देव-पुत्रो यह नाभन् तुम्हें सम्बोधित करता है : हे ऋषिगण, देवों के पुत्र, इसे सुनो······। यह विरूपगण ऋषि हैं जो गम्भीर भावोंवाले हैं, ये अङ्गिरस् के पुत्र हैं, ये अग्नि से उत्पन्न हुए हैं।"

(पाँचवी ऋचा निरुक्त ११.१७ में उद्धृत है। देखिये इस स्थल पर रोथ के उदाहरण)।[23]

---

[23] बाद की ऋचा (जो और अगली ऋचा के साथ ज० ए० सो०, १८६६, पृ० २७६ मे मेरे एक निबन्ध मे उद्धृत है) इस प्रकार है : ६. "ये अग्नेः परि

२. वसिष्ठः—निम्न स्थल पर वसिष्ठ को भी अलौकिक बताया गया है (इस स्थल का उद्धरण और विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में भी दिया गया है)।

७. त्रयः कृण्वन्ति भुवनस्य रेतस् तिस्रः प्रजाः आर्याः ज्योतिर्-अग्राः। त्रयो घर्मासः उषसं सचन्ते सर्वान् इत् तान् अनु विदुर् वसिष्ठाः। ८. सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिर् एषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः। वातस्येव प्रजवो न अन्येन स्तोमो वसिष्ठाः अनु एतवे वः। ९. ते इद् निण्यम् हृदयस्य प्रकेतैः सहस्र-वल्शम् अभि सञ्चरन्ति। यमेन ततम् परिधिं वयन्तः अप्सरसः उप सेदुर् वसिष्ठाः। १०. विद्युतो ज्योतिः परिसञ्जिहानम् मित्रा-वरुणा यद् अपश्यतां त्वा। तत् ते जन्म उत एकं वसिष्ठ अगस्त्यो यत् त्वा विशः आजभार। ११. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ उर्वश्याः ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः। द्रप्सं स्कन्नम् ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वा अददन्त। १२. स प्रकेतः उभयस्य प्रविद्वान् सहस्र-दानः उत वा सदानः। यमेन ततम् परिधिं वयिष्यन् अप्सरसः परि जज्ञे वसिष्ठः। १३. सत्रे ह जाताव् इषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिसिचितुः समानम्। ततो ह मानः उदियाय मध्यात् ततो जातम् ऋषिम् आहुर् वसिष्ठम् (ऋग्वेद ७.३३,७-१३)।

७. "तीन देवता समस्त भुवनों में बहुप्रसवत्व प्रदान करते हैं; तीन श्रेष्ठ उत्पत्तियाँ हैं जिनमें से ज्योति प्रथम है। तीन अग्नि उषस् को प्रगट करते हैं: इन सबके ज्ञाता वसिष्ठगण हैं। ८. इन ऋषियों का वैभव सूर्य के पूर्ण वैभव के समान है, इनकी महिमा समुद्र के समान गम्भीर है; हे वसिष्ठगण! वायु की तीव्रता की भाँति तुम्हारे स्तोत्रों का भी अन्य कोई ऋषि अनुगमन नहीं कर सकता। ९ अपने हृदय के साक्षात्कार द्वारा ये सहस्र शाखाओंवाले रहस्य को ढूँढ लेते हैं। यम (अग्नि? देखिये ऋग्वेद १.६६,४) द्वारा

जज्ञिरे विरूपासो दिवस् परि। नवग्वो नु दसग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते।" अर्थात् "विरूपगण—जो अग्नि से, द्यौस् से उत्पन्न हुये थे, नवग्व, दशग्व, जो अङ्गिरसों में सर्वश्रेष्ठ हैं, देवों के साथ दान देते हैं।" यहाँ विरूपगण ऋषियों की अपेक्षा राजा प्रतीत होते हैं। और निम्न स्थल पर भी ऐसी ही स्थिति है: "इमे भोजाः अङ्गिरसो विरूपा. दिवस् पुत्रासो असुरस्य वीराः। विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयु।" अर्थात् "अङ्गिरस् के वंशज, द्यौस् के वीर पुत्र, इन उदार विरूपों ने सहस्र-सत्र के समय विश्वामित्र को दक्षिणा देकर दीर्घायुष्य प्राप्त कर लिया।"

विस्तारित परिधि को बुनते हुये वसिष्ठगण अप्सराओं के पास बैठते हैं। १०. जब मित्र-वरुण ने विद्युत को अपनी ज्योति छोड़ते हुये देखा था, तो हे वसिष्ठ, वही तुम्हारा जन्म था; और तुम्हारा एक जन्म और हुआ जब अगस्त्य तुम्हें मनुष्यों के पास लाये। ११. वसिष्ठ! तुम मित्र-वरुण के पुत्र हो, हे पुरोहित तुम्हारा जन्म उर्वशी के मानस से हुआ है; समस्त देवों ने तुम्हें—दिव्य ध्यान से गिरे हुये बिन्दु को—कुम्भ में रख दिया। १२. वह मेधावी, दोनों लोकों का ज्ञाता, सहस्त्र दान अथवा दान सहित जो वसिष्ठ यम द्वारा फैलाई हुई परिधि को बुनने वाले हैं, उनकी उत्पत्ति अप्सरा से हुई थी। १३. यज्ञ में उत्पन्न और नमस्कारों द्वारा प्रेरित उन्होंने (मित्र-वरुण ने) कुम्भ में बीज डाला; उसके मध्य से मान (अगस्त्य) उत्पन्न हुये; ऐसा कहा जाता है कि इससे ऋषि वसिष्ठ की उत्पत्ति हुई।"

इनमें से दो ऋचायें निरुक्त में, (आठवीं ऋचा ९.२० में, और ११ वीं ५.१४ में) उद्धृत हैं। देखिये निरुक्त पृ० ६४ पर प्रो० रौथ के अपने संस्करण में इनकी व्याख्या भी, जहाँ उनका कथन है कि महाकाव्य-पुराकथा जैसी उक्त दो ऋचाओं में वसिष्ठ के अलौकिक जन्म का वर्णन इस प्राचीन सूक्त में बाद में जोड़ दिया गया प्रतीत होता है।

निम्नलिखित स्थलों पर ही वसिष्ठ को अलौकिक रूप से प्रदत्त ज्ञान, अथवा उन पर दिव्य कृपाओं का उल्लेख है।

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नाम अघ्न्या बिभर्त्ति। विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्रः उपराय शिक्षन् (ऋग्वेद ७.८७, ४)।

"मुझ मेधावी से वरुण ने कहा कि 'गौ के इक्कीस नाम हैं'। मेधावी वरुण यद्यपि इन्हें जानते हैं, तथापि उन्होंने इन शब्दों के रहस्य को नहीं बताया, जिसे वे बाद की पीढ़ी को बताना चाहते हैं।"

वसिष्ठं ह वरुणी नावि आ अधाद् ऋषिं चकार स्वपाः महोभिः। स्तोतारम् विप्रः सुदिनत्वे अह्नां याद् नु द्यावस् ततनन् याद् उषसः (ऋग्वेद ७.८८,४)।

"वरुण वसिष्ठ को नौका में ले गये; अपने महान कृत्यों से, कुशलतापूर्वक कार्य करते हुये उन्होंने (वरुण ने) उन्हें (वसिष्ठ को) ऋषि बनाया; इस मेधावी देवता ने उनसे (वसिष्ठ से) शुभ समय पर स्तुतियों का उच्चारण कराया, जिससे उनके दिन और उषायें दीर्घ हो जाँय।" (देखिये ऊपर ऋग्वेद १०.१०१,२, और ११६, ९., तथा प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी)।

३. विश्वामित्रः—अब मैं जिन स्थलों का उद्धरण दूँगा उनमें से एक

अथवा एकाधिक में यदि कुशिकों को नहीं, तो भी, विश्वामित्र को मानवेतर गुणों से युक्त बताया गया है।

अमित्रायुधो मरुताम् इव प्रयाः प्रथमजाः ब्रह्मणो विश्वम् इद् विदुः। द्युम्नवद् ब्रह्म कुशिकासः एरिरे एकः एको दमे अग्निं समीधिरे (ऋग्वेद ३.२९,१५)।

"अपने शत्रुओं के साथ मरुद्गण के समान युद्ध करनेवाले स्तोत्र से प्रथम उत्पन्न ऋषि समस्त ज्ञान का वेत्ता है; कुशिकों ने एक प्रभावशाली स्तोत्र का उच्चारण किया; इनमें से प्रत्येक ने अपने गृह में अग्नि प्रज्वलित की।"

कुविद् मा गोपां करसे जनस्य कुविद् राजानम् मघवन् ऋजीषन्। कुविद् मा ऋषिम् पपिवांसं सुतस्य कुविद् मे वस्वः अमृतस्य शिक्षाः (ऋग्वेद ३.४३,५)।

"मुझे क्या तुम मनुष्यों की रक्षा का सामर्थ्य नहीं प्रदान करोगे? हे साहसिक मघवन्! क्या तुम मुझे राजा नहीं बनाओगे? क्या तुम मुझे सोम पान करनेवाला, और एक ऋषि नहीं बनाओगे? क्या तुम मुझे अक्षय धन नहीं प्रदान करोगे?"

माहन् ऋषिर् देवजाः देवजूतः अस्तभ्नात् सिन्धुम् अर्णवं नृचक्षाः। विश्वामित्रो यद् अवहत् सुदासम् अप्रियायत कुशिकेभिर् इन्द्रः (ऋग्वेद ३.५३,९)।

"मनुष्यों के नायक, देवजन्य, देव प्रेरित, महान ऋषि (विश्वामित्र) ने जल से पूर्ण सागर के वेग को बाँध दिया। जब विश्वामित्र ने सुदास को यज्ञ-कर्मों में लगाया तब कुशिकों के द्वारा इन्द्र का प्रिय हुआ।" (ऋग्वेद १.१०, ११ में स्वयं इन्द्र को भी एक कुशिक कहा गया है)।

९.८७,३ के, जिसके ऋषि उशनस् है, अनुसार इस ऋषि को गुह्य ज्ञान से युक्त बताया गया है:

ऋषिर् विप्रः पुर-एता जनानाम् ऋभुर् धीरः उशना काव्येन। स चिद् विवेद निहितं यद् आसाम् अपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् (ऋग्वेद ९.८७,३)।

"उशनस् ऋषि मेधावी, नृपति, कुशल, और अतीन्द्रिय हैं; द्रष्टा के रूप में अपनी अन्तर्दृष्टि से इन्होंने इन गायों के लिये व्यहृत गूढ़ और रहस्यात्मक नाम को जान लिया।"

पुनः यह कहा गया है:

प्र काव्यम् उशनेव ब्रुवानो देवो देवानां जनिमा विवक्ति (ऋग्वेद ९,९७,७)।

"उशनस् की भाँति एक ऋषिवत् ज्ञान का उच्चारण करते हुए सोम-देवता देवों के जन्म को बताते हैं।"

दसवें मण्डल के एक सूक्त में ऋषियों को अपने ध्यान की वस्तु को इस प्रकार 'देखने वाला' बताया गया है कि उससे कुछ अलौकिक अन्तर्दृष्टि का ही तात्पर्य प्रतीत होता है। (देखिये ऊपर पृ० १२५-१२७; १३४ और बाद); इस सूक्त में यह कहा गया है :

देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया। उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्याद् उत्तरे युगे। ब्रह्मणस्पतिर् एता सं कर्मारः इव अधमत्। देवानाम् पूर्व्ये युगे असतः सद् अजायत (ऋग्वेद १०-७२,१.२)।

"स्तुति की इच्छा से हम उच्चरित स्तोत्रों द्वारा देवों के जन्म की प्रशस्ति करें—हममें से कोई भी एक जो इस बाद के युग में भी उनको देख सके। ब्रह्मणस्पति ने उसी प्रकार इन जन्मों को प्रज्ज्वलित किया जिस प्रकार एक लुहार (अग्नि को धौंकता है) : देवों के पूर्वयुग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ।[२४]

अलौकिक अन्तर्दृष्टि के ही आशय में इस 'देखना' क्रिया का एक प्रयोग उस वालखिल्य में मिलता है जो नीचे उद्धृत किया जायगा, और जो कुछ स्पष्ट नहीं है। देखिये ऋग्वेद १०.११०,६ भी, जिसे आगे उद्धृत किया जायगा।

बाद के दो स्थल ऋषियों के शुचित्व की चर्चा करते हैं।

इमाः उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु याः मम। पावक-वर्णाः शुचयो विपश्चितः अभि स्तोमैर् अनूषत (ऋग्वेद ८.३,३ = सामवेद १.२५०, और वाजसनेयि संहिता ३३.८१)।

"हे प्रचुर धन के अधिपति, मेरी यह स्तुतियाँ तुम्हारा वर्द्धन करें। पावक-वर्ण पवित्र ऋषियों ने स्तोत्रों से तुम्हारी स्तुति की है।"

अहम् इद् हि पितुः परि मेधाम् ऋतस्य जग्रभ। अहम् सूर्यः इव अजनि (ऋग्वेद ८.६,१०)।

"मैंने अपने पिता से यज्ञ आदि कर्मों का ज्ञान प्राप्त किया है; मैं सूर्य के समान हो गया हूँ।" (क्या यहाँ पिता से इन्द्र का तात्पर्य है ?)

निम्न स्थल, जो कि ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में आते हैं, ऋषियों द्वारा तपस्या करने का उसी प्रकार उल्लेख करते हैं, जैसा महाकाव्य साहित्य में

---

[२४] इनमे से प्रथम ऋचा का बेनफे ने अपनी सामवेद-ग्लॉसरी के पृ० १५४ पर अनुवाद किया है।

है। ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में 'तपस्' शब्द का ऐसा प्रयोग ज्ञात नहीं है। (देखिये तपस् के अन्तर्गत बॉटलिङ्क और रौथ का कोश)।

देवाः एतस्याम् अवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस् तपसे ये निषेदुः (ऋग्वेद १०.१०९,४)।

"प्राचीन देवों ने उससे उन सप्तर्षियों का वर्णन किया जो तपस्या के लिये बैठे।" (देखिये ज० ए० सो० १८८६, पृ० २७० पर मेरा लेख)।

२. तपसा ये अनाधृश्यास् तपसा ये स्वर् ययुः। तपो ये चक्रिरे महस् तांस् चिद् एव अपि गच्छतात्। ५. सहस्र-णीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ऋषींस् तपस्वतो यम तपोजान् अपि गछतात् (ऋग्वेद १०.१५४, २.५)।

२. "जो तप द्वारा दुर्धर्ष हुये और जो तप के द्वारा ही स्वर्ग पहुँचे, और जिन्होंने घोर तप किया है, हे प्रेत! तुम उन्हीं के पास गमन करो। ५. जिन मेधावी जनों ने सहस्र कर्मों की विधि निश्चित की है, जो सूर्य की सदा रक्षा करते हैं, और जिन्होंने तप के प्रभाव से उत्पन्न होकर तप किया है, हे यम! यह प्रेत उन्हीं के पास जाय।" (देखिये ज० ए० सो० में मेरा 'यम' सम्बन्धी लेख)।

ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसो अध्यजायत। ततो रात्री अजायत ततः समुद्रः अर्णवः (ऋग्वेद १०.१९०,१)।

"ऋत और सत्य तेजोमय तप से उत्पन्न हुये; फिर रात्रि उत्पन्न हुई, और उसके पश्चात जलों से पूर्ण समुद्र उत्पन्न हुये।"

१०.१६७,१ में यहाँ तक कहा गया है कि स्वयं इन्द्र ने भी तप से ही स्वर्ग प्राप्त किया :

त्वं तपः परितप्य अजयः स्वः (ऋग्वेद १०.१६७,१)।

"तप करके ही तुमने स्वर्ग विजित किया।"

कुछ स्थानों पर देवों को भी अत्यन्त उत्कृष्ट अंशों तक ऋषियों अथवा कवियों के गुणों से युक्त बताया गया है। इससे ऐसा तात्पर्य प्रतीत होता है कि ऋषिगण देवताओं के साथ अपने किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध के प्रति जागरूक थे, और देवों की श्रेष्ठ मेधा और बुद्धि में कुछ अंशों तक अपने को भी भागी मानते थे।

१. त्वम् अग्ने प्रथमो अङ्गिराः ऋषिर् देवो देवानाम् अभवः शिवः सखा इत्यादि। २. त्वम् अग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर् देवानाम् परिभूषसि व्रतम् (ऋग्वेद १.३१,१.२)।

१. "हे अग्नि! प्रथम ऋषि अङ्गिरस्, देवता, तुम देवों के मङ्गलकारी सखा हो……। २. हे प्रथम अङ्गिरस्-श्रेष्ठ ऋषि, अग्नि, तुम देवों के व्रत को पूर्ण करते हो।"

…ऋषिर् न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तः इत्यादि (ऋग्वेद १.६६,२)।

"देवों की स्तुति करनेवाले ऋषि के समान वह (अग्नि) लोगों में प्रसिद्ध हैं," इत्यादि।

…ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्र अविता भव (ऋग्वेद ३.२१,३)।

"तुम, ऋषि-श्रेष्ठ अग्नि, प्रज्ज्वलित किये जाते हो; यज्ञ के रक्षक बनो।"

अर्चन्ति त्वा मरुतः पूत-दक्षास् त्वम् एषाम् ऋषिर् इन्द्र असि धीरः (ऋग्वेद ५.२९,१)।

"पवित्र प्रवृत्तियों से युक्त मरुद्गण तुम्हारी अर्चना करते हैं; हे इन्द्र! तुम उनके धीर ऋषि हो।" (फिर भी, सायण ने यहाँ 'ऋषि' को 'द्रष्टा' बताया है।"

अग्निर् इद् हि प्रचेताः अग्निर् वेधस्तमः ऋषिः (ऋग्वेद ६.१४,२)।

"अग्नि बुद्धिमान् हैं; अग्नि अत्यन्त श्रेष्ठ ऋषि हैं।"

ऋषिर् हि पूर्वजा असि एकः ईशानः ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु (ऋग्वेद ८.६,४१)।

"हे इन्द्र! तुम एक ऐसे पूर्वज ऋषि हो, जो केवल अपनी शक्ति से शासन करते हैं; तुम धन प्रदान करते हो।"

इन्द्रो ब्रह्मा इन्द्रः ऋषिर् इन्द्रः पुरु पुरु-हूतः। महान् महीभिः शचीभिः (ऋग्वेद ८.१६,७)।

"इन्द्र एक पुरोहित हैं, इन्द्र एक ऋषि हैं; इन्द्र का बहुधा आवाहन किया जाता है; वह अपनी महान शक्ति के द्वारा महान हैं।"

ऋषि-मना यः ऋषि-कृत् स्वर्षाः सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम् (ऋग्वेद ९.९६,१८ = सामवेद २.५२६)।

"ऋषि-मना, ऋषि-कर्त्ता, मङ्गलदाता, सहस्रनीथ, कवियों के नायक, सोम", इत्यादि।

…ऋषिर् विप्रो विचक्षणः। त्वं कविर् अभवो देववीतमः इत्यादि (ऋग्वेद ९.१०७,७)।

"हे ऋषि, विप्र, विचक्षण, सोम! तुम एक कवि थे, देवों को अत्यन्त प्रिय," इत्यादि।

…इन्द्राय सुन्वद् ऋषये च शिक्षत् (ऋग्वेद १०.२७,२२)।

"इन्द्र को हवि, और ऋषि को दक्षिणा प्रदान करें।"

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वाम् आहुर् विप्रतमं कवीनाम्। न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चन आरे महाम् अर्कम् मघवञ्श् चित्रम् अर्च (ऋग्वेद १०. ११२, ९)।

"हे गणपति! हमारे गणों के बीच बैठो; वे तुम्हें विप्रतम कवि कहते हैं; तुम्हारे बिना अथवा तुम्हारे अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया जाता। हे मघवन्! एक महान और सुन्दर स्तोत्र की अर्चना करो।"

अग्निः कण्वतमः कण्व-सखा इत्यादि (ऋग्वेद १०.११५,५)।

"अग्नि कण्वों में श्रेष्ठ और कण्वों के सखा हैं," इत्यादि।

२—जैसा कि हम देख चुके हैं, वैदिक ऋषि अपने देवों से समस्त प्रकार के पार्थिव आशीर्वाद, बल, दीर्घायुष्य, सन्तान, धन, पशु, वर्षा, अन्न, विजय, प्राप्त करने की आशा रखते थे, और अपने पापों को क्षमा कराने तथा कभी-कभी मोक्ष प्राप्त करने के लिये भी ये देवों के ही मुखापेक्षी रहते थे। अतः यदि हम यह पाते हैं कि ऋषिगण अपने विभिन्न देवताओं से अपनी बुद्धि को प्रकाशित करने, यज्ञादि कर्मों का निर्देशन करने, भक्ति को प्रोत्साहित करने, काव्यात्मक क्षमताओं को समृद्ध करने, और अपने स्तोत्रों की रचना के लिये सत्प्रेरणा प्रदान करने के हेतु भी यदि ऋषिगण देवों से ही निवेदन करते हैं तो यह हमारे पूर्व अनुमान से भिन्न नहीं है। मेरा विचार है कि निम्नलिखित स्थल यह दिखाते हुए इस निष्कर्ष को पुष्ट करेंगे कि ऋषिगण (यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, वे अक्सर स्तोत्रों को अपनी कृति कहते हैं) कभी-कभी ऐसा भी विचार रखते थे कि उनकी स्तुतियाँ, स्तोत्र, और यज्ञादि कर्म अलौकिक रूप से प्रेरित और निर्देशित होते थे। इनमें से एक पद्धति (यदि यह सर्वप्रथम नहीं भी है) में यह विचार व्यक्त किया गया है, जैसा कि हम देखेंगे, कि विभिन्न उपाधियों के द्वारा वाच् का मूर्त्तिकरण है। मेरा तात्पर्य निम्न स्थलों से है:

प्रथम: ऐसे स्थल जिनमें सामान्य रूप से देवों का उल्लेख है—

प्र वः शर्धाय घृष्वये त्वेष-द्युम्नाय शुष्मिणे। ब्रह्म देवत्त गायत (ऋग्वेद १.३७,४)।

"अपने पराक्रमी, शक्तिशाली और शत्रु नाशक मरुद्गणों के प्रति देव-प्रदत्त स्तोत्र का गायन करो।"

त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पति। पुत्रैर् भ्रातृभिर् अदितिर् नु पातु नो दुष्टरम् त्रामणं वचः (सामवेद १.२९९)।

"त्वष्टा, पर्जन्य, और ब्रह्मणस्पति हमारे दिव्य वाचों को समृद्ध करें : अपने पुत्रों और भ्राताओं के साथ अदिति हमारे दुर्द्धर्ष और रक्षात्मक उच्चारणों को समृद्ध करें।"

वाद के स्थल पर स्तोत्र अथवा स्तुति को अवोधगम्य वताया गया है।

अचित्तम् ब्रह्म जुजुषुर् युवानः इत्यादि (ऋग्वेद १.१५२,५)।

"युवकों ने हर्ष के साथ अवोधगम्य स्तोत्र को ग्रहण किया", इत्यादि।

अग्ने विमदो मनीषाम् ऊर्जोनापाद् अमृतेभिः सजोषाः गिरः आवक्षत् सुमतीर् इयानः इत्यादि (ऋग्वेद १०.२०,१०)।

"हे अग्नि ! बल के पुत्र विमद अमरों के साथ सम्मिलित होकर शीघ्रतापूर्वक तुम्हारे पास एक विचार द्वारा उत्पन्न स्तुति तथा सुन्दर स्तोत्र लाये हैं," इत्यादि।

निम्न दो स्थलों पर ऐसा कथन है कि देवों ने स्तोत्र अथवा स्तुति को उत्पन्न किया।

...स्वाध्यो अजनयन ब्रह्म देवाह् वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् (ऋग्वेद १०.६१,७)।

"स्वाध्याय करनेवाले देवताओं ने स्तोत्र को उत्पन्न किया : उन्होंने यज्ञ-कर्मों के रक्षक वास्तोष्पति का निर्माण किया।"

सूक्त-वाकम् प्रथमम् आद् इद् अग्निम् आद् इद् हविर् अजनयन्त देवाः। स एषां यज्ञो अभवत् तनूपाः तम् द्यौर् वेद तम् पृथिवी तम् आपः (ऋग्वेद १०.८८,८)।

"देवों ने सर्वप्रथम स्तोत्र को उत्पन्न किया, उसके वाद अग्नि को, और फिर हवि को। वह उनका यज्ञ था और उनके जीवन का रक्षक। उसे आकाश, पृथिवी, और जल जानते हैं।"

निम्न ऋचाओं में से वाद वाली ऋचा में वाच् को दिव्य तथा देवों द्वारा उत्पन्न वताया गया है। यद्यपि यहाँ सामान्य रूप से ही वाच् की चर्चा है, और स्तोत्रों के सम्वन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, तथापि वैदिक ऋषियों के मन में ये (स्तोत्र) वाग्देवी के साथ सम्वद्ध हो चुके थे, जैसा कि वाद में तो इन्हें वाग्देवी की सर्व पवित्र और महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति माना जाने लगा।

१०. यद् वाग् वदन्ती अविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्रः ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विद् अस्याः परमं जगाम। ११. देवीं वाचम् अजनयन्त देवास् तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रा इषम् ऊर्जं दुहाना धेनुर् वाग् अस्मान् उप सुष्टुता आ एतु (ऋग्वेद ८, १००, १०. ११)।

"देवों की महारानी, मधुर वाच्, जब अबोधगम्य वार्तों को बोलती हुई बैठी तब उसने चारों दिशाओं की ओर शक्ति और जलों का दोहन किया : उसका परम तत्त्व कहाँ, किधर चला गया ? देवों ने दिव्य वाच् को उत्पन्न किया; हर प्रकार के पशु उसका उच्चारण करते हैं। यह आनन्ददायिनी धेनु वाच्, जो हमें शक्ति और अन्न आदि प्रदान करती है, उस समय हमारे पास आये जब हम उसकी स्तुति करते हैं।"

अन्तिम ऋचा (तथा साथ ही साथ ऋग्वेद ८.१०१,१६, जिसे बाद में उद्धृत किया जायगा) बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्न स्थल से अपना भावग्रहण करती प्रतीत होती है जहाँ वाच् को एक धेनु कहा गया :

वाचं धेनुम् उपासीत। तस्याश् चत्वारः स्तनाः स्वाहा-कारो वषट्-कारो हन्त-कारः स्वधा-कारह्। तस्याः द्वौ स्तनौ देवाः उपजीवन्ति स्वाहा-कारम् च वषट्कारं हन्त-कारम् मनुष्याः स्वधा-कारम् पितरः। तस्याः प्राणः ऋषभो मनो वत्सः (बृहदारण्यक उपनिषद् ५.८,१)।

"वाच् रूपी धेनु की उपासना करे। उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार, और स्वधाकार। उसके दो स्तन, स्वाहाकार और वषट्कार के उपजीवी देवगण हैं, हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं, और स्वधाकार के पितृगण। उस धेनु का प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है।"

उक्त दो ऋचायें, ऋग्वेद ८.१००,१० और ११, निरुक्त ११. २८,२९ में आती हैं। रौथ (निरुक्त के अपने संस्करण में पृ० १५२ पर) यह कहते हैं कि १० वीं ऋचा में वाच् के अबोधगम्य उच्चारण से गर्जन का तात्पर्य है। स्थिति ऐसी है अथवा नहीं, किन्तु इस शब्द का तथा बाद की ऋचा में एक अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अर्थ है और उससे एक दिव्य प्राणी की भाँति मूर्तिकृत सामान्य वाच् से ही तात्पर्य है। वह वाणी, जिसका समस्त पशु उच्चारण करते हैं, निःसन्देह गर्जन नहीं हो सकती।

प्र सु स्तोमम् भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यम् अस्ति। न इन्द्रो अस्ति इति नेमः उ त्वः आह कः ईम् ददर्श कम् अभि ष्टवाम्। अयम् अस्मि जरितः पश्य मा इह विश्वा जातानि अभि अस्मि मह्ना। ऋतस्य मा प्रदिशो वर्द्धयन्ति आदर्दिरो भुवना दर्दरीमि (ऋग्वेद ८.१००,३.४)।

"यदि इन्द्र की सत्ता सत्य है तो, भोजन का निवेदन करते हुए इन्द्र के लिये एक सत्य स्तोत्र समर्पित करो। कोई कहता है कि 'इन्द्र का अस्तित्व नहीं है, उन्हें किसने देखा है ? हम किसकी स्तुति करें ?, इन्द्र उत्तर देते हैं

'हे स्तोता ! मैं यहाँ हूँ, मुझे देखो ; मैं महानता में सब प्राणियों से श्रेष्ठ हूँ; यज्ञादि के सञ्चालक मेरा वर्द्धन करते हैं; मर्दन करते हुए मैं भुवनों का विनाश करता हूँ।"

द्वितीय : अब मैं जिन स्थलों का उद्धरण दूँगा, वे या तो सरस्वती, वाच्, इत्यादि (वाग्देवी के विभिन्न नाम अथवा वाच् अथवा स्तोत्रों के विभिन्न मूर्त्तिकरण) का उल्लेख है, अथवा स्तोत्रों को कम से कम दिव्य कहा गया है।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।··· धियो विश्वा विराजति (ऋग्वेद १.३,११.१२)।

"जो हमारे स्तोत्रों को प्रेरित करती हैं, और जो हमारी स्तुतियों के प्रति चेतन हैं, वही सरस्वती हमारे यज्ञ धारण को करने वाली हैं।···वह समस्त बुद्धियों को प्रकाशित करती हैं।"

आ ग्नाः अग्ने इह अवसे होत्रां यविष्ठ भारतीम्। वरूत्रीं धिषणां वह (ऋग्वेद १.२२,१०)।

"हे युवा अग्नि ! हमारी रक्षा के लिये होत्रा, भारती, वरूत्री और धिषणा देवियों को यहाँ लाओ।"

('वरूत्री' केवल 'धिषणा' का विशेषण मात्र हो सकता है। सायण के अनुसार धिषणा = वाग् देवी)।

इळाम् अकृण्वन् मनुषस्य शासनीम् इत्यादि (ऋग्वेद १.३१,११)।

"देवों ने इळा को मनुष्यों की शिक्षिका बनाया।"

सरस्वती साधयन्ती धियं नः इळा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः। तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिर् एदम् अछिद्रम् पान्तु शरणं निषद्य (ऋग्वेद २.३,८)।

"सरस्वती, देवी इळा, और सर्वव्यापी भारती हमारे स्तोत्रों को सिद्ध करें। ये तीनों देवियाँ यज्ञ-स्थल पर बैठ कर अपनी शक्ति से कुश की भग्न होने से रक्षा करें।" देखिये इस ऋचा के एक अंश का प्रो० मैक्स मूलर का अनुवाद ज० ए० सो०, १८६७, ३.२२४)।

···यावद् ईशे ब्रह्मणा वन्दमानः इमां धियं शतसेयाय देवीम् (ऋग्वेद ३.१८,३)।

"असीम धन प्राप्त करने के लिये मैं इस दिव्य स्तोत्र द्वारा अपनी शक्ति भर स्तुति करते हुए तुम्हारी वन्दना करता हूँ।"

क उ श्रवत् कतमो यज्ञियानां वन्दारु देवः कतमो जुषाते। कस्य इमां देवीम् अमृतेषु प्रेष्ठां हृदि श्रेष्याम सुष्टुतिं सुहव्याम् (ऋग्वेद ४.४३,१)।

"हमें कौन सुनेगा? वन्दना के पात्रों में से कौन? देवों में से कौन हमारी स्तुतियों से सन्तुष्ट होगा? अमरों में से किसके हृदय में हम अपने दिव्य और अत्यन्त प्रिय स्तोत्र और आह्वान को स्थित कर सकते हैं?"

प्र शुक्रा एतु देवी मनीषा अस्मत् सुतष्टो रथो न वाजी (ऋग्वेद ७.३४,१)।

"एक सुरचित रथ को अश्वों द्वारा खींचे जाने के समान हमसे उज्ज्वल और दिव्य स्तुति निकले।"

अभि वो देवीं धियं[२५] ददिध्वम् प्र वो देवत्रा वाचं कृणुध्वम् (ऋग्वेद ७.३४,९)।

"अपनी ओर इस दिव्य स्तोत्र को ग्रहण करो; देवों के बीच इस स्तुति को कहो।"

देवं देवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया (ऋग्वेद ८.२७,१३)।

"हम प्रत्येक देवता का, धन प्रदान करने के लिये, एक दिव्य स्तोत्र से स्तुति करते हुए आवाहन करें।"

वचो-विदं वाचम् उदीरयन्तीं विश्वाभिर् धीभिर् उपतिष्ठमानाम्। देवीं देवेभ्य परि एयुषी गाम् आ मा अवृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः (ऋग्वेद ८.१०१,१६)।

"प्रकाश से सम्पन्न वाणी को देनेवाली, देवता के निमित्त मुझे पहचानने वाली, और स्तोत्रों के साथ उपस्थित होने वाली धेनु रूपी देवी की कोई अल्प बुद्धि मनुष्य हिंसा न करे।"

अभि ब्रह्मीर् अनूषत यह्वीर् ऋतस्य मातरो मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम् (ऋग्वेद ९.३३,५)।

"यज्ञ की महान और पवित्र माताओं ने स्तोत्र का उच्चारण किया : वे आकाश के पुत्र को अलंकृत करती हैं।

१. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः। यद् एषां श्रेष्ठं यद् अरिप्रम् आसीत् प्रेणा तद् एषां निहितं गुहा आविः। २. सक्तुम् इव तितउना पुनन्तो यत्र धीराः मनसा वाचम् अक्रत। अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रा एषां लक्ष्मीर् निहिता अधि वाचि। ३. यज्ञेन वाचः पदवीयम् आयन् ताम् अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ताम् आभृत्य व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभाः अभि सन्नवन्ते। ४. उत त्वः पश्यन् न

---

[२५] तुलना कीजिये यही 'धियम् देवीम्' वाक्य अथर्ववेद ३.१५,३, और 'दैव्या वाचा', अथर्ववेद ८.१,३, में।

ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः। ५. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतम् आहुर् नैनं हिन्वन्त्य् अपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति मायया एष वाचं सुश्रुवान् अफलाम् अपुष्पाम्। ६. यस् तित्याज सचि-विदं सखायं न तस्य वाचि, अपि भागो अस्ति। यद् ईं शृणोति अलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् (ऋग्वेद १०.७१,१-६)

१. "हे बृहस्पति! जब मनुष्यों ने वाच् के प्रथम और अग्रतम पदार्थ को, नामकरण करते हुये भेजा, तब उसमें जो कुछ भी श्रेष्ठ और निष्कलङ्क निहित था, प्रेम के द्वारा प्रगट हुआ। २. जिस प्रकार सत्तू को सूप से शुद्ध करते हैं, वैसे ही मेधावी जन अपने बुद्धि-बल से वाच् का उच्चारण करते हैं: उस समय उनके मित्रगण उनके इस मित्रवत् कार्य को जानते हैं; उनकी वाणी में कल्याण-कारिणी लक्ष्मी का निवास रहता है। ३. इन लोगों ने यज्ञ के द्वारा वाच् के मार्ग को प्राप्त किया, और वाच् को ऋषियों के अन्तःकरण में स्थित पाया[१६]: उस वाच्को लेकर इन लोगों ने उसे अनेक भागों में विभक्त किया: इसकी ही सात कवि स्तुति करते हैं। ४. एक व्यक्ति देखकर भी वाच् को नहीं देखता; दूसरा सुनकर भी उसे नहीं सुनता, एक अन्य को वह उसी प्रकार अपना रूप प्रगट करती है जिस प्रकार एक सुअलंकृत और प्रिय पत्नी अपने पति को अपना रूप दिखाती है। ५. उनका कथन है कि एक व्यक्ति उसकी (वाच् की) मित्रता से निश्चित सुरक्षा पा सकता है; शास्त्रार्थों तक में उसको कोई पराभूत नहीं कर सकता। किन्तु ऐसा व्यक्ति एक निरर्थक भ्रम में पड़ा होता है जिसने केवल वाच् को सुना है, क्योंकि उसके लिये यह फल और पुष्प-विहीन होती है। ६. जिसने अपने प्रिय मित्र को छोड़ दिया है, वाच् का कोई-अंश प्राप्त नहीं करता, वह जो कुछ भी सुनता है सब निरर्थक होता है; वह सत्य मार्ग से अनभिज्ञ रहता है।"

इस अस्पष्ट सूक्त की दूसरी, चौथी, और पाँचवीं ऋचाओं को निरुक्त ४.१०,१.१९-२०, में उद्धृत किया गया है, और रौथ ने निरुक्त के अपने संस्करण में इनकी व्याख्या भी की है। दूसरी और चौथी ऋचाओं का महाभाष्य में उद्धरण देते हुये विवेचन किया गया है; देखिये वैलेनटाइन के संस्करण के पृ० ३० और ३१। फिर भी मेरे प्रयोजन के लिये सर्वाधिक महत्त्व तीसरी ऋचा का है जिसमें वाच् के 'ऋषियों में प्रवेश' का उल्लेख है। वाच्

---

[१६] देखिये ऊपर पृ० ११२ पर इस स्थल का शङ्कर द्वारा प्रयोग।

के अनेक अंशों में विभाजन का विचार, पुनः ऋग्वेद १०.१२५,३ में, देखने को मिलेगा।

आ नो यज्ञम् भारती तूयम् एतु इळा मनुष्वद् इह चेतयन्ती। तिस्रो देवीर् बर्हिर् आ इदम् स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु (ऋग्वेद १०.११०,८ = वाजसनेयि संहिता २९.३३)।

"मनुष्यों की भाँति हमको उपदेश देनेवाली इळा, और सरस्वती के साथ भारती देवी शीघ्रता से हमारे यज्ञ में पधारें : यज्ञादि कर्मों में कुशल ये तीनों देवियाँ इस सुन्दर कुशासन पर बैठें।"

३. अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। ताम् मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्राम् भूरि आवेशयन्तीम्। ४. मया सो अन्नम् अत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोति उक्तम्। अमन्तवो मां ते उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। ५. अहम् एव स्वयम् इदं वदामि जुष्टं देवेभिर् उत मानुषेभिः। यं कामये तं तम् उग्रं कृणोमि तम् ब्रह्माणं तम् ऋषिं त सुमेधाम् (ऋग्वेद १०.१२५,३-५)।

३. "मैं राज्यों की अधिष्ठात्री, धन प्रदात्री, ज्ञान सम्पन्न यज्ञों में प्रयुक्त साधनों में श्रेष्ठ हूँ : देवताओं ने मुझे अनेक भागों में विभक्त करके अनेके स्थानों में स्थापित किया है, और मुझे विस्तृत रूप से व्याप्त किया है। ४. जिसमें अन्तर्दृष्टि है, जो जीवित रहता है, जो मेरे वचनों को सुनता है, मेरे द्वारा भोजन प्राप्त करता है। ऐसे व्यक्ति मेरे निकट वास करते है। हे विज्ञ, सुनो, मैं तुमसे यथार्थ वचन कहती हूँ। ५. जिसके आश्रय को मनुष्य और देवता लोग प्राप्त होते है, मैं उसी की उपदेशिका हूँ। जिसे में चाहूँ, उस व्यक्ति को मैं बलवान्, मेधावी, स्तोता और कवि बना सकती हूँ[२७]।"

प्र देवं देव्या धिया भरत जातवेदसम् हव्या नो वक्षद् आनुषक् (ऋग्वेद १०.१७६,२)।

---

[२७] यह स्थल, जिसे सामान्य रूप से वाच् को समर्पित माना जाता है, अथर्ववेद ४ ३०,२ और बाद, मे भी आता है, किन्तु वहाँ कुछ पाठ भेद हैं, जैसे 'आवेशयन्तीम्' के लिये 'आवेशयन्तः', और 'श्रद्धिवम्' के लिये 'श्रद्धेयम्', इत्यादि। इस सूक्त का कोल० मिस० ए०, १०३२ मे भी अनुवाद किया गया है। एक व्यक्तिगत पत्र से, जिसे मुझे प्रो० ह्विट्ने ने देने की कृपा की है, मुझे पता चला कि ह्विट्ने का यह मत है कि इस सूक्त की भाषा मे ऐसा कुछ नहीं है जिसे विशेषत: उस वाच् के लिये उपयुक्त माना जा सके, जिसके आधार पर उच्चारक द्वारा इसका 'वाच्' को सम्बोधित किया जाना उचित सिद्ध हो सके।

"दिव्य स्तुतियों से जातवेदस् को इधर लाओ: वह हमारी हवियों को क्रम से समर्पित करें।"

पतङ्गम् अक्तम् असुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः। समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनाम् पदम् इच्छन्ति वेधसः। २. पतङ्गो वाचम् मनसा बिभर्त्ति तां गन्धर्वो अवदद् गर्भे अन्तः। तां द्योतमानां स्वर्यम् मनीषाम् ऋतस्य पदे कवयो निपान्ति (ऋग्वेद १०.१७७,१-२)।

"असुर की माया से प्रकाशित पक्षी को ऋषिगण हृदय और मन से देखते हैं: कविगण उसे (अन्तरिक्षीय) सागर में देखते हैं। वेधस् उसकी रश्मियों के आवास की इच्छा करते है। यह पक्षी अपने मानस से वाच् को धारण करता है: गन्धर्वों ने उसे गर्भ में स्थित किया: ऋषिगण इस दिव्य और प्रकाशमान बुद्धि को यज्ञादि कर्मों के स्थल पर सुरक्षित रखते है।" (देखिये १०.१८९,३: 'वाक् पतङ्गाय धीयते')।

तृतीय: अब मैं ऐसे स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनमें अकेले अथवा सामूहिक रूप से अन्य वैदिक देवों को स्तोत्रों की उत्पत्ति से सम्बद्ध किया गया है:

अदितिः—ऋग्वेद ८.१२,१४ में अदिति को यह कार्य सम्पन्न करनेवाला बताया गया है:

यद् उत स्वराजे अदितिः स्तोमम् इन्द्राय जीजनत् पुरु-प्रशस्तम् ऊतये इत्यादि (ऋग्वेद ८.१२,१४)

"अदिति ने स्वयं सुशोभित इन्द्र के लिये, रक्षा करनेवाले तथा अनेकों से प्रशसित सत्य-रूप स्तोत्र को प्रकट किया", इत्यादि।

सदसस्पतिम् अद्भुतम् प्रियम् इन्द्रस्य काम्यम्। सनिम् मेधाम् अयासिषम्। यस्माद् ऋते न सिद्ध्यति यज्ञो विपश्चितश् चन। स धीनां योगम् इन्वति (ऋग्वेद १.१८,६.७)

६. "मैं अद्भुत रूपवाले, प्रिय, इन्द्र के स्नेह पात्र, और उदार सदसस्पति की, बुद्धि प्रदान करने के लिये, स्तुति करता हूँ, ७. जिनकी कृपा के विना बुद्धिमानों का यज्ञ सफल नहीं होता: वह हमारे स्तोत्रों को उचित प्रेरणा देते है।"

३. साम द्वि-बर्हाः महि तिग्म-भृष्टिः सहस्र-रेता वृषभस् तुविष्मान्। पदं न गोर् अपगूळ्हं विविद्वान् अग्निर् मह्य प्र इद् उ वोचद् मनीषाम्। ६. इदम् मे अग्ने कियते पावक अमिनते गुरुम् भारं न मन्म। बृहद् दधाथ धृषता गभीरं यह्वम् पृष्ठम् प्रयसा सप्तधातु (ऋग्वेद ४.५,३.६)।

३. "दो स्थानों में व्याप्त, भयकर ज्वालाओंवाले, सहस्र रेतस्, शक्तिशाली, बलवान, महान स्तोत्रों के ज्ञाता और खोई हुई गाय के पदचिह्नों के समान रहस्यमय अग्नि ने मुझे ज्ञान दिया। ६. हे पावक अग्नि ! मुझ जैसे दुर्बल किन्तु निरुपद्रवी को तुमने प्रभावशाली हवि के साथ एक भारी बोझ के समान, महान्, गम्भीर, और सात धातुओं वाला पृष्ठ सूक्त प्रदान किया।"

त्वं हि विश्वम् अभि असि मन्म प्र वेधसश् चित् तिरसि मनीषाम् (ऋग्वेद ४.६,१)।

"तुम समस्त विचारों के अध्यक्ष हो, तुम ऋषि की बुद्धि को समृद्ध करते हो।"

त्वद् अग्ने काव्या त्वद् मनीषास् त्वद् उक्था जायन्ते राध्यानि (ऋग्वेद ४ ११,३)।

"तुमसे ही, हे अग्नि ! काव्यात्मक विचार उत्पन्न होते है, तुमसे ही मन के भाव, और तुमसे ही प्रभावशाली स्तोत्र उत्पन्न होते हैं।"

अग्निर् जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या (ऋग्वेद १०.२१,५)।

"अथर्वन् द्वारा उत्पन्न अग्नि समस्त ज्ञान से परिचित हैं।"

...मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनम् अग्निम् इत्यादि (ऋग्वेद १०. ९१,८)।

मेधा प्रदान करनेवाले और यज्ञ को सिद्ध करनेवाले, अग्नि", इत्यादि।

यद् वो वयम् प्रमिनामो व्रतानि विदुषां देवाः अविदुस्तरासः। अग्निस् तद् विश्वम् आप्रिणाति विद्वान् येभिर् देवान् ऋतुभिः कल्पयाति। यत् पाक्त्रा मनसा दान-दक्षाः न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः। अग्निस् तद् होता क्रतुविद् विजानन् यजिष्ठो देवान् ऋतुशो यजाति (ऋग्वेद १०.२,४-५)।

४. "हे देवो, जब बुद्धिमानों में से अत्यन्त अबुद्धिमान् हम लोग तुम्हारी स्तुतियों के विधान का उल्लंघन करते हैं, तब ज्ञाता अग्निदेव योग्य समयों पर उन्हें पूर्ण करते हैं। ५. जब यज्ञ करनेवाले मनुष्य अपनी अज्ञता के कारण उपासना की पद्धति को नहीं जान पाते, तब कुशल याज्ञिक और अत्यन्त उत्कृष्ट पुरोहित अग्नि, कर्मों को जानते हुये उचित समय पर देवों का यजन करते हैं।"

(यत: आरम्भिक भारतीयों के प्रचलनों में स्तोत्रों और यज्ञादि कर्मों मे घनिष्ट सम्बन्ध था अतः स्तोत्रों का कर्मों के लिये व्यवहार होता था, यदि अग्नि

को एक अर्थात् हवि का निर्देशक माना जाता था, तो उसे दूसरे अर्थात् स्तोत्रों की रचना में भी सहायक मान लिया जाना सरल था। चौथी ऋचा अथर्ववेद १९. ५९, १. २ में भी आती है, जहाँ यद्यपि, 'आपृणाति' के स्थान पर 'आपृणातु' पाठ है, और 'येभिर् देवान्' इत्यादि, ऋचा के अन्तिम शब्दों के स्थान पर 'सोमश् च यो ब्राह्मणान् आविवेश' (सोम जो पुरोहितों में प्रविष्ट हुये) है।

ब्रह्मणस्पति :—

प्र नूनम् ब्रह्मणस्पतिर् मन्त्रं वदति उक्थ्यम्। यस्मिन्न् इन्द्रो वरुणो मित्रः अर्यमा देवा' ओकांसि चक्रिरे। तम् इद् वोचेम विदथेषु शम्भुवम् मन्त्रं देवाः अनेहसम् इत्यादि (ऋग्वेद १.४०,५.६)।

५. "ब्रह्मणस्पति (भाष्यकार के अनुसार स्तोता के मुख में स्थित) मंत्रों के साथ ऐसी स्तुति का उच्चारण करते हैं जिसमें देवों, इन्द्र, वरुण, मित्र, और अर्यमन् ने अपना निवास बनाया है। ६. यज्ञ के समय हम इस कल्याणकारी और निष्कलंक मन्त्रों का देवों के लिये उच्चारण करें।" (अपने कोश में रॉथ ने 'ओकस्' शब्द का अर्थ 'अत्यन्त आनन्द', 'सन्तोष', माना है। देखिये ज० ज० ओ०, सो०, १.७४ में उनका ब्रह्म और ब्राह्मणों पर लेख भी)।

बृहस्पति :—

उस्राः इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषाम् इज् जनिता ब्रह्मणाम् असि (ऋग्वेद २.२३, २)।

"जिस प्रकार सूर्य अपनी ज्योति से तत्काल किरणों को उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार हे बृहस्पति ! तुम समस्त स्तोत्रों के जनक हो।"

आ इन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वताम् इळा बृहस्पतिः सामभिर् ऋक्वो अर्चतु (ऋग्वेद १०.३६,५)।

"इन्द्र कुश पर बैठें; इळा अपने दान से परिपूर्ण हों; ऋषि बृहस्पति स्तोत्रों द्वारा अपनी स्तुति करें।"

गन्धर्व :—रॉथ के अनुसार (देखिये इनके कोश में इस शब्द के अन्तर्गत) वेद में गन्धर्व को एक ऐसे देवता के रूप में व्यक्त किया गया है जो आकाश के रहस्यों, और सामान्य रूप से दिव्य सत्यों से परिचित और उनका उद्घाटन करता है। अपने इस मत की पुष्टि के लिये रॉथ ने निम्न स्थल का उद्धरण दिया है :

विश्वावसुर् अभि तद् नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः। यद् वा घा सत्यम् उत यद् न विद्म धियो हिन्वानो धियः इद् नः अव्याः (ऋग्वेद १०.१३९,५)।

"अन्तरिक्ष को नापनेवाले दिव्य गन्धर्व विश्वावसु हमें वह बतायें जो सत्य है अथवा जिसे हम नहीं जानते। वे हमारे स्तोत्रों को प्रोत्साहित करें, और वे हमारे स्तोत्रों को समृद्ध करें।"

प्र तद् वोचेद् अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परम गुहा यत् (अथर्व वेद २.१,२)।

"अमरत्व के रहस्यों को जाननेवाले गन्धर्व हमें उस परम और रहस्यमय आवास को बतायें।"

इन्द्र :—

महत् तद् वः कवयश् चारु नाम यद् ह देवाः भवथ विश्वे इन्द्रे। सखा ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभिर् इमां धिय सातये तक्षत न' (ऋग्वेद ३.५४,१७)।

"हे ऋषि देवो! तुम्हारा कर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है जो तुम इन्द्र के साथ सम्बन्द्ध हो। हमारे मित्र, बहु-आहूत इन्द्र! अपने प्रिय ऋभुओं के साथ, हमारे लाभ के लिये, इस स्तोत्र को बनाओ।" (इसका केवल इतना ही अर्थ हो सकता है कि इन्द्र से स्तोता के स्तोत्र के निर्माण के लिये नहीं वरन् उसकी स्तुति को अनुकूल बनाने के लिये ही कहा गया है। देखिये 'तक्ष्' शब्द के अन्तर्गत रॉथ का कोश)।

त्वं कविं चोदयः अर्कसाताव् इत्यादि (ऋग्वेद ६.६२, ३)।

"(हे इन्द्र!) तुमने स्तोत्र-रचना में कवि को अवश्य प्रेरित किया था, इत्यादि।" (सायण ने 'अर्कसातौ' शब्द का 'अन्न प्राप्त करने के हेतु' अनुवाद किया है)।

कृष्व कृत्नो अकृतं यत् ते अस्ति उक्थं नवीयो जनयस्व यज्ञैः (ऋग्वेद ६.१८, १५)।

"स्फूर्तिमान (इन्द्र)! वह करो जो तुमने कभी नहीं किया है; यज्ञ के साथ एक नवीन स्तोत्र उत्पन्न करो।"

सं च त्वे जग्मुर् गिरः इन्द्र पूर्वीर् वि च त्वद् यन्ति विभ्वो मनीषाः (ऋग्वेद ६.३४, १)।

"हे इन्द्र ! अनेक स्तोत्र तुम में एकत्र हैं; और अनेक मानस जन्य विषय तुमसे उत्पन्न होते है।"

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुम् इच्छ चोदाय धियम् अयसो न धाराम्। यत् किञ्च अहं त्वायुर् इदं वदामि तज् जुषस्व कृधि मा देववन्तम् (ऋग्वेद ६ ४७, १०)।

"हे इन्द्र ! मेरा मगल करो, मेरी आयु की वृद्धि करो, लौह अस्त्र की धार के समान मेरी बुद्धि को तीव्र करो। मैं तुम से जो कुछ भी प्रार्थना करता हूँ, उसे स्वीकार करो; मुझे दिव्य रक्षा प्रदान करो।" ('चोदया' शब्द की ऋग्वेद ३.६२,१० में गायत्री के 'प्रचोदयात्' शब्द के साथ तुलना कीजिये; ऋग्वेद ३.६२,१० का आगे उद्धरण दिया गया है)।

३. तम् उ नमसा हविर्भिः सुशेवम् ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे। इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा। ५, तम् आ नो अर्कम् अमृताय जुष्टम् इमे धासुर् अमृतासः पुराजाः इत्यादि (ऋग्वेद ७.९७, ३.५)।

३. "मैं उदार ब्रह्मणस्पति को हवि और नमस्कार प्रस्तुत करता हूँ। एक महान और दिव्य श्लोक उस इन्द्र की प्रशस्ति करे जो देवों द्वारा रचित स्तुतियों के राजा हैं। ५. ये प्राचीन अमर गण हमारे इस स्तोत्र को अमरों के लिये स्वीकार्य बनायें," इत्यादि।

प्रत्न-वज् जनय गिरः सृणुधि जरितुर् हवम् (ऋग्वेद ८.१३,७)।

प्राचीन समय की भांति स्तोत्रों को उत्पन्न करो; अपने स्तोता के आह्वान को सुनो।"

स प्रत्नथा कवि-वृधः इन्द्रो वाकस्य वक्षणिः (ऋग्वेद ८.६३,४)।

"प्राचीनकाल से इन्द्र कवि की वृद्धि करनेवाला, और वाक्यों को समृद्ध करनेवाला है।"

५. यज् जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्र-हत्याय। तत् पृथिवीम् अप्रथयस् तद् अस्तभ्नाः उत द्याम। ६. तत् ते यज्ञो अजायत तद् अर्कः उत हस्कृतिः। तद् विश्वम् अभिभूर असि यज् जातं यच् च जन्त्वम् (ऋग्वेद ८.८९,५.६)।

"हे अपूर्व मघवन् ! वृत्र के वध के लिए तुम्हारा जन्म हुआ था, तब तुमने पृथिवी को फैलाया और आकाश को धारण किया : तब तुम्हारे यज्ञ की उत्पत्ति हुई, फिर स्तोत्र की, और हस्कृति की : तब से ही तुम, जो कुछ था, जो है, और जो जन्म लेगा, उन सबसे श्रेष्ठ रहे हो।"

अतः यहाँ स्तोत्र को उतना ही प्राचीन कहा गया है जितने इन्द्र हैं, यद्यपि इससे केवल इतना ही अर्थ होना चाहिये कि उस समय से ही स्तोत्रों की रचना आरम्भ हो गई थी। इसी ऋचा से तात्पर्य होना आवश्यक नहीं।

नि षु सीद गणपते गणेषु त्वम् आहुर् विप्रतमं कवीनाम्। न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चन आरे महाम् अर्कम् मघवन् चित्रम् अर्च (ऋग्वेद १०.११२,९)।

"हे गणपति हमारे गणों के मध्य बैठो, वे तुम्हें कवियों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। तुम्हारे बिना अथवा तुमसे पृथक् कुछ नहीं होता। हे मघवन! एक महान और सुन्दर स्तोत्र की अर्चना करो।"

इन्द्र और विष्णु :—

या विश्वासां जनितारा मतीनाम् इन्द्रा-विष्णू कलशा सोम-धाना। प्र वां गिरः शस्यमानाः अवन्तु प्र स्तोमासो गीयमानासः अर्कैः (ऋग्वेद ६.६९, २)।

"हे इन्द्र और वरुण! तुम समस्त स्तोत्रों के जनक, सोम गिराये जानेवाले कलश हो: हम जिन स्तुतियों का उच्चारण और जिन स्तोत्रों का सामूहिक रूप से गायन कर रहे हैं वे तुम्हें संतुष्ट करें।"

इन्द्र और वरुण :—वास्तविक रूप से निम्नस्थल ऋग्वेद का अंश नहीं है क्योंकि यह आठवें मण्डल के ४८ वें और ४९ वें सूक्तों के बीच मिलनेवाले वालखिल्यों का अंश है। फिर भी, इसकी शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि यह उतना ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद के कुछ अन्य अंश।

इन्द्रावरुणा यद् ऋषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतम् अदत्तम् अग्रे। यानि स्थानान्य् असृजन्त धीरा· यज्ञं तन्वानास् तपसाऽभ्यपश्यम् (ऋग्वेद, वालखिल्य, ८.५९,६)।

"इन्द्र-वरुण, हमने तपस्या के द्वारा, यह देख लिया है कि तुमने ऋषियों को पूर्वकाल में बुद्धि, वाच्-बल, श्रुति और वह सब स्थान प्रदान किये जिन्हें यज्ञ करते हुये ऋषियों ने सृजित किया।"

मरुद्गण :—

प्र वः इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्म अर्चत (ऋग्वेद ८.८९,३)।

"हे मरुद्गण! महान इन्द्र के प्रति अपने स्तोत्र का गायन करो।" (इसी सूक्त की प्रथम ऋचा, तथा ३.३२,२ में 'ब्रह्मकृता मारुतेन गणेन' शब्दों की तुलना कीजिये)।

मसीमहि त्वा वयम् अस्माकं देव पूषन् मतीनां च साधनम् विप्राणां च आधवम् (ऋग्वेद १०,२६,४)।

"हमारे स्तोत्रों को सिद्ध करनेवाले और विप्रों के प्रेरक दिव्य पूषन् ! हमने तुम्हें अपने मन में धारण किया।" (फिर भी, इसके प्रथम पाद का अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि यह देव स्तुति में व्यक्त इच्छाओं को पूर्ण करता है। तुलना कीजिये ऋग्वेद ६.५६,४: यद् अद्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः। तत् सु नो मन्म साधय। अर्थात् "हे शक्तिशाली, और बुद्धिमान देवता ! मैं आज स्तोत्र का उच्चारण कर रहा हूँ, उसके उद्देश्य को हमारे लिये सिद्ध करो।")

सवितृ :—

तत् सवितुर् वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् (ऋग्वेद ३.६२,१० = सामवेद २.८१२, और वाजसनेयि सहिता ३.३५)।

"हमने दिव्य सवितृ के उस श्रेष्ठ वैभव को धारण किया है; वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करें।"

यह प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है जिसे वेद के अन्य समस्त मंत्रों से अधिक पवित्र माना गया है। देखिये कोल० मिस० ए० १.२९,३०,१२७ और १७५। बेनफे (सामवेद, पृ० २७७) ने गायत्री का इस प्रकार अनुवाद किया है . "देवों को प्रेरित करनेवाले हम उस देवता के यशस्वी तेज को धारण करें जो हमारे कार्यों को प्रेरित करेगा।" 'धीमहि' शब्द जिस धातु से व्युत्पन्न हुआ है उसके तथा इस शब्द के आशय के लिये देखिये बौटलिङ्क और रॉथ का कोश, व० स्था० 'धा', और 'धी'; और तुलना कीजिये ज० ए० सो०, पृ० ३७२ में मेरा वेदव्याख्या सम्बन्धी लेख।

लिङ्ग पुराण में आधुनिक शैव उपासना के लिये गायत्री के निम्नलिखित भेद दिये गये हैं :

गायत्री-भेदाः। तत्पुरुपाय विद्महे वाग्-विशुद्धाय धीमहि। तन् नः शिवः प्रचोदयात्। गणाम्बिकायै विद्महे कर्म-सिद्धयै च धीमहि। तन् नो गौरी प्रचोदयात्। तत्पुरुपाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन् नो रुद्रः प्रचोदयात्। तत्पुरुपाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन् नो दन्तिः प्रचोदयात्। महासेनाय विद्महे वाग्-विशुद्धाय धीमहि। तन् नः स्कन्दः प्रचोदयात्। तीक्ष्णश्रृङ्गाय विद्महे वेदपादाय धीमहि। तन् नो वृषः प्रचोदयाद् इत्यादि (लिङ्गपुराण २.४८, ५)।

"हम उस पुरुष का ध्यान[२८] करते हैं जो वाणी से पवित्र है; वह शिव हमें प्रेरित करें। हम गणाम्बिका का ध्यान करते हैं, और कर्मसिद्धि का ध्यान करते हैं; वह गौरी हमें प्रेरित करें। हम उस पुरुष का ध्यान करते हैं, और महादेव का ध्यान करते हैं, वह रुद्र हमें प्रेरित करें। हम उस पुरुष का ध्यान करते हैं, और हम वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं, वह दन्ति हमें प्रेरित करें। हम महासेन (कार्त्तिकेय) का ध्यान करते हैं, हम उसका ध्यान करते हैं जो वाणी में पवित्र है; वह स्कन्द हमें प्रेरित करें। हम तीक्ष्णशृङ्ग का ध्यान करते हैं, हम वेदपाद का ध्यान करते हैं, वृष हमें प्रेरित करें।"

सोम :—

अयम् मे पीत उदियर्त्ति वाचम् अयम् मनीषाम् उशतीम् अजीगः (ऋग्वेद ६.४७,३)।

"पान करने पर यह सोम मेरी वाणी को स्फूर्तिमान करता है; इसने इच्छित विचार प्रदान किये।"

ऐसा कहा जा सकता है कि इस तथा अन्य निम्नोद्धृत स्थलों को इस बात के प्रमाण के लिये प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने दिव्य प्रेरणा के विचार की कल्पना की थी, क्योंकि इनका इससे अधिक कुछ और अर्थ नहीं है कि इस पौधे के आह्लादपूर्ण रस के पान से विचारों और अभिव्यक्तियों की क्षमता पर पड़नेवाले स्फूर्त्तिमान् प्रभाव के प्रति ऋषिगण जागरूक थे। किन्तु ऋषियों ने सोम को एक देवता मान लिया है और प्रत्यक्षतः उसके प्रति तीव्र आस्था रखते हैं। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का द्वितीय भाग, तथा ज० ए० सो० १८६५, पृ० १३५ और बाद, में मेरा इस देवता सम्बन्धी लेख।

युरिपाइडिस के बकाये, २९४, में डियोनिसस (अथवा बेक्कस) नामक देवता के लिये जो कुछ कहा गया है, उसकी तुलना कीजिये :

"और यह देवता एक भविष्यवक्ता है। क्योंकि बेकिक-उत्तेजनाओं और उन्मत्तजल्पनों में पर्याप्त भविष्यसूचक शक्ति है। क्योंकि जब यह देवता शक्ति सहित शरीर में प्रवेश करता है तब यह उन्मत्तजल्पन करनेवालों से भविष्य-वचन कहलाता है।"

अपाम सोमम् अमृताः अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान्। किं

---

[२८] मैं इस शब्द का यही आशय मानता हूँ और इसे ही अत्यधिक ग्रहण किया गया है।

नूनम् अस्मान् कृणवद् अरातिः किम् उ धूर्त्तिर् अमृत मर्त्यस्य (ऋग्वेद ८.४८,३)।

"हमने सोम का पान किया, हम अमर हो गये, हमने प्रकाश में प्रवेश किया, हम देवों को जान गये, अब शत्रु हमारा क्या कर सकता है ? हे अमर देवता ! अब मनुष्यों की धूर्तता क्या कर सकती है ?"[२९]

इस स्थल को सांख्यकारिका के दूसरे श्लोक पर गौडपादभाष्य में उद्धृत किया गया है, और प्रो० विलसन ने भी अपने अँग्रेजी संस्करण के पृ० १३ पर इसका अनुवाद (अन्तिम पाद का अशुद्ध रूप से) किया है।

उक्त अन्तिम वैदिक स्थल के बहुत कुछ समानान्तर यूरीपाइडिस के व्यङ्ग नाटक, साइक्लॉप्स, ५७८ और बाद, का निम्नस्थल है, यद्यपि वहाँ उसका उद्देश्य मदमत्त दानव पोलिफेमस की स्थिति का चित्रण करना ही है :

"पृथिवी से मिलकर आकाश चारों ओर चक्कर करता प्रतीत होता है; मैं जोव् के सिंहासन और देवों के भयङ्कर वैभव को देखता हूँ।"

अरुषो जनयन् गिरः सोमः पवते आयुषग् इन्द्रं गच्छन् कविक्रतुः (ऋग्वेद ९.२५, ५)।

"कवियों की शक्ति से स्तोत्रों को उत्पन्न करते हुये और मनुष्यों से सम्बद्ध होकर, छनने से परिष्कृत, अरुष सोम इन्द्र से मिलते हैं।"

... पिता मतीनाम् असमष्ट-काव्यः (ऋग्वेद ९.७६,४)।

"हमारे स्तोत्रों के पिता और निरुपम बुद्धिवाले सोम।"

हरिः सृजानः पथ्याम् ऋतस्य इयर्त्ति वाचम् अरितेव नावम्। देवो देवानां गुह्यानि नाम आविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे (ऋग्वेद ९.९५,२)।

"स्वर्णिम सोम जब कर्मों के पथ पर गिराये जाते हैं तब अपनी वाणी को प्रगट करते हैं—जिस प्रकार एक नाविक नाव को चलाता है। देवता के रूप में यह कुश पर बैठकर ऋषियों से देवों की गुह्य प्रकृति का उद्घाटन करते हैं।" (देखिये ऋग्वेद २.४२, १ और १०.११६, ९ भी)।

५. सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिता अग्नेर् जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता उत विष्णोः।

---

[२९] मूल लेखक ने इस स्थल का एक छन्दबद्ध अनुवाद भी दिया है जिसका आशय बहुत कुछ उक्त अनुवाद जैसा ही है, अतः उसे यहाँ अनूदित नहीं किया गया है।—अनुवादक

६. ब्रह्मा देवानाम् पदवीः कवीनाम् ऋषिर् विप्राणाम् महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर् वनानां सोमः पवित्रम् अति एति रेभन्। ७. प्रावीविपद् वाचः ऊर्मि न सिन्धुर् गिरः। सोमः पवमानो मनीषाः इत्यादि (ऋग्वेद ९.९६, ५-७=सामवेद २.२९३-२९५)।

५. "स्तोत्रों के जनक, द्यौस् के जनक, पृथिवी के जनक, अग्नि के जनक, सूर्य के जनक, इन्द्र के जनक, और विष्णु के जनक सोम पवित्र हुये। ६. सोम, जो कि देवों में ब्रह्मन् हैं,[30] कवियों में नायक हैं, विप्रों में ऋषि हैं, वन्य-पशुओं में महिष हैं, गृद्धों में श्येन हैं, वनों में कुठार हैं, ध्वनि करते हुये छनने की ओर अग्रसर होते हैं। ७. अपनी लहरों को उछालते हुये समुद्र की भाँति पवित्र सोम ने गायनों, स्तोत्रों, और विचारों को व्यक्त किया," इत्यादि। (देखिये सामवेद के अपने सस्करण के पृ० २३८, और २५३ पर बेनफे द्वारा इस स्थल का अनुवाद, और निरुक्त, परिशिष्ट, २ १२,१३)।

वरुण :—

यो धर्त्ता भुवनानां यः उस्राणाम् अपीच्या वेद नामानि गुह्या। सकविः काव्या पुरु रूपम् द्यौर् इव पुष्यति···। यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिर् इवि श्रिता इत्यादि (ऋग्वेद ८.४१,५,६)।

"जो भुवनों को धारण करते हैं, जो गायों के रहस्य और गुह्य प्रकृति को जानते हैं, वह कवि काव्यात्मक कृतियों को उसी प्रकार प्रगट करते हैं जिस प्रकार आकाश अनेक रूपों को।···इनमें ही समस्त काव्य स्थित हैं, जिस प्रकार चक्र में नाभि स्थित होती है," इत्यादि। (देखिये ऋग्वेद ७.८७,४ और ९.९५,२)।

वरुण, मित्र, और अर्यमन् :—

वि ये दधु. शरदम् मासम् आद् अहर् यज्ञम् अक्तुं च आद् ऋचम्। अनाप्यम् वरुणो मित्रः अर्यमा क्षत्र राजानः आशत (ऋग्वेद ७.६६,११)।

"राजा वरुण, मित्र, और अर्यमन्, जिन्होंने शरद बनाया, मास बनाया

---

[30] सामवेद २.२९४ (=यहाँ उद्धृत ऋग्वेद ९.९६,६) पर प्रो० बेनफे की टिप्पणी से ऐसा प्रतीत होता है कि उस स्थल पर भाष्यकार ने 'देवानाम्' को 'ऋत्विजाम्' के बराबर माना है।

और फिर दिन, यज्ञ, रात्रि तथा उसके बाद ऋचाओं को बनाया, असीम शक्ति रखते हैं।"[31]

ऋग्वेद का निम्नस्थल (जैसा कि हम ऊपर पृ० ७५, नोट ७९, और पृ० ८२, में देख चुके हैं) भारतीय भाष्यकारों और सूत्रकारों द्वारा स्वयं प्रमाण के आधार पर वेद के नित्यत्व को सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया गया है।

तस्मै नूनम् अभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् (ऋग्वेद ८,७५,६)।

"हे विरूप ! आकाश की कामना करने वाले, नित्यवाणी वाले, और फलदायक अग्नि को स्तुतियाँ भेजो।" (देखिये ऊपर पृ० २२८ पर उद्धृत ऋग्वेद १.४५,३)।

फिर भी, यह मानने के लिये कोई आधार नहीं है कि 'नित्यया वाचा' शब्दों का अर्थ 'नित्यवाणी' के अतिरिक्त कुछ और है। इस कल्पना के लिये कोई आधार नहीं है कि ऋषिगण यह मानते थे कि उनके शब्द नित्य हैं, जैसा कि बाद के कर्मकाण्डीय शास्त्रों में प्रचलित हो गया। 'नित्य' शब्द इसी आशय में ऋग्वेद ९.१२,७ (=सामवेद २.५५१,२) में भी प्रयुक्त हुआ है जहाँ सोम के लिये यह कहा गया है : नित्य-स्तोत्रो वनस्पतिर् धीनाम् अन्तर् इत्यादि, अर्थात् "वनस्पति की स्तोत्रों में निरन्तर स्तुति है," इत्यादि। निम्नस्थलों पर भी यही स्थिति है :

सोमः पुनानः सदः एति नित्यम् इत्यादि (ऋग्वेद ९.९२,३)।

"पवित्र सोम अपने नित्य आवास में आते हैं (अथवा अपने आवास में नित्य आते हैं)," इत्यादि।

नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः (ऋग्वेद १०.३९,१४)।

"वंशजों की अविच्छिन्न श्रृङ्खला की भांति क्रम को सञ्चालित करते हुये।"

इस खण्ड में उद्धृत अनेक स्थलों की भावना इस तथ्य को स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित करती प्रतीत होती है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों में से कम से कम

[31] यतः यह ऋचा इसमे ही वर्णित देवो को ऋचाओ का कर्त्ता मानती है, अतः ऊपर पृ० ५ पर मेरी यह टिप्पणी कि 'ऋग्वेद के सूक्तो मे से केवल पुरुष सूक्त ही ऐसा है जिसमे वेदो की रचना का वर्णन है,' कुछ परिवर्तित कर दी जानी चाहिये।

कुछ ने यह कल्पना की थी कि स्तोत्रों और स्तुतियों की रचनाओं में उन्हें देवसभा के विभिन्न देवों से व्युत्पन्न अलौकिक सहायता ने प्रोत्साहित और निर्देशित किया। इन स्थलों से व्युत्पन्न प्रमाण को उस समय और अधिक बल मिलेगा तथा यह भी सिद्ध होगा कि मैंने उनके उद्देश्य और भाव का मिथ्या-ग्रहण नहीं किया है, जब मैं कुछ ऐसे भी प्रमाण प्रस्तुत करूँ कि इसी प्रकार की धारणायें प्राचीन भारोपीय संसार के अन्य प्राचीन क्षेत्रों में भी अज्ञात नहीं थी, और यह कि जिन अभिव्यक्तियों में प्राचीन यूनानी चारणों ने म्यूज़ेज़ अथवा ऐपोलो से प्रेरणा प्राप्त करने की बात कही है, वे केवल लाक्षणिक नहीं बल्कि एक मौलिक प्रचलित विश्वास की अभिव्यञ्जक हैं। हेसियड और होमर से लिये गये निम्नस्थलों में से, जिनमें यह विचार व्यक्त हुआ है, अधिकांश का मिस्टर क्रोचे की हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, १.४७८ में सन्दर्भ है।

हेसियड, थियॉग्नी, २२ :

"जब हेलिकन के पवित्र ढाल के नीचे हेसियड भेड़ चरा रहा था, तब म्यूज़ेज ने उसे काव्यात्मक शक्ति प्रदान की, और उनमें इस प्रकार वार्तालाप हुआ. 'निम्नकोटि की अतिभोजी, असभ्य चरवाहों की वैभव-विहीन जाति, जो अपने सत्य प्रतीत होनेवाले स्वभाव से लोगों को धोखा देती है, यह भी जानती हैं कि उनमें इच्छानुसार सत्य कथायें कहने की भी कुशलता है।' उन्होंने वार्ता की और मुझे पुरस्कार स्वरूप एक सुन्दर दण्ड दिया, और मुझमें दिव्य वाणी का इसलिये प्राण-सञ्चार किया कि विविध-विज्ञान मेरा हो, मैं भविष्य के दृश्यों का अनावरण कर सकूँ, और अतीत की कथाओं को कह सकूँ। उन्होंने उच्च स्थान पर रहने वाली अमर देव जातियों को स्तोत्र समर्पित करने, तथा इन स्तोत्रों को म्यूज़ेज़ की स्तुतियों से आरम्भ और समाप्त करने के लिये कहा।"

हेसियड, थियॉग्नी, ६४ :

"लायर बजाने और गीत गाने वाले चारण फोएबस और म्यूज़ेज़ से उत्पन्न हुये हैं : जोव की उच्च जाति से राजा उत्पन्न हुए।"

निम्नलिखित शब्द इलियड के रचयिता के हैं जिसमें उन्होंने यूनानी आक्रामकों के सेनानायकों की गणना कराने की योग्यता प्राप्त करने के लिये म्यूज़ेज़ की सहायता का आवाहन किया है (इलियड, २. ४८४) :

"हे म्यूज़ेज मुझे सत्य बताओ, क्योंकि तुम उच्च ओलिम्पस पर्वत पर रहते हो, सर्वव्यापी हो, मनुष्य पृथ्वी पर जो कुछ करता है उसे देख सकते हो,

जब कि हम लोग केवल अस्पष्ट मिथ्या वचनों को ही सीख पाते हैं, और किसी बात का निर्णय नहीं कर सकते।"

किन्तु, जैसा कि इलियड, २.५९४ और बाद से प्रतीत होता है, म्यूजेज गायन की क्षमता को प्रदान करने के साथ ही साथ उसे वापस भी ले सकता है-:

"हम सुनते हैं कि प्राचीनकाल में म्यूज़ेज ने उस स्थान पर थेमिरिस का साक्षात्कार किया था। वह दर्पपूर्वक ऐसा कहता था कि चारणों को उनके गायन का पुरस्कार देना चाहिये, चाहे अन्य लोगों पर स्वयं म्यूज़ेज़ ही कृपा करें। उसके इस दम्भ से परिचित होकर उन लोगों ने उससे गायन-कला तथा सुरीले लायर को बजाने की क्षमता वापस ले ली, और प्रतिशोधात्मक प्रहार करके उसे अन्धा बना दिया।"

ओडेसी का निम्नलिखित स्थल उस डिमोडोकस चारण का उल्लेख करता है, जो फाएसियनों के राजा अलसिनोअस का राज-कवि था (ओडेसी, ८ ४३ और बाद) :

"और जाओ, दिव्य चारण को आमन्त्रित करो—देवों ने उसे इच्छानुसार दूसरों का मनोरञ्जन करने के लिये गायन कला प्रदान की है।"

ओडेसी, ८.६२ और बाद :

"अग्रदूत आया और अपने साथ उस चारण को भी लाया जिसकी सब लोग उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। वह म्यूज़ेज़ का प्रियपात्र था तथा उससे उसने अच्छे और बुरे दोनों ही रूप प्राप्त किये थे, उसने श्रुति मधुर गीत प्राप्त किये थे और अपनी नेत्र-ज्योति खो दी थी।"

यहाँ गायन-कला प्रदान करने और वापस लेने के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी चारण की भाग्यविधातृ के रूप में म्यूज़ेज़ का वर्णन है :

ओडेसी, ८.७३ :

"म्यूज़ेज़ द्वारा प्रेरित होने पर चारण ने गायनों में योद्धाओं के पराक्रमों का वर्णन किया।"

कुछ और आगे यूलिसिस ने डिमोडोकस के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है (ओडेसी, ८.४७९ और बाद) :

"सभी मनुष्य चारणों से भयभीत होकर उनका आदर करते हैं, क्योंकि म्यूज़ ने उन्हे कला सिखाई है और उनकी सुरीली जाति को अत्यन्त प्यार करती है।"

और पुनः उन्होंने उसे इस प्रकार सम्बोधित किया है (ओडेसी, ८.४८७):

"हे डिमोडोकस! अन्य समस्त मनुष्यों की अपेक्षा मैं तुम्हारा सर्वाधिक आदर करता हूँ क्योंकि जव् के पुत्र म्यूज़ ने तुम्हें शिक्षित किया है, अथवा फोएवस ने तुम्हें कलाकुशल बनाया है, जिससे तुम आर्गिव् के भाग्य की कथा का अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक वर्णन करते हो।"[३२]

इथकन का चारण फेमियस जीवनदान देने के लिये यूलिसिस से इस प्रकार प्रार्थना करता है (ओडेसी २२.३४५ और बाद):

"यदि तुम एक चारण का वध करोगे तो तुम्हें देवों और मनुष्यों के सामने शीघ्र ही उसका प्रायश्चित करना होगा। यद्यपि मैंने स्वाध्याय किया है, तथापि एक देवता ने मेरे मन में प्रत्येक प्रकार के गीत भर दिये हैं।"

आरम्भिक यूनानी ऐसा विश्वास करते थे कि भविष्यवाणी और गायन दोनों की क्षमता देवगण ही मनुष्यों को प्रदान करते थे। ऊपर उद्धृत हेसियड तथा होमर (इलियड १.६९) के निम्नस्थल से भी ऐसा प्रतीत होता है:

"निमित्तज्ञों में कल्चस भूत, वर्तमान, और भविष्य तीनों से परिचित था। फोएवस की इच्छा द्वारा प्राप्त अपनी इस दिव्य कला की शक्ति से वह यूनानी बेड़े को सुरक्षापूर्वक ऑलिस की खाड़ी से इलियन के तटपर ले आया।"

इस प्रकार क्रोचे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आरम्भिक यूनानी अपने चारणों के म्यूजेज़ द्वारा प्रेरित होने में विश्वास रखते थे (हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, १.४७७ और बाद):

---

[३२] "अर्थात्", क्रोचे का कथन है, "या तो डिमोडोकस को गायनो के लिये म्यूज ने प्रेरित किया था, अथवा एपोलो ने उसे एक भविष्यवक्ता बनाया था, क्योंकि होमर का एपोलो गायनो का देवता नही है। भविष्यवक्ता कल्चस ने एपोलो से ही प्रेरणा प्राप्त की थी जिसने उसे अतीत और भविष्य की वैसी ही शिक्षा दी थी जैसी हेसियड को म्यूजेज़ ने।" किन्तु क्या यह स्थल (ओडेसी ८.४८७) यह नहीं दिखाता कि होमर का एपोलो भी गायन के देवता के अतिरिक्त भविष्यसूचक बुद्धि का दाता भी था, और क्या हम इलियड १.६०३ से भी ऐसा ही निष्कर्ष नही निकाल सकते? जैसा भी हो, थियॉग्नी ९४ (ऊपर उद्धृत) से यह स्पष्ट है कि हेसियड ने एपोलो को ऐसा ही माना है।

"सत्य असत्य के विवेक सम्बन्धी विचार, अथवा गुह्य तथा प्रतीकात्मक अर्थों के समझने के विपरीत भी उनका (प्राचीन यूनानियों का) विश्वास पूर्व-निश्चित, यथावत्, और जिज्ञासा रहित था : उनके लिये इतना ही पर्याप्त था कि वह जो कुछ सुनते थे उसमें आन्तरिक औचित्य तथा मनवा लेने की प्रेरणा होती थी, और उनके प्रति शंका की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। और यदि कोई शंका होती भी थी तो कविगण उस पवित्र और सर्वपर्याप्त म्यूज़ के प्रामाण्य के आधार पर इस शंका का निवारण कर देते थे, जिसकी सर्वज्ञता ही उनके गायनों की प्रेरणा होती थी और उसकी यह प्रेरणा उनकी सफलता का कारण मानी जाती थी। इस प्राचीन महाकाव्य के वर्णन से इस प्रकार व्यक्त मानसिक स्थिति, तथा वक्ता और श्रोता का ऐसा सम्बन्ध, उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम जो कुछ पढ़ते हैं उससे एक साधारण अर्थ ही ग्रहण करें। कवि—भविष्यवक्ता, जिससे वह बहुत कुछ मिलता है—दिव्य निर्देशन और उन देवियों की प्रेरणाओं से गाता है जिनकी उसने सहायता के लिये स्तुति की थी। यह देवियाँ ही उसके मुख में शब्दों को और मन में घटनाओं को स्थित कर देती थीं; वह एक ऐसा भाग्यशाली मनुष्य होता था जो म्यूज़ेज़ का माध्यम और उनकी ही कृपा से बोलता था। यतः म्यूज इच्छानुसार किसी को गायन कला प्रदान कर सकती थी, अतः कभी कभी क्रोध में आकर वह उसे वापस भी ले लेती थी जिस स्थिति में अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि मनुष्य भी मूक और निःसहाय हो जाता था। यह सत्य है कि म्यूज़ की प्रेरणा तथा कवियों द्वारा अतीत की कथाओं के वर्णन की यह अभिव्यक्तियाँ प्राचीन महाकाव्य से बाद में विभिन्न परिस्थितियों में रचित अन्य कृतियों तक में स्थानान्तरित हो गई थीं, और अब उनका एक निरर्थक वर्णन-शैली के रूप में पतन हो गया। किन्तु मूलतः ये अपने वास्तविक रूप में ही प्रचलित थीं। यदि आरम्भ से ही कवियों ने लिखा अथवा गायन किया होता तो उनपर इन गायनों को किसी अन्य से प्राप्त करने का आरोप न किया गया होता, और उस समय तक मिथ्या बातों पर म्यूज़ेज़ के नाम की मुहर लगाने की आवश्यकता न पड़ती जब तक कि हम यह न मान लेते कि म्यूज़ का अत्यन्त श्रद्धा से ही आवाहन और उसके अस्तित्व में विश्वास किया जाता था। प्रमाणों के अनुसन्धान तथा तार्किक विवेचन पर आधारित विश्वास ऐसे काल में अज्ञात थे, क्योंकि उस समय के सरल विश्वास ही अचेतन रूप से प्रतिष्ठित होकर कल्पनाओं, और भावनाओं को आह्लादित करते थे। ऐसी स्थिति में किसी प्रेरक शक्ति को सरलतापूर्वक स्वीकार करके उसमें अत्यन्त श्रद्धा हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक था।"

यदि हम होमर के पृष्ठों का अध्ययन करें तो हमें मानवीय व्यवहारों के क्षेत्र में दिव्य हस्तक्षेप के विश्वास के अनेक उदाहरण सरलता से मिल सकते हैं। ऐसे विश्वास (१) न केवल अनेक प्रकार की मानवीय अवस्थाओं, जैसे संसार के सामान्य पालन, पाप-पुण्य के वितरण, तथा विभिन्न प्रकार के बौद्धिक, नैतिक, और शारीरिक गुण प्रदान करने तक ही सीमित हैं वरन् (२) व्यक्तियों को विशेष परामर्श, निर्देशन, प्रोत्साहन, सुरक्षा, आदि देने की दिशा में दिव्य हस्तक्षेप को भी स्थान देते हैं।

मनुष्यों के भाग्य पर देवों के सामान्य नियन्त्रण के उदाहरण निम्न स्थलों पर मिल सकते हैं। इलियड, १३.७३० और बाद, ओडेसी १.३४७ और बाद; ४.२३६ और बाद; ६.१८८ और बाद, ८.१६७–१७५, १७.२१८, ४८५ और बाद।

निम्न स्थलों पर ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जहां देवों ने अपने प्रिय-पात्रों के लिये विशेष रूप से हस्तक्षेप किये हैं : इलियड, १.१९४ और बाद, २१८, ३.३८० और बाद; ५ १ और बाद, ७.२७२; १३.६० और बाद, ४३५, १६.७८८ और बाद, ओडेसी, १.३१९ और बाद, ३ २६ और बाद, १४.२१६ और बाद, २२७, १६. १५९ और बाद।[33] इस द्वितीय प्रकार के स्थलों में से मैं केवल दो उद्धरण दे रहा हूँ।

ओडेसी, १.३१९ और बाद :

"इस प्रकार कहते हुए एथेनी आकाश में उड़कर उसकी दृष्टि से ओझल हो गई। उसने उसकी आत्मा को शक्ति और अग्नि, तथा अपने प्रतिपालक की अपेक्षाकृत अधिक तीव्र स्मृति से भर दी थी। अपनी आन्तरिक शक्ति से आश्चर्यचकित होकर उसने यह सोचा कि कोई देवता ही इसका स्रोत है।

जब नैस्टर के पास जाने में अपनी सन्देहशीलता का टेलेमेकस अपनी युवावस्था और अनुभवहीनता को कारण बताता है, तब मिनर्वा उससे इस प्रकार कहती है (ओडेसी ३.२६)!

"कुछ वस्तुयें तुम्हारा मानस स्वय सीख लेगा, और कुछ वस्तुयें तुम्हें एक देवता सिखायेगा, क्योंकि तुम कभी भी जन्म लेकर विकसित नहीं हो सकते थे जबतक कि उन देवताओं ने इच्छा न की होती और मैंने भी अपनी सहमति न दी होती।"

---

[33] तुलना कीजिये थियॉलोजी ऑफ होमर पर प्रो० ब्लैकी का शोध-निबन्ध, "क्लासीकल म्यूजियम, ७,४१४ और बाद।

फिर भी, यह स्थल उस विचार का केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत करते है जो समस्त यूनानी पुराकथाशास्त्र में व्याप्त और उसका जनक है, अर्थात्, यह कि जीवन और प्रकृति के सभी क्षेत्र उन उन देवताओं द्वारा ही स्पन्दित, नियन्त्रित, और निर्देशित होते थे जिनके द्वारा वे व्यक्त तथा जिनमें ही मूर्त्तीकृत होते थे।

भारतीय पुराकथाशास्त्र की—जैसा कि वेद और कुछ सीमा तक पुराण के प्रत्येक पाठक को विदित ही होगा—भी वही विशिष्टता है जो हमने यूनानी पुराकथाशास्त्र में देखा। इन्द्र, अग्नि, वायु, सवितृ, सूर्य, तथा अनेक अन्य देवता विभिन्न तत्वों के मूर्त्तीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, जबकि वाच् अथवा सरस्वती और कुछ अन्य देवता या तो उस दिव्य तर्क को व्यक्त करते थे जिससे अपेक्षाकृत अधिक व्युत्पन्न व्यक्तियों को प्रेरित माना जाता था, अथवा ये किसी मानसिक क्रिया या कर्मकाण्ड के किसी पक्ष को व्यक्त करते थे।

फिर भी, इन दो जातियों, हैलेनिक और भारतीयों, के बाद के धार्मिक इतिहास में एक दृष्टि से विशेष भिन्नता है। यद्यपि विभिन्न प्रकार के दिव्य-वचनों को व्यक्त करनेवाले पुरोहितों और सम्भवतः कुछ अन्य भविष्य-द्रष्टाओं को सामान्यतया दिव्य प्रेरणा के अन्तर्गत बोलता हुआ माना जाता था,[34] तथापि काव्यों और धार्मिक, उपदेशात्मक अथवा दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध अन्य कृतियों से संयुक्त दिव्य प्रेरणा का भाव बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया। यूनानियों का कोई पवित्र ग्रन्थ नहीं था। यद्यपि पाइथागोरस, एपीमेनाइडिस, और एम्पीडोक्लीस को अलौकिक प्रकृति से युक्त माना जाता था, तथापि साधारण रूप से हैलेनिक दार्शनिक केवल अपनी ही तर्क-बुद्धि के आधार पर लिखते और बोलते थे। ये अपने को कदाचित् ही किसी अलौकिक सहायता से निर्देशित कहते थे, और अपने प्रतिपादित विषयों में इन्होंने कभी भी दिव्य प्रामाण्य की बात भी नहीं कही।[35] साथ ही, इनके उत्तराधिकारियों ने भी इनकी रचनाओं में निर्दोष प्रमाणत्व नहीं देखा है।

---

[34] देखिये ना० थि०, पृ० १७३, और को० व०, पृ० ३९ और बाद।

[35] मैं अपने को यहाँ अत्यन्त सतर्कतापूर्वक व्यक्त करना चाहता हूँ, क्योंकि प्लेटो के प्रमुख विद्वान मेरे एक मित्र ने ऐसा मत व्यक्त किया है कि प्लेटो की रचनाओ मे अलौकिक निर्देशन के चिह्न तो मिलते हैं किन्तु निर्दोषत्व के नही। देखिये क्रोचे के इतिहास, ४ ५२८,५३०, मे पाइथागोरस की दिव्य प्रेरणा का उल्लेख; तथा इसी लेखक द्वारा, ३.११२ और बाद मे ७.१७४, और ८.४६५,

दूसरी ओर भारतवर्ष में प्राचीन ऋषियों ने स्वयं अपने सम्बन्ध में दिव्य प्रेरणा का जो अस्पष्ट सा और कहीं-कहीं संकोच के साथ उल्लेख किया है वह बाद की पीढ़ियों के विचारों पर अमिट छाप रखता है। साथ ही, यह विश्वास, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, क्रमशः इस दृढ़ धारणा में परिणत हो गया कि प्राचीन ऋषियों की समस्त कृतियाँ न केवल दिव्य प्रेरणा का ही परिणाम है, वरन् निर्दोष, दिव्य, और नित्य भी है। ये कृतियाँ भारत में धर्मग्रन्थ बन गई हैं। और विद्वानों की दृष्टि से चाहे ऐसा न हो किन्तु सार्वजनिक मत बाद के काल में रचित धार्मिक, वैज्ञानिक, अथवा दार्शनिक विषयों के किसी भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ को उस समय देव-प्रेरित मानने लगता है जब कि समय की गति इनके कृतिकारों की स्मृति को सामान्य ज्ञान से दूर हटाते हुये उनके नामों के साथ एक श्रद्धा और आस्था का भाव सयुक्त कर देती है।

इस विषयान्तर के पश्चात् हम पुन वैदिक ऋषियों द्वारा स्वय अपनी दिव्य प्रेरणा के विषय पर व्यक्त मत के अनुसन्धान के विषय पर लौटते है :

यह पूछा जा सकता है कि हम ऋषियों द्वारा किसी अलौकिक सहायता प्राप्त करने के भाव का उन परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं, जिनके सम्बन्ध में हम गत खण्ड में उद्धृत अनेक स्थलों के आधार पर स्पष्टरूप से यह सिद्ध कर चुके हैं कि ऋषिगण अक्सर बिना किसी बाह्य प्रेरणा अथवा सहायता के ही अपने को स्तोत्रों का रचयिता, निर्माणकर्त्ता, अथवा उत्पन्नकर्त्ता बताते है अथवा नहीं ?

इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि (१) सम्भवतः दिव्य प्रेरणा का भाव प्राचीनतम ऋषियों में नहीं वरन् उनके बाद के उत्तराधिकारियों में ही विकसित हुआ; अथवा (२) कुछ ऋषि इस प्रकार का भाव रखते थे, जबकि अन्य नहीं, अथवा पुनः (३) यदि दोनों ही प्रकार के भाव एक ही ऋषि में मिलते हैं तो हमें यह मानना चाहिये कि उसके मन में किसी एक समय में एक धारणा प्रमुख रहती थी और दूसरे समय दूसरी, अथवा (४) ऋषियों को प्रेरणा सम्बन्धी अत्यन्त स्पष्ट धारणा नहीं थी, और वे ऐसा मानते रहे हो सकते हैं कि दिव्य सहायता, जिसके प्रति वह चेतन थे अथवा जिसका आवाहन करते थे, उनके स्तोत्रों को उनकी मानसिक कृति होने के तथ्य को निरर्थक

और बाद, मे एपीमेनाइडिस और एम्पीडोक्लीस सम्बन्धी विवरण; इसी विषय पर तुलना कीजिये थर्लवाल : हिस्ट्री ऑफ ग्रीस, २.३२ और बाद, १५५ और बाद, और प्लेटो, लेग, १ ६४२। देखिये प्रो० गेड्डी का फाएडो, पृ० २५१ और वहीं उद्धृत अन्य स्थल, और उपरोद्धृत को० व०, पृ० ६० और ६४।

नहीं करती थी, अर्थात् संक्षेप में स्तोत्रों की रचना में माननीय तत्वों के साथ-साथ अलौकिक तत्वों की उपस्थिति में कोई असंगति नहीं है।

फिर भी, इनमें से प्रथम मान्यता के साथ यह कठिनाई है कि दोनों ही धारणायें, अर्थात् स्वतन्त्र और सहायता-विहीन रचना, और प्रेरणा के द्वारा रचना की धारणायें, ऋग्वेद के समस्त अंशों में देखी जा सकती हैं। दूसरी मान्यता के सम्बन्ध में यह दिखाना सरल नहीं है (अनुक्रमणी में वैदिक परम्परा सम्बन्धी अनिश्चितता के कारण) कि अमुक-अमुक सूक्त किसी अन्य ऋषि की अपेक्षा अमुक ऋषि द्वारा रचित हैं। फिर भी, वैदिक सूक्तों के सतत और सतर्कतापूर्वक तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनके कर्तृत्व के सम्बन्ध में कम से कम यह दिखाना सम्भव हो सकता है कि किन-किन सूक्तों को किसी काल विशेष के अन्तर्गत रक्खा, अथवा किसी परिवार अथवा ऋषि-परम्परा की रचना माना जा सकता है। फिर भी, मैं इस प्रकार के अनुसन्धान का दायित्व और उनके परिणामों का प्रस्तुत विषय के प्रति व्यवहार का कार्य अपने से अधिक योग्य व्यक्तियों के लिये छोड़ता हूँ।

३—जहाँ ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर स्तोत्रों को एक ऐसी प्रभावशीलता से युक्त माना गया है जो सम्भवतः उस प्राकृतिक धर्म से अधिक कुछ नहीं जो सभी व्यक्तियों को अपने उपास्य विषय को सयुक्त मानने की शिक्षा देता है, वहीं अन्य स्थलों पर स्तुतियों और छन्दों में एक रहस्यात्मक, अभिचारीय अथवा अलौकिक शक्ति निहित बताई गई है (देखिये वेबर : वाजसनेयि संहिता, उदाहरण पृ० ६१)। निम्नोद्धृत स्थल इस द्वितीय प्रकार के ही उदाहरण हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में यह कहा गया है :

अजो न क्षां दधार पृथिवीं तस्तम्भ द्याम् मन्त्रेभिः सत्यैः (ऋग्वेद १.६७,३)।

"अग्नि ने अज के समान सत्य मन्त्रों के द्वारा विस्तृत पृथिवी को धारण तथा आकाश को उपस्तम्भित किया।" निम्नोद्धृत स्थल इस ऋचा पर सायण-भाष्य से लिया गया है :

मन्त्रैर् दिवो धारणं तैत्तिरीये समाम्नातं। "देवाः वै आदित्यस्य स्वर्ग-लोकस्य पराचोऽतिपाताद् अबिभयुः। तं छन्दोभिर् अदृहन् धृत्या" इति। यद्वा सत्यैर् मन्त्रैः स्तूयमानोऽग्निर् द्यां तस्तम्भ इति (ऋग्वेद १.६७,३ पर सायणभाष्य)।

"मंत्रों द्वारा आकाश के उपस्तम्भन का तैत्तिरीय में इस प्रकार वर्णन है : 'देवों ने इस भय से कि सूर्य आकाश से गिर न जाय, उसे छन्दों से ऊपर दृढ़ कर दिया।' अथवा इस ऋचा का यह अर्थ हो सकता है कि सत्य मन्त्रों के द्वारा प्रशस्ति करने पर अग्नि ने आकाश को धारण किया।"

देखिये ऊपर पृ० २३५ पर उद्धृत ऋग्वेद १.९६,२, और प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण २ ३३।

जगता सिन्धुं दिवि अस्तभायद् रथन्तरे सूर्यम् परि अपश्यन्। गायत्रस्य समिधस् तिस्रः आहुस् ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा (ऋग्वेद १.१६४, २५)।

"उसने जगती छन्द से आकाश में जलों को स्थित किया, उसने रथन्तर साम में सूर्य को देखा, गायत्र के तीन भाग हैं अतः शक्ति और महानता में सर्वश्रेष्ठ है।"

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्म इदम् भारतं जनम् (ऋग्वेद ३.५३,१२)।

"विश्वामित्र की स्तुति इस भरतवंशीय जाति की रक्षा करती है।"

ब्रह्माणः इन्द्रम् महयन्तो अर्कैर् अवर्धयन् अहये हन्तवै उ (ऋग्वेद ५.३१,४)।

"पुरोहितों ने अपनी स्तुति से इन्द्र का वर्धन करते हुये उन्हें अहि का वध करने के लिये तत्पर किया।"

तुलना कीजिये निम्नलिखित स्थल, जिन्हें पहले उद्धृत किया जा चुका है। ३.३२,१३, पृ० २३६, ६.४४,१३, पृ० २३७, ८.६,११, पृ० २३९; ८ ८,८, पृ० २५६; ८.४४,१२, पृ० २४१; ८.६३,८, पृ० २४१, १०.६७,१३, पृ० २५७ १.१०,५; २.११,२; २.१२,१४; ३.३४, १.२, ५.३१,१०; ८.६,१,२१,३१.३५, ८.१३,१६; ८.१४,५.११; ८.८२,२७ भी; और ८.८७,८। इन सभी स्थलों पर स्तोत्रों को देवताओं का वर्द्धन करने का श्रेय दिया गया है।

...गूळ्हम् सूर्यं तमसा अपव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा अविन्दद् अत्रिः। ८... ...अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुर् आधात् स्वर्भानोर् अप मायाः अघुक्षत्। ९. यं वै सूर्यं स्वर्भानुस् तमसा अविध्यद् आसुरह्। अत्रयस् तम् अन्वविन्दन् न हि अन्ये अशक्नुवन् (ऋग्वेद ५-४०,६.८.९)।

"..... अपनी चतुर्थ स्तुति द्वारा अत्रि ने गूढ़ अन्धकार में छिपे सूर्य को ढूँढा। ८' ....अत्रि ने सूर्य के नेत्र को आकाश में स्थित किया, और स्वर्भानु की माया को समाप्त किया। ९. अत्रियों ने उस सूर्य को ढूँढा जिसे असुर

जातीय स्वर्भानु ने अन्धकार से आछन्न कर दिया था; अन्य कोई यह कार्य नहीं कर सकता।"

···देवास् तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् (ऋग्वेद ६.७५,१९)।

"······समस्त देवता उसका विनाश करें, स्तोत्र हमारा सुरक्षात्मक कवच है।"

नु इन्द्र शूर स्तवमानः ऊती ब्रह्म-जूतस् तन्वा ववृधस्व इत्यादि (ऋग्वेद ७.१९,११)।

"पराक्रमी इन्द्र, हमारी स्तुतियों से प्रशंसित और प्रेरित होकर हमारी सहायता से अपने शरीर की वृद्धि करें", इत्यादि। (तुलना कीजिये ८.१३, १७ २५)।

···एवेन् नु कं दाशराज्ञे सुदासम् प्रावद् इन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः। ५ ' वसिष्ठस्य स्तुवतः इन्द्रः अश्रोद् उरुं तृत्सुभ्यः अकृणोद् उ लोकम् (ऋग्वेद ७.३३,३,५)।

"· ·हे वसिष्ठगण ! तुम्हारी स्तुति से इन्द्र ने दस राजाओं के युद्ध में सुदास् रक्षा की। इन्द्र ने वसिष्ठ की स्तुतियों को सुना और तृत्सुओं के लिये एक विस्तृत स्थान को खोला।"

पाहि नः अग्ने एकया पाहि उत द्वितीयया। पाहि गीर्भिस् तिसृभिर् ऊर्जाम्पते पाहि चतसृभिर् वसो (ऋग्वेद ८.६०,९)।

"हे अग्नि ! प्रथम से हमारी रक्षा करो, द्वितीय से हमारी रक्षा करो; हे स्तुतियों के अधिपति ! तीन स्तोत्रों से हमारी रक्षा करो; हे उज्ज्वल देवता ! चार से हमारी रक्षा करो।"

निम्नलिखित स्थल छन्दों की संख्या की प्रशस्ति करता है :

सहस्रधा पञ्चदशानि उक्था यावद् द्यावा-पृथिवी तावद् इत् तत्। सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ९. कश् छन्दसां योगम् आवेद धीरः को धिष्ण्याम् प्रति वाचम् पपाद। कम् ऋत्विजाम् अष्टमं शूरम् आहुर् हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित् (ऋग्वेद १०.११४,८,९)।

८. "पन्द्रह सहस्र 'उक्थ' है, जो कि उतने ही विस्तृत हैं जितने आकाश और पृथिवी। उनकी महिमा एक लाख गुनी है; वाच् की उपासना के साथ संगति है। ९. कौन सा ऋषि इन समस्त छन्दों को जानता है?

किसने इस उपासनात्मक वाच् को प्राप्त किया है ? वे पुरोहितों में किसे आठवाँ योद्धा कहते हैं ? किसने इन्द्र के दो अश्वों का साक्षात् किया है ?"

(यास्क ने निरुक्त ८.३ में 'धिष्ण्य' शब्द को 'धिषण्य' के बराबर, और पुनः इस शब्द को 'धिषणा-भव' के बराबर बताया है)।

मैं मन्त्रों की शक्ति व्यक्त करनेवाले इन विभिन्न स्थलों की शृङ्खला को ऋग्वेद के १०वें मण्डल के सम्पूर्ण १३०वें सूक्त के उद्धरण द्वारा समाप्त करूँगा :

यो यज्ञो विश्वतस् तन्तुभिस् ततः एकशतं देव-कर्मेभिर् आयतः। इमे वयन्ति पितरो ये आययुः प्र वय अप वय आसते तते। २. पुमान् एनम् तनुते उत्कृणत्ति पुमान् वि तत्ने अधि नाके अस्मिन्। इमे मयूखाः उप सेदुर् ऊ सदः सामानि चक्रुस् तसराणि ओतवे। ३. का आसीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम् आज्यम् किम् आसीत् परिधिः क' आसीत्। छन्दः किम् आसीत् प्रउगं किम् उक्थम् यद् देवाः देवम् अयजन्त विश्वे। ४. अग्नेर् गायत्री अभवत् सयुग्वा उष्णिहया सविता सम्बभूव। अनुष्टुभा सोमः उक्थैर् महस्वान् बृहस्पतेर् बृहती वाचम् आवत्। ५. विराण् मित्रावरुणयोर् अभिश्रीर् इन्द्रस्य त्रिष्टुब् इह भागः अह्नः। विश्वान् देवान् जगती आविवेश तेन चाक्लृप्रे ऋषयो मनुष्याः। चाक्लृप्रे तेन ऋषयो मनुष्याः यज्ञे जाते पितरः नः पुराणे। पश्यन् मन्ये मनसा चक्षसा तान् ये इमं यज्ञम् अयजन्त पूर्वे। ७. सह-स्तोमाः सह-छन्दसः आवृतः सह-प्रमाः ऋषयः सप्त दैव्याः पूर्वेषाम् पन्थाम् अनुदृश्य धीराः अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् (ऋग्वेद १०.१३०)।

१. "सब ओर सूत्र[३९] को विस्तृत कर यज्ञरूपी वस्त्र को बुनते हैं। देवताओं के निमित्त किये गये अनेक अनुष्ठानों द्वारा इसे एक सौ तन्तुओं से विस्तृत

---

[३९] ऋग्वेद १० ५७,२ मे भी हमे यही 'तन्तु' शब्द मिलता है : "यो यज्ञस्य प्रसाधनस् तन्तुर् देवेषु आततस् तम् आहुतं नशीमहि।" अर्थात् "हम उस अग्नि को प्राप्त करें जिसकी स्तुति होती है, जो यज्ञ का साधन है, और जो देवो तक फैला तन्तु है।" (तुलना कीजिये ज० ए० सो० १८६६, पृ० ४४९, ४५७ मे प्रो० मैक्समूलर द्वारा प्रस्तुत पाठ)। प्रो० रॉथ ने 'तन्तु' शब्द के अन्तर्गत तैत्तिरीय ब्राह्मण २ ४,२,६ का निम्न स्थल उद्धृत किया है "आ तन्तुम् अग्निर् दिव्य ततान। त्वं नस् तन्तुर् उत सेतुर् अग्ने त्वम् पन्थाः भवसि देव-यानः।" अर्थात् "अग्नि ने दिव्य तन्तु को फैलाया। हे अग्नि, तुम्ही हमारे तन्तु और सेतु हो, तुम्ही देवो तक पहुँचाने वाले पथ हो।"

किया गया है—जो पितृगण यज्ञ में पधारे हैं वही इस वस्त्र को बुनते हुये कहते हैं 'लम्बा बुनो', 'चौड़ा बुनो'। २. मनुष्य इसे फैलाता और कातता है, मनुष्य ने इसे आकाश पर फैलाया है। ये रश्मियाँ यज्ञ-स्थल पर आती है, इन्होंने साम-मंत्रों को वेंढ़े तन्तुओं के लिये ढरकी बनाया। ३. देवताओं ने जब प्रजापति का यज्ञ किया तब उस यज्ञ की सीमा क्या थी, उसका रूप कैसा था, उसका प्रकार कैसा था, उसकी हवि क्या थी, समिधा क्या थी, छन्द क्या था, प्रउग क्या था, और उक्थ क्या था? ४. गायत्री अग्नि के साथ सयुक्त थी; सवितृ उष्णिहा के साथ सयुक्त थी; और हम लोगों को उक्थों के द्वारा आह्लादित करता हुआ सोम अनुष्टुभ् के साथ संयुक्त था; बृहती ने अपने को बृहस्पति की वाणी से सयुक्त किया। ५. विराज, मित्र और वरुण का आश्रित हुआ; त्रिष्टुभ इन्द्र के साथ हुआ। जगती ने विश्वेदेवों में प्रवेश किया। इस माध्यम से मानव ऋषि सफल हुये। जब यह प्राचीन यज्ञ सम्पन्न हुआ, तब इसी विधि से मानव पितर, ऋषिगण, सफल हुये। मेरा विश्वास है कि मैं अपने मन से उसी प्रकार उन प्राचीन यज्ञ-कर्त्ताओं के देख रहा हूँ जैसे अपने नेत्रों से। ७. सात-दिव्य और प्रबुद्ध ऋषि स्तोत्रों, छन्दों, कर्मों के रूपों के द्वारा और मान्य पद्धतियों के अनुसार प्राचीन लोगों के पथ का ध्यान करते हुये उसी प्रकार उसका अनुसरण करते हैं जैसे रथी रथ की वल्गा को पकड़कर।"

इस अस्पष्ट और रहस्यात्मक सूक्त के अर्थ और उद्देश्य की व्याख्या करने का मैं प्रयास नहीं करूँगा (इसका कोल० मिस० पृ० १.३४-३५ में भी अनुवाद किया गया है)। इसकी ऋचाओं को उद्धृत करने से मेरा प्रयोजन यह दिखाना है कि इस प्राचीन और रहस्यात्मक संस्कार में विभिन्न छन्दों को किस प्रकार विभिन्न देवताओं के साथ सम्बद्ध किया गया है, और ऐसा करके किस प्रकार इनमें भी एक पवित्रता की भावना सयुक्त कर दी गई है। सातवीं ऋचा में यह देखा जा सकता है कि ऋषियों की संख्या सात और स्वय ऋषियों को दिव्य बताया गया है। अथर्ववेद (१०.७, ४३.४४) में इस सूक्त की दूसरी ऋचा का ऋग्वेद की अपेक्षा कुछ भिन्न रूप मिलता है": "पुमान् एनद् वयति उद्गृणत्ति पुमान् एनद् वि जभार अधि नाके। इमे मयूखाः उप तस्तभुर् दिवं सामानि चक्रुस् तसराणि वातवे॥" अर्थात् "मनुष्य इसे कातता और बुनता है : मनुष्य ने इसे आकाश पर फैलाया है। रश्मियाँ आकाश को उपस्तम्भित करती हैं; उन्होंने वाने के लिये साम मन्त्रों की ढरकी बनाया है।"

४—किन्तु ऋषियों ने जिस अलौकिक प्रकाश का उल्लेख किया है उसकी

प्रकृति अथवा स्रोत जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि इनमें से कम से कम कुछ ने मानवीय अथवा दिव्य विषयों के पूर्णज्ञान का अधिकार व्यक्त नहीं किया है, क्योंकि इन्होंने अवसर अपनी प्रगाढ़ रुचि और उत्सुकता के विषयों में भी अपनी अनभिज्ञता को स्वीकार किया है। निम्न स्थल से यही बात व्यक्त होती है :

पाकः पृच्छामि मनसा अविजानन् देवानाम् एना निहिता पदानि। वत्से वष्कये अधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवयः ओतवै ऊ। ६. अचिकित्वान् चिकितुषश् चिद् अत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। वि यस् तस्तम्भ षळ् इमा रजांसि अजस्य रूपे किम् अपि स्विद् एकम्। ३७. न वि जानामि यद् इव इदम् अस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मा आगन् प्रथमजाः ऋतस्य आद् इद् वाचः अश्नुवे भागम् अस्याः (ऋग्वेद १.१६४,५,६,३७)।

५. मैं अज्ञानी हूँ, और समझ में न आने के कारण ही मैं देवों के इन गुप्त आवासों के सम्बन्ध में पूछता हूँ, ऋषियों ने एक नवयुवक बछड़े के ऊपर (अथवा समस्त वस्तुओं के आश्रय, सूर्य के ऊपर) सात तन्तुओं के बाने को फैलाया। ६. अज्ञानी होने के कारण मैं उन ऋषियों से पूछता हूँ जो इस विषय को समझते हैं, न जानने के कारण मैं जानने के लिये पूछता हूँ कि अजन्मा के रूप में वह एक वस्तु क्या है जिसने इन छ लोकों को उपस्तम्भित कर रक्खा है? ३७. मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ; मैं मूर्ख और अर्द्ध-विक्षिप्त हो रहा हूँ। जब यज्ञ के प्रथम-जन्मा पुत्र मेरे पास आते हैं तभी मैं उस शब्द के एक अंश का आनन्द प्राप्त करता हूँ।"

मैं इन गहन और रहस्यवादी ऋचाओं के अर्थ की व्याख्या करने का प्रयास नहीं करूँगा। मेरे प्रयोजन के लिये इतना कहना ही पर्याप्त है कि ये अपने वक्ता की अज्ञानता को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं। इस स्थल के प्रो० विलसन के अनुवाद की भी तुलना की जा सकती है। प्रो० मैक्समूलर ने ऐ० सं० लि०, पृ० ५६७ में ३७ वीं ऋचा का इस प्रकार अनुवाद किया है : "मैं नहीं जानता कि मैं जो हूँ वह क्या है; अपने मानस में ही आबद्ध, मैं अन्तर्मुखी होकर चलता हूँ। जब समय का प्रथम-जन्मा मेरे पास आता है तब मैं इस वाणी का एक अंश प्राप्त करता हूँ।"

किं स्विद् वनं कः उ स वृक्ष' आस यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः। सन्तस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीर् उषसो जरन्त (ऋग्वेद १०.३१, ७)।

"वह वन क्या था, वृक्ष कौन सा था जिससे उन्होंने उस पृथिवी और आकाश की रचना की जो अनेक दिवसों और अनेक उषाओं के व्यतीत होते जाने पर भी अक्षय और विद्यमान हैं ?"

ऋग्वेद १० ८१,४ की तुलना कीजिये जहाँ उक्त पंक्तियों में से प्रथम दुहराई गई हैं और उसके बाद यह शब्द आते हैं : "मनीषिणो मनसा पृच्छत इद् उ तद् यद् अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ।" अर्थात् "हे मनीषि अपने मन से पूछो कि वह कौन सी वस्तु थी जिस पर लोकों को धारण करते समय वह खड़ा हुआ ।" इसी सूक्त की दूसरी ऋचा भी देखिये ।

कतरा पूर्वा कतरा अपरा अयोः कथा जाते कवयो को वि वेद (ऋग्वेद १.१८५,१)।

इन दोनों (आकाश और पृथ्वी) में से कौन प्रथम है ? कौन अन्तिम है ? इनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? हे ऋषिगण ! इसे कौन जानता है ।"

कति अग्नयः कति सूर्यासः कति उषसः कति उ स्विद् आपः । न उपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम् (ऋग्वेद १०.८८,१८)।

"कितनी अग्नियाँ है ? कितने सूर्य हैं ? कितनी उषायें हैं ? कितने जल हैं ? हे पितृगण ! मैं तुमसे केवल तर्क नहीं कर रहा हूँ; हे ऋषिगण ! मैं वास्तव में जानने की इच्छा से ही यह पूछ रहा हूँ ।"

५. तिरश्चीनो विततो रश्मिर् एषाम् अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीत् । रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वधा अवस्तत् प्रयतिः परस्तात् । ६. कः अद्धा वेद कः इह प्रवोचत् कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः । अर्वाग् देवाः अस्य विसर्जनेन अथ को वेद यतः आबभूव । ७. इयं विसृष्टिर् यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यः अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् स अङ्ग वेद यदि वा न वेद (ऋग्वेद १०.१२९, ५-७)।

५. "तिर्यक्‌रूप से फैली उनकी रश्मि (अथवा रस्सी) नीचे थी, अथवा ऊपर थी ? वहाँ बीज धारणकर्त्ता थे, और वहाँ महान शक्तियाँ थीं, स्वधा नीचे और प्रयास ऊपर स्थित था । ६. कौन जानता है, किसने इसका वर्णन किया है, इस सृष्टि का उत्पत्ति-कारण क्या है, यह किधर से आई है ? देवगण इस सृष्टि के पश्चात् हुये; कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, इसे किसी ने रचा अथवा नहीं—वह जो उच्चतम

दिव्यलोक में इस सृष्टि के स्वामी हैं, वही इसकी रचना के विषय में जानते हैं, अथवा वह भी नहीं जानते।"

देखिये इस सम्पूर्ण सूक्त का कोलब्रुक का अनुवाद, कोल० मिस० ए०, १.३३-३४, में। देखिये मैक्समूलर का अनुवाद और विवेचन भी उनके ऐ० स० लि०, पृ० ५५९-५६४ में; और स्वयं मेरा अनुवाद ज० ए० सो०, १८६५ पृ० ३४५ और बाद।

हम ऊपर (पृ० ६८) यह देख चुके हैं कि वेद के लिये यह कहा गया है (सायण द्वारा उद्धृत एक अज्ञात लेखक द्वारा) कि यह भूत और भविष्य, सूक्ष्म, प्रकट और दूरस्थ, सभी विषयों का ज्ञान प्रदान करता है; और यह भी कि शङ्कराचार्य (ब्रह्मसूत्र १.१,३ पर, देखिये ऊपर पृ० ११४) के अनुसार वेद द्वारा प्रदत्त ज्ञान सर्वज्ञता के ही समान है। फिर भी, अपनी अज्ञानता को व्यक्त करने वाले जिन ऋषियों को मैंने अभी उद्धृत किया है, वे इन गर्वोक्तियों को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि ऋग्वेद १०.१२९,५-६ जैसे स्थलों पर शङ्का व्यक्त की गई होने के कारण ज्ञान के स्रोत के रूप में कोई प्रमाण नहीं हो सकने की आपत्ति के उत्तर में सायण ने यह उत्तर दिया है कि इन स्थलों का उद्देश्य दिव्य तत्त्वों की अत्यन्त गम्भीरता और श्रुतियों से भली प्रकार परिचित न रहनेवाले व्यक्तियों द्वारा इन विषयों को समझने में कठिनाई होने के तथ्यों को ध्यान में रखते हुये एक लाक्षणिक रूप से व्याख्या करना ही है। फिर भी, यह सन्देहरहित है कि मैंने जो उद्धरण दिये हैं उनके प्रणेताओं को अपनी अज्ञानता का विश्वास था और उन्होंने अपनी इस भावना को ही व्यक्त करना चाहा है। फिर भी, ऋषियों द्वारा अपनी अज्ञानता की स्वीकृति के तथ्य को ग्रहण कर लेने की, वेद के दिव्य ज्ञान के निर्दोष प्रमाण होने के तथ्य के साथ कोई सगति न होने के कारण वेद को प्रामाण्य माननेवाले बाद के धर्मशास्त्रियों के लिये उक्त स्थलों के सरल आशय की एक भिन्न व्याख्या करना आवश्यक हो गया।

फिर भी, यह द्रष्टव्य है कि अज्ञानता और सदोषता की इन स्वीकृतियों की, इस मान्यता के साथ कि, ऋषियों ने अपने सूक्तों की रचना में अपने को एक दिव्य शक्ति द्वारा निर्देशित अथवा प्रेरित माना है, कोई असंगति नहीं है। किन्तु, यद्यपि दो परस्पर प्रतिस्पर्धी, वसिष्ठ और विश्वामित्र, चाहे स्वयं अपनी अलौकिक अन्तर्दृष्टि में विश्वास करने के कारण, अथवा अपनी महत्त्ववृद्धि करने और अपने प्रतिपालक राजाओं की दृष्टि में अपने को ऊँचा उठाने की इच्छा से ही अपने विस्तृत ज्ञान का गर्व के साथ उल्लेख करते हैं (देखिये

ऊपर पृ० २५९ और वाद), तथापि यह कल्पना आवश्यक नहीं कि इनके अथवा अन्य प्राचीन भारतीय ऋषियों के विचार से प्रेरणा और निर्दोषत्व दोनों ही परस्पर वदले जा सकनेवाले अथवा एक साथ ही अस्तित्व रखनेवाले शब्द थे। ऋषियों का ऐसा विश्वास रहा हो सकता है कि उनके द्वारा प्राप्त अलौकिक सहायता ने उन्हें वह कार्य करने की क्षमता प्रदान की जो अन्यथा अकृत ही रह जाता, किन्तु इससे उन्हें प्राप्त केवल आंशिक प्रकाश का ही तात्पर्य है, जिसके कारण उनके द्वारा शंका अथवा त्रुटि की सम्भावना वनी रह जाती है।

मैं यह भी कहना चाहूँगा कि दिव्य प्रेरणा सम्वन्धी यह विश्वास, जिसे कुछ ऋषिगण अपने सम्वन्ध में मानते थे, वाद में अधिकांश लेखकों की, चाहे वे वैशेषिक, मीमांसक, अथवा वेदान्ती जो भी रहे हों, वेद की अलौकिक उत्पत्ति और प्रामाण्य की धारणा की अपेक्षा अत्यन्त पीछे रह जाता है। वह देवता, जिनसे ही ऋषिगण प्रेरणा प्राप्त करने की वात मानते थे, जैसे अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, सोम, पूषन्, इत्यादि, स्वयं ही उत्पन्न हुये लोगों के वर्ग के अथवा काल की सीमा में रचे गये देवों के वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मसूत्र १.३,२८ (ऊपर पृ० ११० और वाद) पर शङ्कर के भाष्य से यह वात स्पष्ट सिद्ध होती है, और अन्यथा भी प्रचलित है (देखिये ज० ए० सो०, १८६४, पृ० ६३, में मेरा 'कान्ट्रिब्यूशन्स टु ए नॉलेज ऑफ वैदिक थियॉग्नी ऐण्ड माइथॉलोजी)। किन्तु जव यह देवता स्वय ही सृजित हुये थे, और यहाँ तक कि (जैसा कि हमें ऋग्वेद १०.१२९,६, ऊपर पृ० २९६ पर उद्धृत, से पता लगता है) इनकी रचना सृष्टि के कुछ अन्य तत्वों के वाद ही हुइ, तव वह सूक्त जिनकी इन्होंने ऋषियों को प्रेरणा दी, नित्य नहीं रहे हो सकते। प्रेरणा स्रोत के रूप में ऋग्वेद में उल्लिखित केवल एक वाच् अथवा सरस्वती ही ऐसी है जिनके सम्वन्ध में मेरा यह मत उपयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसे बृहदारण्यक उपनिषद् के ऊपर उद्धृत (पृ० २१६, नोट १६८) एक स्थल पर परम-ब्रह्म के साथ समीकृत किया गया है; यद्यपि इस विचार का उदय नि.सन्देह सूक्त-काल के वाद ही हुआ है। किन्तु वैशेषिक, मीमांसक, अथवा वेदान्ती वेद की उत्पत्ति अग्नि, इन्द्र, तथा इसी कोटि के अन्य सृजित देवताओं से नहीं मानते। वैशेषिक नित्य ईश्वर को वेद का प्रणेता मानते है (देखिये उन स्थलों को जिन्हें मैने ऊपर पृ० १२७ और वाद, और २१७ पर उद्धृत किया है)। जैसा कि हम देख चुके है, मीमांसक और वेदान्ती (ऊपर पृ० ६४ और वाद, १०८ और वाद, और २१७) या तो वेद को असृष्ट कहते हैं, अथवा नित्य ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। और ऐसे लेखक भी जो वेद की रचना का श्रेय सृष्ट ब्रह्मा को देते हैं (देखिये ऊपर पृ० ७६, ११४ और वाद, और

२१७), वेद को आप्त जनों की रचना माननेवाले नैय्यायिकों (देखिये ऊपर पृ० १२५ और बाद, और २१८), और साङ्ख्यों (देखिये ऊपर पृ० १४३ और २१७) के साथ सहमत होकर वेद के निर्दोषत्व को निर्विवाद मानते हैं। फलस्वरूप इनका दृष्टिकोण (जब तक हम वाच् के उल्लेख को अपवाद न मान लें) स्वयं उन वैदिक ऋषियों के दृष्टिकोण से भिन्न है जिनके मन में अपने सूक्तों के अरचित होने, अथवा नित्य ब्रह्म से उत्पन्न हुये होने, या निर्दोष होने के सम्बन्ध में किसी विचार का चिह्न वर्तमान प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक ऋषियों और इन्द्र प्रभृत् देवों के सम्बन्ध का प्रश्न है, यह भी द्रष्टव्य है कि बाद के पुराकथाशास्त्रियों ने ऋषियों को न केवल देवों से सर्वथा स्वतंत्र और स्वयं अपनी तपस्या के बल पर विभिन्न अलौकिक गुणों को उपभोग करने के योग्य बना सकने की निहित क्षमता से युक्त ही माना है, वरन् स्वयं देवों के समान शक्ति-सम्पन्न और उनके सिंहासनों तक पर अधिकार कर लेनेवाला बताया है। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में नहुष और विश्वामित्र की कथायें। तुलना कीजिये ऊपर (पृ० २६४) उद्धृत ऋग्वेद १०.१५४,२ और १०.१६७,१ भी जहाँ ऋषियों के स्वर्ग प्राप्त करने, तथा इन्द्र द्वारा तपस्या के माध्यम से स्वर्ग विजित करने का उल्लेख है।

खण्ड ५ :—लेखकों द्वारा स्वयं अपने अथवा अपने पूर्वगामियों के प्रेरित हुये होने के मत को व्यक्त करने वाले उपनिषदों के उद्धरण।

अब मैं विभिन्न उपनिषदों से कुछ स्थल यह दिखाने के लिये उद्धृत करूँगा कि उनके लेखकों का स्वयं अपने अथवा अपने उन पूर्वगामी ऋषियों, जिनसे ही उन्होंने परम्परागत ज्ञान प्राप्त किया है, के प्रेरित हुये होने के सम्बन्ध में क्या विचार हैं।

यो योनिं योनिम् अधितिष्ठत्य् एको विश्वानि रूपाणि योनीश् च सर्वाः। ऋषिम् प्रसूतं कपिलं यस् तम् अग्रे ज्ञानैर् बिभर्ति जायमानं च पश्येत् (श्वेताश्वतर उपनिषद् ५ २)।

"जो अकेला ही प्रत्येक स्थान तथा सम्पूर्ण रूप और समस्त योनियों का अधिष्ठान है, तथा जिसने सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञान-सम्पन्न किया और जन्म लेते हुए भी देखा।"

तपः-प्रभावाद् वेद-प्रसादाच् च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्। अत्याश्रमिभ्यः परमम् पवित्रम् प्रोवाच सम्यग् ऋषि-सङ्घ-जुष्टम् (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२१)।

"श्वेताश्वतर ऋषि ने तपोबल और वेद की कृपा से उस प्रसिद्ध ब्रह्म को जाना, और ऋषि-समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का सम्यक् प्रकार से परमहंस सन्यासियों को उपदेश किया।" (डा० रूअर प्रथम शब्द के अनुवाद में इस उपनिषद् के भाष्यकार का अनुसरण करते हुए यह अनुवाद करते हैं : "तपोबल और परमात्मा की कृपा से, इत्यादि।" फिर भी, 'वेद-प्रसादाच् च' शब्दों का यह उचित अर्थ नहीं है, यदि मूल उपनिषद् और उसके भाष्य में इस शब्द के पाठ को इसी प्रकार माना जाय : देखिये विब० इ० संस्करण, पृ० ३७२। शंकर ने इन शब्दों की इस प्रकार व्याख्या की है : 'वेद-प्रसादाच् च'। कैवल्यम् उद्दिश्य तद्-अधिकार-सिद्धये बहु जन्मसु सम्यग् आराधित-परमेश्वरस्य प्रसादाच् च। अर्थात् " 'वेद की कृपा से' : उस परमेश्वर की कृपा से जिसकी उन्होंने अनेक जन्मों तक कैवल्य प्राप्त करने की इच्छा से वेदाध्ययन के अधिकार की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आराधना की थी।" इस प्रकार शंकर उक्त पाठ को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।) इस उपनिषद् के इसी अध्याय के १८ वें श्लोक में परमात्मा द्वारा ब्रह्मा को वेद प्रदान किये जाने का उल्लेख है :

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश् च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवम् आत्म-बुद्धि-प्रकाशम् मुमुक्षुर् वै शरणम् अहम् प्रपद्ये (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६. १८)।

"जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म को उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदों को प्रवृत्त करता है, मै अपनी बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले उसी देव की मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ।"

ब्रह्मा देवानाम् प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्म-विद्यां सर्व-विद्या-प्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राह (मुण्डक उपनिषद् १.१)।

"सम्पूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुये। वह विश्व के रचयिता और त्रिभुवन के रक्षक थे। उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वन् को समस्त विद्याओं की आश्रयभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।"

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच प्रजापतिर् मनवे मनुः

प्रजाभ्यः । आचार्य्य-कुलाद् वेदम् अधीत्य यथा विधानं गुरोः कर्मातिशेषेण अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानो धार्मिकान् विदधद् आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्व-भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्व् एवं वर्त्तयन् यावद्-आयुषम् ब्रह्म-लोकम् अभिसम्पद्यते न च पुनर् आवर्त्तते न च पुनर् आवर्त्तते (छान्दोग्य उपनिषद् ८.१५,१)।

"यही वह ज्ञान है जिसे ब्रह्मा ने प्रजापति से कहा, प्रजापति ने अपने पुत्र मनु को दिया, और मनु ने अपने वंशजों को। अब कर्मों का विशेष फल कहते हैं जिसे सुनो। जो व्यक्ति गुरु की भली भाँति सेवा करके विधिवत् वेदाध्ययन करके, गुरु के घर से लौटकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है और कुटुम्ब में अपने कर्मानुष्ठान के साथ रहते हुए पवित्र स्थानों में वेद शास्त्र को पढ़ता है, अपने पुत्र और शिष्य आदि को धार्मिक बनाता है, हृदयस्थ आत्मा में समस्त इन्द्रियों को केन्द्रित करता है, शास्त्राज्ञा से विरुद्ध प्राणिमात्र को दुःख नहीं देता, और जीवन पर्यन्त इसी प्रकार व्यवहार करता है, वह निश्चय-पूर्वक ब्रह्म को प्राप्त करता है और पुनः जन्म का क्लेश नहीं पाता।"

मैं इस स्थल पर शाङ्कर भाष्य के आरम्भिक अंश का उद्धरण देता हूँ :

तद् ह एतद् आत्म-ज्ञान सोपकरणम् ओम् इत्य् एतद् अक्षरम् इत्य्-आद्यैः सह उपासनैस् तद्-वाचकेन ग्रन्थेन अष्टाध्याय-लक्षणेन सह ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्-द्वारेण प्रजापतये कश्यपाय उवाच। असाव् अपि मनवे स्व-पुत्राय। मनुः प्रजाभ्यः। इत्य् एवम् श्रुत्य्-अर्थ-सम्प्रदाय-परम्परया आगतम् उपनिषद्-विज्ञानम् अद्यापि विद्वत्स्व् अवगम्यते (छान्दोग्य उपनिषद् ८.१५, १ पर शाङ्कर भाष्य)।

"समस्त उपकरणों और उपासनार्थक 'ओ३म' इत्यादि अक्षर सहित इस आत्मज्ञान, तथा आठ अध्यायों वाले इस ग्रन्थ का (छान्दोग्य उपनिषद्) जो इन विषयों का प्रतिपादन करता है, हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, अथवा परमेश्वर ने अपने माध्यम प्रजापति कश्यप के द्वारा उच्चारण कराया। प्रजापति कश्यप ने उसे अपने पुत्र मनु को बताया और मनु ने अपने वंशजों को। इस प्रकार इस उपनिषद् में निहित पवित्र ज्ञान श्रुति के अर्थ का परम्परागत प्रतिपादन करते हुये आज विद्वद्वर्ग में समझा जाता है।"

इसी उपनिषद के एक अन्य आरम्भिक स्थल पर हमें आत्मज्ञान की एक शाखा-विशेष (मधु-ज्ञान) के सम्बन्ध में इसी प्रकार की उक्ति मिलती है :

३. न ह वै अस्मै उदेति न निम्लोचति सकृद् दिवा ह एव अस्मै भवति यः एताम् एवम् ब्रह्मोपनिषदं वेद। ४. तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतये उवाच प्रजापतिर् मनवे मनुः प्रजाभ्यः। तद् एतद् उद्दालकाय आरुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म उवाच। ५. इदं वाव तज्-ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वा अन्तवासिने (६) न अन्यस्मै कस्मैचन। यद्यप्य् अस्मै इमाम् अद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात् एतद् एव ततो भूयः इत्य् एतद् एव ततो भूयः इति (छान्दोग्य उपनिषद् ३,११,३-६)।

३. जो इस ब्रह्म-विद्या को इस प्रकार जानता है, उसके लिये न तो सूर्य का उदय होता है और न अस्त; उसके लिये निरन्तर एक दिन ही वर्त्तमान रहता है। ४. इस मधु ज्ञान को ब्रह्मा ने प्रजापति से कहा, प्रजापति ने मनु से कहा, और मनु ने अपने वंशजों से। इसी ब्रह्म-विद्या को उद्दालक आरुणि से उनके पिता ने बताया। ५. इस ब्रह्म-विद्या को पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र अथवा प्रिय शिष्य से कहे, किन्तु अन्य किसी से नहीं। ६. यदि कोई उसे धन से पूर्ण और समुद्र से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथिवी भी दे तो भी यह ब्रह्म-विद्या इस पृथिवी से अत्यन्त श्रेष्ठ होगी, अवश्य श्रेष्ठ होगी।"

तुलना कीजिये मनुस्मृति ११.२४३, जहाँ प्रजापति द्वारा इस विद्या के सृजन का उल्लेख है; और देखिये भगवद्गीता ४.१ भी जहाँ यह कहा गया है कि उसके सिद्धान्तों को कृष्ण ने विवस्वत् से बताया, विवस्वत् ने मनु को बताया, मनु ने इक्ष्वाकु को बताया, और तदुपरान्त यह एक के बाद एक राजर्षियों की परम्परा के द्वारा संचारित होता रहा।



परिशिष्ट

पृष्ठ ६, पंक्ति १०

यहाँ मैंने अथर्ववेद ११.७.२४ (जिसे गोल्डस्टूकर ने अपने पाणिनि, पृ० ७० पर उद्धृत किया है) को छोड़ दिया है जो इस प्रकार है : ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाः दिविश्रिता.। "यज्ञ के उच्छिष्ट से ही ऋचायें और सामन्, छन्द, यजुष् सहित पुराण, और आकाशवासी समस्त देवता उत्पन्न हुये।"

प्रोफेसर ऑफरेख्त ने पृ० १० और ११ के मेरे अनुवादों में निम्न संशोधन प्रस्तुत करने की कृपा की है :

पृ० १०, पंक्ति २

आप मूल में प्रयुक्त 'सावित्री' (अथवा 'गायत्री') के स्थान पर इस मन्त्र को 'सवितृ' को समर्पित मानते हैं।

पृ० १०, पंक्ति ४

"ब्रह्मा का मुख" के स्थान पर आपने 'वेद का आरम्भ' मानने का प्रस्ताव किया है (पर विलियम जोन्स ने "मुख अथवा वेद का प्रमुख भाग" अनुवाद किया है)।

पृ० ११, पंक्ति १

" 'वाच्' से उसके संसार-स्वरूप" के स्थान पर आप "वाच् के क्षेत्र से" अनुवाद करना चाहते हैं।

पृ० ११, पंक्ति १–२

"वाच् उसका हुआ, उसकी रचना हुई" के स्थान पर आप, "वेदों की रचना करते हुए उन्होंने वाच् की भी रचना की" अनुवाद करने का प्रस्ताव करते है।

पृ० ११, पंक्ति ७

"उसमें उसने प्राण का संचार किया", के स्थान पर आप, "उसने उसका स्पर्श किया" अनुवाद करने का प्रस्ताव करते हैं।

पृ० ११, पंक्ति ११

"यह पवित्र विद्या ही थी जो उस सम्मुख पुरुष से सृजित हुई" के स्थान पर आपने "और उसी पुरुष से (केवल जलों से ही नहीं) ब्रह्म का सर्वप्रथम सृष्टि हुई" अनुवाद करने का प्रस्ताव किया है।

पृ० १२, पंक्ति १५-१६

बृहदारण्यक उपनिषद् का यह स्थल शतपथ ब्राह्मण १०.६,५,५ के ही समान है।

पृ० १३, पंक्ति ५

"आज उस उज्ज्वल देवता को" इत्यादि के स्थान पर "मृदेवों" से आरम्भ इस मंत्र की दूसरी पंक्ति का प्रोफेसर ऑफरेख्त यह अनुवाद करना चाहते हैं : "केवल श्रेष्ठ (देवता) ही यह जानते हैं कि उन्होंने फेंकी हुई पृथिवी को कहाँ रक्खा था।"

पृ० २६, पंक्ति १५, नोट २०

यहाँ मैं मनु के दो श्लोकों का उद्धरण दे रहा हूँ जिनमें से द्वितीय तो 'आ ह एव स नखाग्रेभ्यस् तप्यते' शब्दों के मेरे अनुवाद की पुष्टि, और प्रथम उक्त नोट में उद्धृत तैत्तिरीय आरण्यक के स्थल की व्याख्या करता है : मनु २. १६६ : वेदम् एव सदाऽभ्यस्येत् तपस् तप्स्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परम् इहोच्यते ॥ १६७: "आ हैव स नखाग्रेभ्यः" परन "तप्यते" तप । यः स्रग्व्य अपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्।

"तपस्या करनेवाला ब्राह्मण सर्वदा ही वेद का अभ्यास करे क्योंकि ब्राह्मण के लिये वेदाध्ययन ही इस लोक में उत्कृष्ट तप कहा जाता है॥ १६६ ॥ पुष्पमाला को धारण करता हुआ भी जो ब्राह्मण प्रतिदिन शक्ति के अनुसार स्वाध्याय करता है वह नख के अग्र भाग तक श्रेष्ठ तपस्या को तप्त करता ही है ॥ १६७ ॥" यहाँ द्रष्टव्य है कि इस श्लोक में ब्राह्मण के एक वाक्यपद का यथावत उद्धरण देते हुए 'परमं तपः' शब्दों को जोड़ कर उसके आशय को और निश्चितता प्रदान की गई है। मनु के इसी अध्याय के १६५ और बाद के श्लोकों में गुरु-गृह में वास करनेवाले ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। महाभारत (५.४०,६) में भी सफल विद्याध्ययन की स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया गया है : सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्। सुखार्थी वा त्यजेद् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्। "सुखार्थी

व्यक्ति किस प्रकार विद्या को प्राप्त कर सकेगा ? जो विद्यार्थी हैं उनके लिये सुख नहीं। या तो सुखार्थी को विद्या का त्याग कर देना चाहिये अथवा विद्यार्थी को सुख का।"

पृ० ३५, पंक्ति ८

शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र, ८३, के भाष्यकार द्वारा उद्धृत महाभारत (१२. ३४८,५.६) की इन पंक्तियों की तुलना कीजिये : सहोपनिषदो वेदान् ये विप्राः सम्यग् आस्थिताः। पठन्ति विधिम् अस्थाय ये चापि यतिधर्मिणः। ततो विशिष्टां जानामि गतिम् एकान्तिनां नृणाम्। "मैं एकान्तियों की गति या ध्येय को, उन ब्राह्मणों से जो उपनिषद् सहित वेदों का सम्यक् अध्ययन करते हैं, और उन लोगों से भी जो यतिधर्म का पालन करते हैं, विशिष्ट या श्रेष्ठ मानता हूँ।"

पृ० ३९, पंक्ति १

वेद का अवमूल्यन करनेवाले के रूप में उद्धृत करने के लिये यह स्थल कदाचित ही उपयुक्त था, क्योंकि इसमें वर्णित बोधातिरिक्त समन्वय के स्तर पर मूल्यांकन के सभी साधारण मापदण्डों की मान्यता प्रायः समाप्त हो गई थी।

पृ० ४८, पंक्ति २१

'हृद् आकाश' शब्दों के साथ तुलना कीजिये इस स्थल की जिसे ब्रह्मसूत्र (३.२,३५) के अपने भाष्य में शङ्कर ने उद्धृत किया है : योऽयं वहिर्धा पुरुषाद् आकाशो योऽयम् अन्तः पुरुषे आकाशो योऽयम् अन्तर्-हृदये आकाशः। "यह आकाश जो पुरुष-बाह्य है, यह आकाश जो पुरुष के अन्तर में है, और यह आकाश जो हृदय में स्थित है।" बृहदारण्यक उपनिषद् २.५,१० और ३.७,१२ भी देखिये।

पृ० ४९, पंक्ति १७

देखिये योग-सूत्र १ २ और बाद, की जैसी डा० बैलेनटाइन[1] ने व्याख्या की है। द्वितीय सूत्र ने 'चित्त की वृत्तियों के निरोध' (योगश् चित्त-वृत्ति-निरोधः) के रूप में योग की परिभाषा की है। इसके बाद ही मन द्रष्टास्वरूप अवस्था (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥) को प्राप्त करता है। अन्य

---

[1] १०६ सूत्रों तक के केवल दो फेसिक्युलस ही सन् १८५२–५३ ई० तक इलाहाबाद से प्रकाशित हुये थे। किन्तु सितम्बर १८६८ से डा० बैलनटाइन की इस कृति के आगे के अंशो का 'पण्डित' में पुनः प्रकाशन आरम्भ हो गया है।

समय में यह वृत्ति-स्वरूप रहता है (वृत्ति-सारूप्यम् इतरत्र ॥ ४ ॥) । यह वृत्तियाँ क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से पाच प्रकार की—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति (सूत्र ५–११)—होतीं हैं । डा० वैलेनटाइन का सांख्य सूत्र ३.३१ और बाद भी देखिये ।

पृ० ६४ नोट ५२

इस टिप्पणी के विषय-वस्तु के साथ, पृ० ११७ के मेरे विचारों और पृ० १८०, १८२, और २००, के डा० रूअर तथा मैक्समूलर के उद्धरणों की तुलना कीजिये ।

पृ० ६८, नोट ५८

प्रोफेसर कोवेल के विचार से यह स्थल भ्रष्ट नहीं है । आप इसका इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को इस प्रकार की स्थितियों में माना भी नहीं जा सकता ।" (इस स्थिति से नित्य वेद के अस्तित्व जैसे अलौकिक विषय का तात्पर्य है) । सायण ने आपत्तिकर्त्ता को उत्तर देते हुये श्रुति, स्मृति, और लोक-प्रसिद्धि जैसे प्रमाणों का सिंहावलोकन किया है और यह तीनों केवल शब्द प्रमाण के ही विभिन्न प्रकार हैं ।

पृ० ६९, पंक्ति १८ और बाद, तथा पृ० ७०, नोट

तुलना कीजिये ज० ए० सो० १८६६ में प्रकाशित मेरे 'वेद-व्याख्या' सम्बन्धी लेख के पृ० ३२२ और बाद, ३२९ और बाद, ३३४ और बाद, और ३३७ ।

पृ० ९२, नोट ८८, और पृ० १८८, पंक्ति १०

'कालात्ययापदिष्ट' पर प्रोफेसर कोवेल ने मुझे अपनी निम्नलिखित टिप्पणी देने की कृपा की है :

"मेरे कलकत्ता के पण्डितों ने इस त्रुटि को वैसा ही माना है जिसे सामान्यतया 'बाध' कहते हैं (तु० की० भाषापरिच्छेद, श्लोक ७०, ७७ और उसका बगला अनुवाद भी) । इसकी परिभाषा 'पक्षे साध्याभाव:' है । 'जिस वस्तु को प्रमाणित किया जाता है, उसके अभाव में भी जब उसके अस्तित्व की निश्चित रूप से अन्य प्रमाण के द्वारा स्थापना हो जाती है', तो उस दशा में ही तर्कसंग्रह में हेतु की बाधित के रूप मे परिभाषा की गई है—जैसा कि 'वह्निर् अनुष्णो द्रव्यत्वात्' तर्क मे द्रष्टव्य है । इस त्रुटि का सार यह है कि प्रमुख तर्क को अस्वीकृत कर देने के कारण मध्यवर्ती तर्क को हम स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, इसका कोई महत्व नहीं है । इसका सम्बन्ध प्रमुख तर्क

की अस्वीकृति से ही है। मुझे इसका 'प्रतिविद्ध तर्क' अनुवाद करना चाहिये। यह न्यायसूत्रवृत्ति के इस विवरण के अनुरूप ही है: कालस्य साधन-कालस्यात्ययेऽभावेऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुर्। एतेन साध्याभावप्रमालक्ष-णार्थ इति सूचितम्। साध्याभावनिर्णये साधनासम्भवात्। अयम् एव बाधितसाध्यक इति गीयते। वृत्ति में यह भी कहा गया है कि 'बाध' की स्थापना करने के लिये 'व्यभिचार' (अर्थात् प्रतिपत्ती का 'हेतु' अथवा मध्यवर्ती तर्क बहुत दूरगामी है, जैसा कि 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में 'वह्नि' एक 'व्यभि-चारो हेतुः' है) को सिद्ध करने का आवश्यकता नहीं है। अतः मैं वेदार्थ-प्रकाश के उक्त स्थल (पृ० ९२ पर उद्‌धृत) का इस प्रकार अनुवाद करना चाहूँगा: 'आपके मध्यपद अर्थात् 'वाक्यत्व' इत्यादि के प्रति दो आपत्तियाँ की जा सकती हैं—(१) यह इस तर्क के विरुद्ध है कि इसके किसी भी रचयिता को कभी भी देखा नहीं गया, और (२) यह प्रमाणों से भी बाधित होता है (जो यह सिद्ध करता है कि आपका प्रस्तावित प्रमुख तर्क निरर्थक है)। तदु-परान्त सायण ने इन प्रत्येक आपत्तियों के लिये अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं,—प्रथम के लिये 'यथा व्यास' से लेकर 'उपलब्धः' शब्दों तक; द्वितीय के लिये इस तथ्य द्वारा कि श्रुति और स्मृति वेद के नित्यत्व से सहमत हैं और यदि परमात्मा को भी वेद का कर्ता मान लिया जाय तो भी हम परमात्मा को उस आशय में पुरुष नहीं कह सकते जिस आशय में प्रतिपत्ती ने इसका प्रयोग किया है। दोनों ही प्रकार से प्रतिपत्ती के तर्क में प्रमुख पद 'पौरुषेय' बाधित है; अथवा न्याय की पारिभाषिक भाषा में, सायण ने मध्यवर्ती पत्त के आधार पर साध्य के अनुपस्थिति की स्थापना की है, अतः उनके विचार से प्रस्तावित तर्क के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैंने वात्स्यायन को भी देखा है किन्तु उनकी व्याख्या मुझे उस तर्क का ही उदाहरण प्रतीत हुई जिसका मेरे पण्डितगण प्रतिपादन करते रहे हैं, अर्थात् यह कि आधुनिक तर्कशास्त्र को हम न्यायभाष्य के तर्क के समान नहीं कह सकते। उन्होंने उदाहरण में ही त्रुटि को निहित किया है, अतः जैसा कि प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का कथन है, यह एक अनुचित सामान्यी-करण है।"

पृ० ९७, नोट ९२

प्रोफेसर कोवेल मेरी उस व्याख्या से असहमत हैं जो मैंने उक्त नोट के बाद की पङ्क्तियों के आशय के सम्बन्ध में की है। उनका विचार है कि, जैसा कि 'व्यभिचारात्' शब्द से व्यक्त होता है, इसका आशय यह सूचित करना

समय में यह वृत्ति-स्वरूप रहता है (वृत्ति-सारूप्यम् इतरत्र ॥ ४ ॥) । यह वृत्तियाँ क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से पाच प्रकार की—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति (सूत्र ५–११)—होतीं है । डा० वैलेनटाइन का सांख्य सूत्र ३.३१ और वाद भी देखिये ।

पृ० ६४ नोट ५२

इस टिप्पणी के विषय-वस्तु के साथ, पृ० ११७ के मेरे विचारों और पृ० १८०, १८२, और २००, के डा० रूअर तथा मैक्समूलर के उद्धरणों की तुलना कीजिये ।

पृ० ६८, नोट ५८

प्रोफेसर कोवेल के विचार से यह स्थल भ्रष्ट नहीं है । आप इसका इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को इस प्रकार की स्थितियों में माना भी नहीं जा सकता ।" (इस स्थिति से नित्य वेद के अस्तित्व जैसे अलौकिक विषय का तात्पर्य है) । सायण ने आपत्तिकर्त्ता को उत्तर देते हुये श्रुति, स्मृति, और लोक-प्रसिद्धि जैसे प्रमाणों का सिंहावलोकन किया है और यह तीनों केवल शब्द प्रमाण के ही विभिन्न प्रकार हैं ।

पृ० ६९, पंक्ति १८ और वाद, तथा पृ० ७०, नोट

तुलना कीजिये ज० ए० सो० १८६६ में प्रकाशित मेरे 'वेद-व्याख्या' सम्बन्धी लेख के पृ० ३२२ और वाद, ३२९ और वाद, ३३४ और वाद, और ३३७ ।

पृ० ८२, नोट ८८, और पृ० १८८, पंक्ति १०

'कालात्ययापदिष्ट' पर प्रोफेसर कोवेल ने मुझे अपनी निम्नलिखित टिप्पणी देने की कृपा की है :

"मेरे कलकत्ता के पण्डितों ने इस त्रुटि को वैसा ही माना है जिसे सामान्यतया 'वाध' कहते है (तु० की० भाषापरिच्छेद, श्लोक ७०, ७७ और उसका वगला अनुवाद भी) । इसकी परिभाषा 'पक्षे साध्याभावः' है । 'जिस वस्तु को प्रमाणित किया जाता है, उसके अभाव में भी जब उसके अस्तित्व की निश्चित रूप से अन्य प्रमाण के द्वारा स्थापना हो जाती है', तो उस दशा में ही तर्कसंग्रह में हेतु की वाधित के रूप में परिभाषा की गई है—जैसा कि 'वह्निर् अनुष्णो द्रव्यत्वात्' तर्क में द्रष्टव्य है । इस त्रुटि का सार यह है कि प्रमुख तर्क को अस्वीकृत कर देने के कारण मध्यवर्ती तर्क को हम स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, इसका कोई महत्व नहीं है । इसका सम्बन्ध प्रमुख तर्क

की अस्वीकृति से ही है। मुझे इसका 'प्रतिषिद्ध तर्क' अनुवाद करना चाहिये। यह न्यायसूत्रवृत्ति के इस विवरण के अनुरूप ही है. कालस्य साधन-कालस्यात्ययेऽभावेऽपदिष्टः प्रयुक्तो हेतुर्। एतेन साध्याभावप्रमालक्षणार्थ इति सूचितम्। साध्याभावनिर्णये साधनासम्भवात्। अयम् एव वाधितसाध्यक इति गीयते। वृत्ति में यह भी कहा गया है कि 'वाध' की स्थापना करने के लिये 'व्यभिचार' (अर्थात् प्रतिपक्षी का 'हेतु' अथवा मध्यवर्ती तर्क बहुत दूरगामी है, जैसा कि 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में 'वह्नि' एक 'व्यभिचारो हेतुः' है) को सिद्ध करने का आवश्यकता नहीं है। अतः मैं वेदार्थ-प्रकाश के उक्त स्थल (पृ० ९२ पर उद्धृत) का इस प्रकार अनुवाद करना चाहूँगा : 'आपके मध्यपद अर्थात् 'वाक्यत्व' इत्यादि के प्रति दो आपत्तियाँ की जा सकती है—(१) यह इस तर्क के विरुद्ध है कि इसके किसी भी रचयिता को कभी भी देखा नहीं गया, और (२) यह प्रमाणों से भी वाधित होता है (जो यह सिद्ध करता है कि आपका प्रस्तावित प्रमुख तर्क निरर्थक है)। तदुपरान्त सायण ने इन प्रत्येक आपत्तियों के लिये अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं,—प्रथम के लिये 'यथा व्यास' से लेकर 'उपलब्धः' शब्दों तक; द्वितीय के लिये इस तथ्य द्वारा कि श्रुति और स्मृति वेद के नित्यत्व से सहमत है और यदि परमात्मा को भी वेद का कर्ता मान लिया जाय तो भी हम परमात्मा को उस आशय में पुरुष नहीं कह सकते जिस आशय में प्रतिपक्षी ने इसका प्रयोग किया है। दोनों ही प्रकार से प्रतिपक्षी के तर्क में प्रमुख पद 'पौरुषेय' वाधित है; अथवा न्याय की पारिभाषिक भाषा में, सायण ने मध्यवर्ती पक्ष के आधार पर साध्य के अनुपस्थिति की स्थापना की है, अत. उनके विचार से प्रस्तावित तर्क के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैंने वात्स्यायन को भी देखा है किन्तु उनकी व्याख्या मुझे उस तर्क का ही उदाहरण प्रतीत हुई जिसका मेरे पण्डितगण प्रतिपादन करते रहे हैं, अर्थात् यह कि आधुनिक तर्कशास्त्र को हम न्यायभाष्य के तर्क के समान नहीं कह सकते। उन्होंने उदाहरण में ही त्रुटि को निहित किया है, अतः जैसा कि प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का कथन है, यह एक अनुचित सामान्यीकरण है।"

पृ० ९७, नोट ९२

प्रोफेसर कोवेल मेरी उस व्याख्या से असहमत है जो मैंने उक्त नोट के बाद की पंक्तियों के आशय के सम्बन्ध में की है। उनका विचार है कि, जैसा कि 'व्यभिचारात्' शब्द से व्यक्त होता है, इसका आशय यह सूचित करना

है कि दो वैकल्पिक मान्यताओं में से प्रथम आवश्यकता से अधिक प्रमाणित कर देगी, क्योंकि यह ऐसे असम्बद्ध स्थलों तक के लिये प्रयुक्त हो सकती है जिनका यहाँ सन्दर्भ है और जिनका कर्त्ता यद्यपि कुछ व्यक्तियों को अज्ञात हो सकता है तथापि सर्वथा अज्ञात नहीं है, क्योंकि उसके समकालीन व्यक्ति, उसके वंशज और अन्य व्यक्ति भी, सम्भवत आज भी इस तथ्य से परिचित होंगे कि किसने उनकी रचना की। अतः ऐसी दशा में हमारे सम्मुख एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत हो जाता है जिसके कर्त्ता के सम्बन्ध में चाहे कुछ व्यक्ति न जानते हों, किन्तु वह अपौरुषेय नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि यही ठीक-ठीक व्याख्या है।

पृ० १०७, पंक्ति ९

शूद्रों के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने से सम्बद्ध तर्क ब्रह्मसूत्र १.३, ३४–३८ में मिलता है। यतः इस वर्ण के अनेक पाठकों को इस विषय में रुचि हो सकती है, अतः मैं इस समस्या के सम्पूर्ण विवेचन का उद्धरण दे रहा हूँ :

३४. "शुग् अस्य तद्-अनादर-श्रवणात् तद्-आद्रवणात् सूच्यते हि"। यथा मनुष्याधिकार-नियमम् अपोद्य देवादीनाम् अपि वीद्यास्व् अधिकारः उक्तस् तथैव द्विजात्य्-अधिकार-नियमापवादेन शूद्रस्य अप्य् अधिकार स्याद् इत्य एताम् आशङ्का निवर्त्तयितुम् इदम् अधिकरणम् आरभ्यते। तत्र शूद्रस्य अप्य् अधिकारः स्याद् इति तावत् प्राप्तम् अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्। तस्माच् "शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" इतिवच् छूद्रो विद्यायाम् अनवक्लृप्तः इति निषेधाश्रवणात्। यच् च कर्मस्व् अनधिकार-कारणं शूद्रस्य अनग्नित्वं न तद् विद्यास्व् अधिकारस्य अपवादकम्। न ह्य् आहवणीयादि-रहितेन विद्या वेदितु न शक्यते। भवति च लिङ्गं शूद्राधिकारस्य उपोद्बलकम्। सवर्गविद्याया हि जानश्रुतिम् पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्र-शब्देन-परामृशति "अह हारे त्वा शूद्र तव एव सह गोभिर् अस्त्व्" इति। विदुर-प्रभृतयश् च शूद्र-योनि प्रभवाः अपि विशिष्ट-विज्ञान-सम्पन्नाः स्मर्य्यन्ते। तस्माद् अधिक्रियते शूद्रो विद्यासु। इत्य् एवम् प्राप्ते ब्रूमः। न शूद्रस्य अधिकारो वेदाध्ययनाभावात्। अधीतवेदो हि विदित-वेदार्थो वेदार्थेष्व् अधिक्रियते। न च शूद्रस्य वेदाध्ययनम् अस्त्य् उपनयनपूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य उपनयनस्य च वर्ण-त्रयविषयत्वात्। यत् त्व् अर्थित्वं न तद् असति सामर्थ्येऽधिकार-कारणम् भवति। सामर्थ्यम् अपि न लौकिक केवलम् अधिकार कारणम् भवति

शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात् शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययन-निराकरणेन निराकृतत्वात्। यच् च इदं शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः इति तद् न्याय-पूर्वकत्वाद् विद्यायाम् अप्य् अनवक्लृप्तत्वं द्योतयति न्यायस्य साधारणत्वात्। यत पुनः संवर्ग-विद्यायां शूद्र-शब्द-श्रवणं लिङ्गम् मन्यसे न तल् लिङ्ग न्यायाभावात्। न्यायोक्तेर् हि लिङ्ग-दर्शनं द्योतकम् भवति न च अत्र न्यायोऽस्ति। काम च अयं शूद्र-शब्दः संवर्ग-विद्यायाम् एव एकस्यां शूद्रम् अधिकुर्य्यात् तद्-विषयत्वाद् न सर्वासु विद्यासु। अर्थवाद-स्थत्वात् न तु क्वचिद् अप्य् अयं शूद्रम् अधिकर्त्तुम् उत्सहते। शक्यते च अयं शूद्र-शब्दोऽधिकृत विषये योजयितुम्। कथम् इति। उच्यते। "'कम् उ अरे एनम् एतद् सन्त सयुग्वानम् इव रैक्कम् आत्थ' (छान्दोग्य उपनिषद् ४.१,३) इत्य् अस्माद् हंस-वाक्याद् आत्मनोऽनादरं श्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुग् उत्पेदे ताम् ऋषी रैक्कः शूद्र-शब्देन अनेन सूचयाम्बभूव आत्मनः परोक्ष-ज्ञानस्य ख्यापनाय इति गम्यते जाति-शूद्रस्य अनधिकारात्। कथम् पुनः शूद्र-शब्देन शुग् उत्पन्ना सूच्यते इति। उच्यते। तद् आद्रवणात् शुचम् अभिदुद्राव शुचा वाऽभिदुद्रुवे शुचा वा रैक्कम् अभिदुद्राव इति शूद्रावयवार्थ-सम्भवाद् रूढार्थस्य च असम्भवात्। दृश्यते च अयम् अर्थोऽस्याम् आख्यायिकायाम्।

३५. "क्षत्रियत्व-गतेश् च उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्" इतश् च न जाति-शूद्रो जानश्रुतिर् यत्-कारणम् प्रकरण-निरूपणेन क्षत्रियत्वम् अस्य उत्तरत्र चैत्ररथेन अभिप्रतारिणा क्षत्रियेण समभिव्याहारात् लिङ्गाद् गम्यते। उत्तरत्र हि सवर्ग-विद्या-वाक्यशेषे चैत्ररथिर् अभिप्रतारी क्षत्रियः सङ्कीर्त्यते। "अथ ह शौनक च कापेयम् अभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं सूदेन परिविश्यमानौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे" (छान्दोग्य उपनिषद् ४,३,५) इति। चैत्ररथित्व च अभिप्रतारिणः कापेय योगाद् अवगन्तव्यम्। कापेययोगो हि चैत्ररथस्य अवगतः। "एतेन वै चैत्ररथं कापेयाः अयाजयन्न्" इति समानान्वय-याजिनां च प्रायेण समानान्वयाः याजकाः भवन्ति। तस्माच् "चैत्ररथिर् नाम एकः क्षत्र-पतिर् अजायत" इति च क्षत्र-जातित्वावगमात् क्षत्रियत्वम् अस्य अवगन्तव्यम्। तेन क्षत्रियेण अभिप्रतारिणा सह समानायं विद्यायां सङ्कीर्त्तनं जानश्रुतेर् अपि क्षत्रियत्व सूचयति। समानानाम् एव हि प्रायेण समभिव्याहाराः भवन्ति। क्षत्तृ-प्रेषणाद्य्-ऐश्वर्य्य-योगाच् च जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतिः। अतो न शूद्रस्य अधिकारः।

३६. "संस्कार-परामर्शात् तद्-अभावाभिलापाच् च"। इतश् च न शूद्रस्या अधिकारो यद् विद्या-प्रदेशेषु उपनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते "तं ह उपनिन्ये।" "'अधीहि भगव' इति ह उपससाद"। "ब्रह्म-पराः ब्रह्म-निष्ठाः परम् ब्रह्म अन्वेषमाणाः 'एष ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति' इति ते ह समित्पाणयो भगवन्तम् पिप्पलादम् उपसन्नाः" इति च "तान् ह अनुपनीय एव" इत्य् अपि प्रदर्शिता एव उपनयन-प्राप्तिर् भवति। शूद्रस्य च संस्काराभावोऽभिलप्यते "शूद्रश् चतुर्थो वर्णः एक एकजातिर्" इति एकजातित्व-स्मरणेन "न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारम् अर्हति" इत्य्-आदिभिश् च।

३७. "तद्-अभाव-निर्धारणे च प्रवृत्तेः"। इतश् च न शूद्रस्य अधिकारो यत् सत्य-वचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतमः उपनेतुम् अनुशासितु च प्रववृते "न एतद् अब्राह्मणो विवक्तुम् अर्हति। समिधम् सोम्य आहर उप त्वा नेष्ये न सत्याद् अगाः" (छान्दोग्य उपनिषद् ४.४,५) इति श्रुति लिङ्गात्।

३८. "श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधात् स्मृतेश च"। इतश् च न शूद्रस्य अधिकारो यद् अस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधो भवति। वेद-श्रवण-प्रतिषेधो वेदाध्ययन-प्रतिषेधस् तद्-अर्थ-ज्ञानानुष्ठानयोस् च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवण-प्रतिषेधस् तावद् अथ अस्य "वेदम् उपशृण्वतस् त्रपु-जतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणम्" इति "पद्यु ह वै एतद् श्मशानं यत् शूद्रस् तस्मात् शूद्र-समीपे न अध्येतव्यम्" इति च। अतः एव अध्ययन-प्रतिषेधः। यस्य हि समीपेऽपि न अध्येतव्यम् भवति स कथं श्रुतिम् अधीयीयत। भवति च उच्चारणे जिह्वा-छेदो धारणे शरीर-भेदः इति। अतः एव च अर्थाद् अर्थ-ज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति। "न शूद्राय मतिं दद्याद्" इति "द्विजातीनाम् अध्ययनं इज्या दानम्" इति च। येषाम् पुनः पूर्व-कृत-संस्कार-वशाद् विदुर-धर्मव्याध-प्रभृतीनाम् ज्ञानोत्पत्तिस् तेषां न शक्यते फल-प्राप्तिः प्रतिबद्धुं ज्ञानस्य एकान्तिक-फलत्वात्। "श्रावयेच् चतुरो वर्णान्" इति च इतिहास-पुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्याधिकार-स्मरणात्। वेद-पूर्वकस् तु नास्त्य् अधिकारः शूद्राणाम् इति स्थितम् (ब्रह्मसूत्र १.३,३४-३८, और उस पर शाङ्करभाष्य)।

"३४ 'शूद्र' शब्द में उस अनादर का तात्पर्य है जो शूद्र शब्द से उसे सूचित किया गया और जिसे सुन कर वह (जानश्रुति रैक्व के पास) गया, इसलिये शूद्र कहा गया।' जैसे मनुष्य का ही विद्या में अधिकार है इस नियम का अपवाद करके देवता आदि का भी विद्या में अधिकार स्थापित किया

है, उसी प्रकार द्विजाति का ही विद्या में अधिकार है इस नियम के अपवाद से शूद्र का भी विद्या में अधिकार हो, इसी शंका की निवृत्ति के लिये इस अधिकरण का आरम्भ किया जाता है। पूर्वपक्ष : ब्रह्मविद्या में शूद्र का भी अधिकार है क्योंकि अर्थित्व और सामर्थ्य शूद्र में भी सम्भव है। 'तस्माच्छूद्रो' ('इसी लिये शूद्र यज्ञ में असमर्थ है,' तैसे० ७.१,१,६) के समान 'शूद्रो विद्यायाम' (शूद्र विद्या में असमर्थ है) इस प्रकार के निषेध का भी श्रवण नहीं हैं। कर्मों में शूद्र के अनधिकार का जो कारण अनग्नित्व है वह विद्याओं में उसके अधिकार का अपवाद नहीं कर सकता। आहवनीय आदि अग्नियों से रहित पुरुष विद्या का सम्पादन नहीं कर सकता ऐसी बात नहीं। श्रुति भी शूद्र के अधिकार का समर्थन करती है। सवर्गविद्या में श्रवण करने की इच्छा रखनेवाले पौत्रायण जानश्रुति का रैक्व ने 'अह हारेत्वा' ('अरे शुद्र, रथ',[१] हार, निष्क, और गायें तेरे ही पास रहें', छान्दोग्य उप० ४.२,३) इस प्रकार शूद्र

---

[१] भाष्कारो ने 'हारेत्वा' को इसी आशय मे ग्रहण किया है और इसे 'हर' (निष्क) और 'इत्वा' (रथ) से बना एक यौगिक शब्द माना है। किन्तु यद्यपि 'इत्वा' शब्द 'इत्वम्' का कर्तृवाच्य हो सकता है, तथापि 'रथ' के आशय मे इस प्रकार का कोई भी शब्द कोषो मे नही मिलता। साथ ही, यह यौगिक शब्द अत्यन्त अनुपयुक्त प्रतीत होता है। सम्भवत 'ह अरे त्वा' के रूप मे इस शब्द का विच्छेद कर देना चाहिये, किन्तु इस दशा मे एक तो 'अस्तु' का कोई कर्त्तवाच्य नही होगा, और दूसरे 'त्वा' की व्याख्या भी कठिन होगी। जब उक्त पक्तियाँ लिखी जा रही थी तब प्रोफेसर गोल्डस्टूकर से मुझे इस स्थल के सम्बन्ध मे अपनी एक टिप्पणी से अनुगृहीत किया। आपका अनुमान है कि इस शब्द को इस प्रकार विभक्त कर देना चाहिये 'अहह अरे त्वा शूद्र तव एव सह गोभिर् अस्तु', तथा 'त्वा' को वैदिक विशेषण 'त्व' का कर्तृवाच्य एक-वचन स्त्रीलिङ्ग माना जा सकता है, जिस दशा मे इस वाक्य का आशय इस प्रकार होगा हे मित्र! कोई स्त्री तुम्हारी है, हे शूद्र! उसे गायो के साथ रहने दो।' और ऐसा प्रतीत होता है कि जानश्रुति ने 'त्वा' शब्द को इसी आशय मे ग्रहण किया था, क्योंकि हम यह देखते हैं कि रैक के उत्तर को सुन कर वे अपनी पुत्री को चार सौ अतिरिक्त गायो तथा अन्य उपहारो के साथ उसके पास लाये, और इस कन्या को देखकर रैक ने अपना सन्तोष व्यक्त करते हुये उसके पिता के आग्रह को स्वीकार किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भ्रामक शब्दो के प्रयोगकर्त्ता का उद्देश्य केवल श्लिष्ट अर्थ व्यक्त करना ही था और शंकर ने सम्भवतः इसका केवल एक समाधान मात्र प्रस्तुत किया है।

शब्द से परामर्श किया है। स्मृति भी कहती है कि विदुर आदि शूद्र कुल में उत्पन्न होनेपर भी विशिष्ट विज्ञान से युक्त थे। इसलिये शूद्र का विद्या में अधिकार है। सिद्धान्ती : ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि वेदाध्ययन न होने के कारण शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, जिसने भली भांति वेद का अध्ययन किया हो और वेद का अर्थ जाना हो, उसी का वेदार्थ-विचार में अधिकार है। शूद्र तो वेद का अध्ययन कर ही नहीं सकता क्योंकि वेदाध्ययन उपनयनपूर्वक ही किया जा सकता है, और उपनयन केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का ही होता है। कामना रहने पर भी यदि सामर्थ्य न हो तो अधिकार की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल लौकिक सामर्थ्य ही अधिकार का कारण नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्रीय अर्थ में शास्त्रीय सामर्थ्य की ही अपेक्षा होती है, और अध्ययन के निराकरण से शास्त्रीय सामर्थ्य का भी निराकरण हो गया। 'शूद्रो यज्ञे' (शूद्र यज्ञ में असमर्थ है) ऐसा जो कहा गया है वह न्यायपूर्वक होने से विद्या में भी असामर्थ्य को सूचित करता है, क्योंकि न्याय साधारण है और संवर्ग विद्या में जिस शूद्र शब्द की श्रुति को पूर्वपक्षी ने लिङ्ग माना है वह वस्तुत. लिङ्ग नहीं है, क्योंकि अनुकूल न्याय नहीं है। लिङ्ग न्याय-संगत विषय का ही सूचक हो सकता है। यहाँ तो न्याय है ही नहीं। भले ही यह शूद्र शब्द केवल संवर्गविद्या में शूद्र के अधिकार का प्रतिपादन करे, क्योंकि शूद्र शब्द संवर्ग-विद्या में पठित है, परन्तु सब विद्याओं में अधिकार का प्रतिपादन नहीं कर सकता। वस्तुत. यह शूद्र शब्द अर्थवाद वाक्य में पठित होने के कारण किसी भी विद्या में शूद्र के अधिकार का प्रतिपादन नहीं कर सकता। और यह शूद्र शब्द अधिकारवाले पुरुष के विषय में अन्वित हो सकता है। किस प्रकार हो सकता है, यह बताते है : 'कम्बर एनमेत०' (शकटीयुक्त रैक्व के विषय में जो कहना चाहिये उसे इस साधारण मनुष्य के विषय में कैसे कहते हो ?,'[3] छान्दोग्य उप० ४. १, ३) इस हंसवाक्य से अपना अनादर

---

[3] इससे सम्भवतः उस व्यक्ति का तात्पर्य है जिसे एक रथ के नीचे बैठा हुआ कहा गया है (छान्दोग्य उप० ४ १, ८)। देखिये बाबू राजेन्द्रलाल मित्रा का अनुवाद, पृ० ६७। प्रोफेसर वेबर ने अपने इन्डिशे स्टूडियन, ९, ४५, नोट में भी इस कथा का उल्लेख किया है जहाँ वे 'सयुग्वन्' को एक व्यक्तिवाचक नाम मानते हुये यह मत व्यक्त करते हैं कि वेदान्तसूत्र (१ ३, ३४. ३५) वास्तव में इसकी व्याख्या को टाल देना चाहता है (जानश्रुति के एक शूद्र कहे जाने की स्थिति को) और सूत्र के अपने भाष्य मे तथा छान्दोग्य उपनिषद की व्याख्या मे शंकर ने भी यही किया है। फिर भी, मैं इस बात को निश्चित रूप से नहीं

सुनकर पौत्रायण जानश्रुति को शोक हुआ। इससे प्रतीत होता है कि रैक्व ने अपरोक्ष ज्ञान को बताने के लिये ही इस शूद्र शब्द से उसी शोक को सूचित किया, क्योंकि शूद्र जाति को अधिकार नहीं है। परन्तु राजा को उत्पन्न हुआ शोक शूद्र शब्द से किस प्रकार सूचित किया गया है, उसे बताते हुये कहते हैं कि उसके आद्रवण से। वह शोक की ओर अग्रसर हुआ अर्थात् शोकाक्रान्त हुआ, अथवा शोक ने उसपर आक्रमण किया, अथवा शोक से रैक्व के पास जाने से वह शूद्र कहा गया क्योंकि यहाँ पर यौगिक अर्थ ही सम्भव है[४] रूढ़ नहीं। इस आख्यायिका में यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है।

मान सकता कि रैक्क द्वारा जानश्रुनि के प्रति प्रयुक्त 'शूद्र' विशेषरण का केवल एक अनादरात्मक आशय नही है।

[४] इसका अर्थ यह है कि शूद्र शब्द 'शुच' (अनादर) और 'द्रु' (दौडना) से व्युत्पन्न हुआ है (देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग का नोट १९२)। ऐसा प्रतीत होता है कि महान् शकर तक इस प्रकार की व्युत्पत्तियो की असङ्गतियो को समझ पाने मे असमर्थ रहे। छान्दोग्य उपनिषद् के अपने भाष्य मे उन्होने यह बताया है कि इस स्थल पर व्यवहृत 'शूद्र' शब्द की विभिन्न व्याख्याये प्रस्तुत की गई हैं : ननु राजाऽसौ क्षतृ-सम्बन्धात्। "स ह क्षत्तारम् उवाच" (४. १, ५) इत्य् उक्तम्। विद्याग्रहणाय च ब्राह्मरणा-समीपोपगमात्। शूद्रस्य च अनधिकारात्। कथम् इदम् अननुरूप रैक्वेण उच्यते "शूद्र" इति। तत्र आहुर् आचार्य्या.। हस वचन-श्रवणात् शुग् एनम् आविवेश। तेन असौ शुचा श्रुत्वा रैक्कस्य महिमानं वा द्रवति इति। ऋषिर् आत्मनः परोक्षज्ञता दर्शयन् "शूद्र" इत्य् आह। शूद्र-वद् वाघनेन एव एनम् विद्या ग्रहणाय उपजगाय न शुश्रूषया। न तु जात्या एव शूद्र इति। अपरे पुनर् आहुर् अल्प धनम् आहृतम् इति रुषा एव एनम् उक्तवान् "शूद्र" इति। "किन्तु क्या जानश्रुति को एक राजा नही कहा गया है ? क्योकि (क) 'उसने अपने सारथि से कहा' इस स्थल पर उसके नाम को एक सारथि के साथ सम्बद्ध किया गया है, (ख) वह विद्या-ग्रहण करने के लिये ब्राह्मरण के पास गया, और (ग) शूद्र को ऐसा अधिकार नहीं होता। तब 'ओ शूद्र' शब्द के द्वारा रैक्क ने उसके लिये उस विशेषरण से सम्बोधित कैसे किया जिसकी इस स्थल के साथ असगति है ? आचार्यगरण इसका यह उत्तर देते हैं : 'हस-वचन के श्रवरण से अनादर (शुक्) ने उसे आविष्ट कर लिया जिसके परिरणाम स्वरूप अथवा रैक्क की महिमा को सुनकर (श्रुत्वा) वह दौड़ पडा (शूद्र यहाँ या तो 'शुचा + द्रवति' से अथवा 'श्रुत्वा + द्रवति' से व्युत्पन्न हुआ माना गया है), और ऋषि ने अपनी परोक्षज्ञता का परिचय

"३५. 'जानश्रुति क्षत्रिय है, यह इससे व्यक्त होता है कि आगे चित्ररथ के वंश में उत्पन्न हुये अभिप्रतारी नामक क्षत्रिय के साथ उसका कथन है।' इससे भी जानश्रुति जाति से शूद्र नहीं, क्योंकि प्रकरण के निरूपण से आगे क्षत्रिय चैत्ररथ अभिप्रतारी के साथ इसका निर्देश किया गया है, जिससे यह भी क्षत्रिय प्रतीत होता है। आगे संवर्ग-विद्या के वाक्यशेष में चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रिय का कथन है : 'अथ ह शौनकम्०' (जब कि शुनक के पुत्र कापेय और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी के लिये भोजन परोसा जा रहा था तब उनसे एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी', छान्दोग्य उप० ४.३,५)। अभिप्रतारी चैत्ररथ के वंश का था, और यह कापेय के सम्बन्ध से ज्ञात होता है—'एतेन वै चित्ररथं०' (इस द्विरात्रयज्ञ से कापेयों ने चैत्ररथ को यज्ञ कराया', ताण्ड्यब्रा० २०.१२,५) इससे चित्ररथ का कापेय के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। प्रायः समान वंशवाले समान वंशवालों के याजक होते हैं। 'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैक'० (चैत्ररथि नाम का क्षत्रपति चित्ररथ से जन्मा) इस प्रकार उसके क्षत्रपति प्रतीत होने से निश्चय होता है कि वह क्षत्रिय था। उस क्षत्रिय अभिप्रतारी के साथ समान विद्या में जानश्रुति का संकीर्तन उसके क्षत्रियत्व को सूचित करता है, क्योंकि प्रायः समानों का ही एक साथ निर्देश होता है। सारथि इत्यादि ऐश्वर्य के योग से भी प्रतीत होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था। इससे सिद्ध हुआ कि श्रौत-विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं है।

"३६. 'संस्कार का परामर्श होने के कारण और शूद्र के लिये इसके निषेध से'। और इससे भी शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि 'तं होपनिन्ये' ('उसका उपनयन किया', शतब्रा० ११.५,३,१३), 'अधीहि भगव०' ('हे भगवन्! मुझे उपदेश दीजिये', छान्दोग्य उप० ७.१,१), और 'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा०' ('पिप्पलाद हमारे सब सन्देहों को दूर करेंगे ऐसा निश्चय कर वेदों में पारंगत, ब्रह्मनिष्ठ, परमब्रह्म की खोज में रत छः ऋषि हाथ में[४] समिध लेकर

देने के लिये उसे 'शूद्र' कहा। विद्या ग्रहण करने के लिये वह ऋषि के पास शूद्र की भाँति उन्हें अप्रसन्न करते हुये गया उनकी सुश्रूषा करते हुये नहीं, जब कि वास्तव में वह जन्म से शूद्र नहीं था। पुनः अन्य लोगों का कथन है कि ऋषि ने क्रोध से उसे शूद्र कहा क्योंकि वह उनके लिये अत्यन्त अल्प धन लाया था।" बाबू राजेन्द्रलाल मित्रा ने भी इस स्थल का अनुवाद किया है और 'वाधनेन' को (जिसका मैंने 'अप्रसन्न करते हुये' अर्थ माना है) शिक्षा के लिये 'मूल्य चुकाने' के अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु इसके इस आशय के लिये मुझे कोई प्रमाण नहीं मिल सका।

भगवान पिप्पलाद के पास गये', प्रश्न उ० १.१), आदि इस प्रकार विद्याओं के प्रकरण में उपनयन आदि संस्कारों का कथन है। 'तान् हानु०' ('उनका उपनयन किये विना ही', छान्दोग्य उप० ५.११,७) में भी उपनयन की प्राप्ति दिखाई ही गई है। शूद्र के संस्कार नहीं होते यह भी कहा गया है। 'शूद्रश्चतुर्थो०' ('शूद्र चतुर्थ वर्ण एवं उपनयन रहित है', मनु० १०.४) इस प्रकार की स्मृति में उसे एक जाति कहा गया है। 'न शूद्रे पातकं०' ('शूद्र में कुछ पाप नहीं और वह संस्कार के योग्य नहीं है', मनु० १०.१२६) इत्यादि से भी संस्कारों के अभाव का अभिधान है।[५]

"३७. 'सत्य वचन से यह निश्चित हो जाने पर कि वह (जाबाल) शूद्र नहीं है, वे (गौतम) उसे विद्या का उपदेश देने में प्रवृत्त हुये।' और इससे भी शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि सत्य बोलने से शूद्रत्व' के अभाव का निश्चय होने पर गौतम जाबाल का उपनयन करने और उसे विद्या का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त हुये, क्योंकि 'नैतदब्राह्मणे'० ('ब्राह्मणेतर इतनी सरलता से सत्यवचन नहीं बोल सकता, हे सौम्य! समिध लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा, तुम सत्य से विचलित नहीं हुये', छान्दोग्य उप० ४.४,५) ऐसी श्रुति है।[६]

---

[५] यह अन्तिम श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थ के भाग एक के २४४ वे नोट मे भी उद्धृत किया जा चुका है।

[६] आशय की व्याख्या करने के लिये तथा प्राचीन भारतीय प्रणालियो का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये मैं उस स्थल के आरम्भिक भागो को पूरी तरह उद्धृत करूँगा जिनसे ये शब्द लिये गये हैं: छान्दोग्य उपनिषद् ४ ४ १: सत्यकामो ह जाबालो जबालाम् मातरम् आमन्त्रयाञ्चक्रे "ब्रह्मचर्य्यम् भवति विवत्स्यामि किं-गोत्रो न्व् अहम् अस्मि" इति। २. सा ह एनम् उवाच "न अहम् एतद् वेद तात् यद् गोत्रस् त्वम् असि। बह्व् अहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वाम् अलभे। साऽहम् एतद् न वेद यद्-गोत्रस् त्वम् असि। जबाला तु नाम अहम् अस्मि सत्यकामो नाम त्वम् असि। स सत्यकाम एव जाबालोऽब्रवीथाः" इति। "जबाल के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला को सम्बोधित करते हुये कहा, 'हे माता! मैं वेदाध्ययन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत लेना चाहता हूँ। मेरा गोत्र (देखिये मूलर ऐ० सं० लि० पृ० ३७८ और बाद) क्या है?' माता ने कहा, 'हे पुत्र मैं यह नही जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। दूसरो की सेवा-परिचर्या करते हुये युवावस्था मे मैंने तुम्हे प्राप्त किया। मैं यह नही जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। किन्तु मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम। अत. तुम कहना कि तुम जबाला के पुत्र सत्यकाम हो।'" तदनुसार उसने

"३८. 'और इसलिये कि स्मृति के अनुसार शूद्र के लिये वेद के श्रवण, अध्ययन और अर्थज्ञान का निषेध किया गया है।' इससे भी शूद्र का विद्या में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके लिये श्रवण, अध्ययन, और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिये वेद के श्रवण, वेद के अध्ययन, और वेदार्थ के ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। 'अथास्य वेदमुप०' ('समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के दोनों कानों को सीसे और लाह से भर दे') और 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं'० (शूद्र नि.सन्देह जङ्गम श्मशान

गोतमवशी हारिद्रुमत के पास जाकर अपने को ब्रह्मचारी के रूप मे ग्रहण करने के लिये कहा। गुरु ने जब उसका गोत्र पूछा तब युवक ने शब्दश अपनी माता के कथन को दुहराते हुये कहा कि वह जबाला का पुत्र सत्यकाम है। गुरु ने शकर द्वारा उद्धृत इन शब्दो मे उत्तर दिया · "ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति स्पष्टत· इतना सत्यभाषी नही हो सकता'॥ इत्यादि। ऊपर द्वितीय स्थल की व्याख्या इसके ठीक-ठीक आशय को व्यक्त करती प्रतीत होती है। प्रत्यक्षत जबाला यह स्वीकार करती प्रतीत होती है कि उसका पुत्र सकर था और यह कि पुत्र को केवल उसी का पुत्र कह लेने मात्र से सतुष्ट हो जाना चाहिये, क्योकि वह नही जानती कि उसका पिता कौन था। 'वह्व् अह चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वाम् अलभे' आदि शब्दो की भाष्यकारो द्वारा की गई व्याख्या, जिसका बाबू राजेन्द्रलाल मित्रा ने भी अनुसरण किया है, यह है कि वह अपने पति के गृह मे आने वाले अतिथियो के आतिथ्य-सत्कार मे इतनी रत रहती थी और इतनी अधिक सेवा-परायण थी कि उसने अपने पुत्र के गोत्र के सम्बन्ध मे पूछने का विचार तक नहीं किया और उसके पति की भी अल्पायु मे ही मृत्यु हो गई थी। यह व्याख्या प्रमुखत· 'परिचारिणी' शब्द पर ही आधारित है और जबाला द्वारा अपने पति के नाम (जिसका वह उल्लेख नही करती) अथवा उसकी वश-परम्परा से अनभिज्ञ होने के तथ्य का समाधान नहीं करती। 'चरन्ती' शब्द के आशय के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग मे उद्धृत शतपथ ब्राह्मण (२ ५,२, २०) के स्थल को देखिये। शकर या तो प्राचीन नैतिकता की शिथिलता से अनभिज्ञ थे अथवा दिव्यज्ञान प्राप्त करने वाले सत्यकाम जैसे ऋषि की सकर उत्पत्ति पर आवरण डालना चाहते थे (देखिये छान्दोग्य उपनिषद् ४ १०,१)। फिर भी, अपनी भूमिका के पृ० ३० पर, जैसा कि मैंने देखा है, बाबू राजेन्द्रलाल ने इन शब्दो मे सत्यकाम को एक वैध-पुत्र कहा है "यद्यपि ऐसे वैधपुत्र जिनके पिता अज्ञात थे, और जिन्हे अपनी माता जबाला के नाम के आधार पर जाबाल नाम दिया गया था,॥ इत्यादि।

है, इसलिये शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये) इस प्रकार श्रवण का निषेध है। इसी से अध्ययन का निषेध भी सिद्ध होता है, क्योंकि जिसके समीप भी अध्ययन करना युक्त नहीं, वह अश्रुत का अध्ययन किस प्रकार कर सकता है ? यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिये, यदि वेद को याद करे तो उसके शरीर के टुकडे टुकड़े कर देने चाहिये, ऐसी भी स्मृति है। इसी हेतु से, अर्थात् शूद्र के लिये अर्थज्ञान और अनुष्ठान का भी निषेध होता है—'न शूद्राय०' (ब्राह्मण को चाहिये कि शूद्र को वेदार्थ का ज्ञान न दे) और 'द्विजातीना'० (केवल द्विजों के लिये ही अध्ययन, यज्ञ, और दान का विधान है)। परन्तु विदुरधर्मव्याध आदि, जिनको पूर्वकर्म के संस्कारों से ज्ञान उत्पन्न हुआ था, उनके लिये फलप्राप्ति का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान अव्यभिचरित फल उत्पन्न करता है। 'श्रावयेच्च'० (चारों वर्णों को सुनावे) इस प्रकार स्मृति इतिहास और पुराण का ज्ञान प्राप्त करने में चारों वर्णों का अधिकार बताती है। इससे सिद्ध हुआ कि वेदाध्ययनपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने का शूद्र को अधिकार नहीं है।"

भगवद्गीता के निम्न श्लोक में एक भिन्न सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया गया है, जहाँ कृष्ण कहते हैं :

३२. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पाप-योनयः। स्त्रियो वैश्यास् तथा शूद्रस् तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३३. किम् पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः राजर्षयस् तथा ॥ भगवद्गीता, ९. ३२-३३ ॥

"हे पार्थ ! स्त्री, वैश्य, और शूद्र जैसे पापयोनि के लोग भी मेरी शरण में आकर उत्तम गति को प्राप्त कर लेते हैं। फिर जो पुण्ययोनि ब्राह्मण और राजर्षि हैं उनका तो कहना ही क्या।"

शंकर इस तथ्य से कदाचित ही अनभिज्ञ रहे हो सकते हैं कि उनके उक्त सिद्धान्त की इस ग्रन्थ (भगवद्गीता) के साथ संगति नहीं है, किन्तु उन्होंने दृष्टिकोणों के इस अन्तर की उपेक्षा करना ही उपयुक्त समझा, क्योंकि एक अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखे जानेवाले ग्रन्थ के सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रतिवाद करने में उन्हें सकोच का अनुभव हुआ होगा।

इसी विषय पर शाण्डिल्य के मत के विवरण को भी देखिये जिसका मैंने ऊपर पृ० १८६ पर उल्लेख किया है।

पृ० ११३ पंक्ति ५.

निम्न उद्धरण इस विषय के विवेचन को और आगे बढ़ाता है और ऊपर

पृ० ९, और पृ० १६, के विवेचनों को स्पष्ट करने में भी इससे सहायता मिलेगी।

समान-नाम-रूपत्वाच् च आवृत्ताव् अप्य् अविरोधो दर्शनात् स्मृतेश् च"। अथापि स्यात्। यदि पश्व-आदि-यद् देव-व्यक्तयोऽपि सन्तत्या एव उत्पद्येरन् निरुध्येरंश् च ततोऽभिधानाभिधेयाभिधातृ-व्यवहाराविच्छेदात् सम्बन्ध-नित्यत्वेन विरोधः शब्दे परिह्रियेत। यदा तु खलु सकल त्रैलोक्यम् परित्यक्त-नाम-रूप निर्लेपम् प्रलीयते प्रभवति च अभिनवम् इति श्रुति-स्मृति-वादाः वदन्ति तदा कथम् अविरोधः इति। तत्र इदम् अभिधीयते "समान-नाम-रूपत्वाद्" इति। तदाऽपि संसारस्य अनादित्वं तावद् अभ्युपगन्तव्यम्। प्रतिपादयिष्यति च आचार्य्यः संसारस्य अनादित्वम् "उपपद्यते च अप्य् उपलभ्यते च" इति (ब्रह्मसूत्र २.१,३६)। अनादौ च ससारे यथा स्वाप-प्रबोधयोः। प्रलय-प्रभव-श्रवणोऽपि पूर्व-प्रबोध-वद् उत्तर-प्रबोधेऽपि व्यवहाराद् न कश्चिद् विरोधः। एव कल्पान्तर-प्रभव-प्रलययोर् अपि इति द्रष्टव्यम्। स्वाप-प्रबोधयोश् च प्रलय-प्रभवौ श्रूयेते। "यदा सुप्तः स्वप्न न कञ्चन पश्यत्य् अथ अस्मिन् प्राण एव एकधा भवति तदा एन वाक् सर्वैर् नामभिः सह अप्येति चक्षुः सर्वैः रूपैः सह अप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सह अप्येति मनः सर्वैर ध्यानैः सह अप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर् ज्वलतः सर्वाः दिशो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्न् एवम् एव एतस्माद् आत्मन सर्वे प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः (कौशिक ब्रह्म० उत्त० आ० ३,३) इति। स्याद् एतत्। स्वापे पुरुषान्तर-व्यवहाराविच्छेदात् स्वयं च सुपुप्त-प्रबुद्धस्य पूर्व-प्रबोध-व्यवहारानुसन्धान-सम्भवाद् अविरुद्धम्। महाप्रलये तु सर्व-व्यवहारोच्छेदाज् जन्मान्तर-व्यवहार-वच् च कल्पान्तर-व्यवहारस्य अनुसन्धातुम् अशक्यत्वाद् वैषम्यम् इति। न एष दोषः। सत्य् अपि सर्व-व्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहाद् ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीना कल्पान्तर-व्यवहारानुसन्धानोपपत्तेः यद्यपि प्राकृताः प्राणिनो न जन्मान्तर-व्यवहारम् अनुसन्धानाः दृश्यन्ते इति न तत् प्राकृत-वद् ईश्वराणाम् भवितव्यम्। यथा हि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादि- स्तम्ब-पर्य्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्य्यादि-प्रतिबन्धः परेण परेण भूयान् भवन् दृश्यते तथा मनुष्यादिष्व् एव हिरण्यगर्भ-पर्यन्तेपु ज्ञानैश्वर्य्याद्य्-अभिव्यक्तिर् अपि परेण परेण भूयसी भवति इत्य् एतत् श्रुति-स्मृति-वादेष्व् असकृद् एव अनुकल्पादौ प्रादुर्भवताम् पारमैश्वर्य्यम् श्रूयमाण न शक्यं नास्ति इति वदितुम्।

ततश् च अतीत-कल्पानुष्ठित-प्रकृष्ट-ज्ञान-कर्मणाम् ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्त्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवताम् परमेश्वरानुगृहीताना सुप्त-प्रतिबुद्धवत् कल्पान्तर-व्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः । तथा च श्रुतिर् "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश् च प्रहिणोति तस्मै । त ह् देवम्-आत्म-बुद्धि-प्रकाशम् मुमुक्षुर् वै शरणम् अहम् प्रपद्ये" (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.१८) इति । स्मरन्ति च शौनकादयो मधुछन्दः-प्रभृतिभिर् दाशतय्यो दृष्टाः इति । प्रतिवेद च एवम् एव काण्डर्ष्य्-आदयः स्मर्य्यन्ते । श्रुतिर् अप्य् ऋषि-ज्ञान-पूर्वकम् एव मन्त्रेण अनुष्ठान दर्शयति "यो ह वै अविदितार्षेय-छन्दो-दैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं च ऋच्छति गर्त्तं वा प्रपद्यते" इत्य् उपक्रम्य "तस्माद् एतानि मन्त्रे विद्याद्" इति प्राणिनां च सुख-प्राप्तये धर्मो विधीयते दु ख-परिहाराय अधर्मः प्रतिषिध्यते । दृष्टानुश्रविक-दुःख-सुख-विषयौ च राग-द्वेषौ भवतो न विलक्षण-विषयाव् इत्य् अतो धर्माधर्म-फलभूतोत्तरोत्तरा सृष्टिर् निष्पद्यमाना पूर्व-सृष्टि-सदृश्य् एव निष्पद्यते । स्मृतिश् च भवति "तेषा ये यानि कर्माणि प्राक्-सृष्ट्याम् प्रतिपेदिरे । तान्य् एव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः । हिंस्राहिंस्रे मृदु-क्रूरे धर्माधर्माव् ऋतानृते । तद्-भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते" । इति । प्रलीयमानम् अपि च इदं जगत् शक्त्य्-अवशेषम् एव प्रलीयते शक्ति-मूलम् एव च प्रभवति इतरथा आकस्मिकत्व-प्रसङ्गात् । न च अनेकाकाराः शक्तयः शक्या. कल्पयितुम् । ततश् च विच्छिद्य विच्छिद्य अप्य् उद्भवताम् भूर्-आदि-लोकप्रवाहाणां देव-तिर्यङ्-मनुष्य-लक्षणानां च प्राणि-निकाय-प्रवाहाणां वर्णाश्रम-धर्म-फल व्यवस्थानां च अनादौ संसारे नियतत्वम् इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध-नियतत्व-वत् प्रत्येतव्यम् । न हि इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धादेर् व्यवहारस्य प्रति सर्गम् अन्यथात्व षष्ठेन्द्रिय-विषय-कल्प शक्यम् उत्प्रेक्षितुम् अतश् च सर्व-कल्पाना तुल्य-व्वहारत्वात् कल्पान्तर-व्यवहारानुसन्धान-क्षमत्वाच् च ईश्वराणां समान-नाम-रूपः एव प्रतिसर्गं विशेषाः प्रादुर्भवन्ति समान-नाम-रूपत्वाच् च आवृत्ताव् अपि महासर्गमहाप्रलय-लक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच् छन्द-प्रमाण्यादि-विरोधः । समान-नाम-रूपता च-श्रुति-स्मृति दर्शयतः सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथा-पूर्वम् अकल्पयत् । दिव च पृथिवीं चान्तरीक्षम् अथो स्वः" । इति । यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्या-चन्द्रमः-प्रभृति जगत् क्लृप्तं तथाऽस्मिन्न् अपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयद् इत्य् अर्थ. । तथा "अग्निर् वै अकामयत् 'अन्नादो देवानां स्याम्' इति स एवम् अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशम् अष्टकपालं निरवपद्"

इति नक्षत्रेष्टि-विधौ योऽग्निर् निरवपद् यस्मै वाग्नये निरवपत् तयोः समान-नाम-रूपता दर्शयति-इत्य-एवं-जातीयका श्रुतिर् उदाहर्त्तव्या। स्मृतिर् अपि "ऋषीणां नामधेयानि याश् च वेदेषु दृष्टयः। सर्वर्य्य-अन्ते प्रसूतानां तान्य् एवैभ्यो ददात्य् अजः। यथर्ताव् ऋतु-लिङ्गानि नाना-रूपाणि पर्य्यये। दृश्यन्ते तानि तान्य् एव तथा भावाः युगादिषु। यथाऽभिमानिनोऽतीतास् तुल्यास् ते साम्प्रतैर् ’इ। देवाः देवैर् अतीतैर् हि रूपैर् नामभिर् एव च" इत्य् एवं-जातीयका द्रष्टव्या (ब्रह्मसूत्र १.३,३० और उस पर शाङ्करभाष्य)।

"३० 'सृष्टि-प्रलय की प्रवाह-परम्परा के चलते रहने पर भी उत्तर कल्प के समान ही नाम, रूप[७] होने के कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनित्यता-रूप विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि यह श्रुति और स्मृतियों के द्वारा सिद्ध हो जाता है।'

"यह होता। यदि पशु आदि व्यक्तियों के समान देवता आदि व्यक्तियों के भी उद्भव और लय अविच्छिन्न होते, तो नाम, विषय, और वक्ता के व्यवहार का विच्छेद न होने के कारण सम्बन्ध नित्य रहने से शब्दों में विरोध का परिहार हो जाता; परन्तु जब श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कहती हैं कि सकल त्रैलोक्य नाम और रूप[८] का परित्याग करके समूल

[७] प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का मत है कि यहाँ और अन्यत्र भी इन शब्दो (नाम-रूप) का 'पदार्थ और रूप' अनुवाद करना चाहिये। देखिये एम०-बरनोफ के ल० बु० पृ० ५०२ पर इस विषय पर उनकी टिप्पणी।

[८] इस सूत्र पर गोविन्दानन्द की टिप्पणी हमारे सामने है और शकर का भाष्य ऊपर दिया जा चुका है "ननु महाप्रलये जातेर् अप्य् असत्त्वात् शब्दार्थ-सम्बन्धानित्यत्वम् इत्य् आशङ्क्य आह "समान" इति। सूत्र निरस्य आशकाम् आह "अथापि" इति। व्यक्ति-सन्तत्या जातीनाम् अवान्तर प्रलये सत्वात् सम्बन्धस् तिष्ठति व्यवहाराविच्छेदाज् ज्ञायेत च इति वेदस्य अनपेक्षत्वेन प्रमाण्ये न कश्चिद् विरोध स्यात् 'निर्लेप-प्रलये तु सम्बन्ध-नाशात् सृष्टौ केनचित् पुंसा सकेतः कर्त्तव्य इति पुरुष-बुद्धि सापेक्षत्वेन वेदस्य अप्रामाण्यम् अव्यापकस्य आश्रयस्य नाशाद् आश्रितस्य अनित्यत्व च प्राप्तम् इत्य् अर्थ। महाप्रलयेऽपि निर्लेप-लयोऽसिद्ध सत्-कार्य्यवादात्। तथा च संस्कारात्मना शब्दार्थ-तत्-सम्बन्धाना सताम् एव पुन. सृष्टाव् अभिव्यक्तेर् न अनित्यत्वम्। अभिव्यक्ताना पूर्व-कल्पीय-नाम-रूप समानत्वाद् न सकेत केनचित् कार्य्य। विषम-सृष्टौ हि सकेतापेक्षा न तुल्य सृष्टाव् इति परिहरति "तत्र इदम्" इत्य आदिना। अर्थात्

नष्ट हो जाता है तथा उसके बाद पुन. उत्पन्न होता है, तब अवरोध किस प्रकार हुआ? ऐसी शंका होती है। इस पर कहते हैं: 'समान नाम रूपवाद' इत्यादि। तब भी संसार को अनादि मानना ही चाहिये। और आचार्य, 'उपपद्यते' सूत्र में संसार की अनादिता का प्रतिपादन करेंगे। संसार को अनादि मानने पर सुषुप्ति तथा जाग्रतावस्था में प्रलय तथा उत्पत्ति के होने पर भी जैसे पूर्व जाग्रतावस्था के समान उत्तर जाग्रतावस्था में व्यवहार होने में कोई विरोध नहीं होता, उसी प्रकार पूर्व कल्प के लय और उत्तर कल्प की उत्पत्ति में भी वेद-नित्यत्व में कोई विरोध नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। सुषुप्ति तथा जाग्रतावस्था में संसार के प्रलय और उद्भव का श्रुति में उल्लेख है: 'यदा सुप्तः न कंचन स्वप्न०' ('जब सुप्त पुरुष कुछ भी स्वप्न नहीं देखता तब वह उस प्राण में ही एकरस हो जाता है, तब वाणी सब नामों के साथ प्राण में लीन हो जाती है, नेत्र सब रूपों के साथ उसमें ही लीन हो जाते हैं, कान सब शब्दों के साथ उसमें लीन हो जाते हैं, और मन सब विचारों के साथ उसमें लीन हो जाता है; जब वह जागता है तब जलती हुई अग्नि से जैसे चिनगारियां सब दिशाओं में जाती है, उसी प्रकार इस आत्मा

"परन्तु महाप्रलय मे जाति के भी नष्ट हो जाने से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य हो जायगा, ऐसी आशंका करके कहते हैं—'समान' इत्यादि से। सूत्र से हटाई जाने वाली शंका को कहते हैं—'अथापि' इत्यादि से। अवान्तर प्रलय मे व्यक्ति के सतत-अविच्छिन्न होने से जाति भी रहती है, इसलिये उनका सम्बन्ध भी रहता है और व्यवहार का विच्छेद न होने से सम्बन्ध का ज्ञान भी होता है। इसलिये वेद की अन्यान्यपेक्ष प्रमाणता मे कोई विरोध नही होता। परन्तु महाप्रलय मे उस सम्बन्ध का विच्छेद हो जाने से पुन सृष्टि होने पर सकेत करने वाले किसी पुरुष की अपेक्षा होती है। ऐसी कल्पना मे पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा रखने के कारण वेद अप्रमाण हो जायेंगे। अव्यापक रूप आश्रय का नाश होने से उस आश्रय मे रहने वाले वेद भी अनित्य हो जायेगे ऐसा तात्पर्य है। महाप्रलय मे भी जगत् का समूल नाश नही हो सकता, क्योकि सत्कार्यवाद माना गया है। इसलिये सस्कार रूप से शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध रहते ही हैं, पुनः सृष्टि मे उन्ही की अभिव्यक्ति होती है, अत वेद अनित्य नही है। अभिव्यक्त पदार्थ पूर्वकल्पस्थित नाम-रूप के समान नाम-रूप वाले ही हैं, अतः किसी मनुष्य के सकेत की आवश्यकता नही है। यद्यपि विषम सृष्टि मे सकेत की आवश्यकता होती है, तो भी समान सृष्टि मे उसकी कोई आवश्यकता नही है, इस प्रकार परिहार करते हैं—"तत्रेदम्" इत्यादि से।

से ये सब प्राण निकल कर अपने-अपने स्थान में प्रकट हो जाते हैं, प्राणों के पश्चात् देवता और देवताओं के पश्चात् लोक प्रकट होते हैं, कौ० ३.३)। परन्तु सुषुप्ति में अन्य पुरुषों का व्यवहार विच्छिन्न नहीं होता, और स्वयं सुषुप्ति से जाग्रत होने पर पूर्व की जाग्रतावस्थाओं के व्यवहारों को स्मरण करता है, इसलिये विरोध नहीं है। महाप्रलय में तो सब व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है, इसलिये अन्य जन्म के व्यवहारों के समान अन्य कल्प के व्यवहारों का स्मरण नहीं हो सकता, इसलिये विषमता है, ऐसी यदि शङ्का हो तो यह दोष नहीं है। जिसमें सब व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है, ऐसा महाप्रलय यदि मान भी लिया जाय, तो भी परमेश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को अन्य कल्प के व्यवहार का स्मरण हो सकता है। यद्यपि प्राकृत प्राणी अन्य जन्म के व्यवहारों का स्मरण करते नहीं दिखाई देते, तथापि ईश्वरों को भी प्राकृतों के ही समान समझ लेना चाहिये। सभी के प्राणी होने पर भी जैसे मनुष्य आदि से लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणियों में ज्ञान, ऐश्वर्य, आदि का प्रतिबन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, वैसे ही मनुष्य आदि से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त ज्ञान, ऐश्वर्य आदि की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर अधिक होती रहती है, ऐसा श्रुति और स्मृति के वचनों से बारम्बार अभिव्यक्त होता है, अत इसका अपलाप नहीं कर सकते। इसलिये विगत कल्प में जिन्होंने सर्वोत्तम ज्ञान और कर्मों का अनुष्ठान किया है, और वर्तमान कल्प के आरम्भ में जो प्रादुर्भूत हुये हैं, उन हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों को परमेश्वर के अनुग्रह से सुषुप्ति से जाग्रत हुये पुरुष के समान अन्य कल्प के व्यवहारों का स्मरण होना युक्त है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणं विदधाति'० ('पूर्व में जो ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसकी बुद्धि में वेदों का आविर्भाव कराता है, मुमुक्षु मैं, स्वात्मरूप से बुद्धि में प्रकाशमान उस देवता की शरण में जाता हूँ', श्वेत० ६. १८) ऐसी श्रुति है। और 'मधुच्छन्द. प्रभृतिभि०' ('मधुच्छन्द आदि ऋषियों ने दस मण्डलवाले ऋग्वेद की ऋचायें देखीं') इस प्रकार शौनक आदि का भी कथन है। प्रत्येक वेद में भी इसी प्रकार काण्ड, ऋषि आदि का स्मरण है। 'यो ह वा अविदितार्षेय०' ('जिसके ऋषि, छन्द, देवता, और विनियोग का ज्ञान नहीं है, ऐसे मन्त्र से जो यज्ञ कराता है या अध्यापन करता है, वह स्थावर हो जाता है अथवा नरक में जाता है) ऐसा उपक्रम करके 'तस्मादेतानि'० (इसलिये प्रत्येक मंत्र में ऋषि आदि को जानना चाहिये) इस प्रकार की श्रुति भी ऋषिज्ञानपूर्वक ही मन्त्र से अनुष्ठान दिखाती है।[१] और प्राणियों

---

[१] ऋषियों के सम्बन्ध में शंकर की इस टिप्पणी के अभिप्राय को गोविन्द

को सुख की प्राप्ति हो, इसलिये धर्म का विधान और दुःख के परिहार के लिये अधर्म का प्रतिषेध है। ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-दुःख में राग और द्वेष होते हैं, अन्य विषय में नहीं। इसलिये धर्म और अधर्म की फलभूत जो उत्तरोत्तर सृष्टि उत्पन्न होती जाती है, वह पूर्व सृष्टि के समान ही होती है। 'तेषां ये यानि'० ('प्राणियों में से जिसने जो कर्म प्रथम सृष्टि में किये उन्हीं कर्मों को वे पुनः-पुनः उत्पन्न होकर प्राप्त करते हैं', महाभारत १२.२२,१६) और 'हिंस्राहिंस्रे'० ('हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, जिन कर्मों से वासित होते हैं, उत्पन्न होकर उन्हीं को प्राप्त करते हैं और वे ही उनको रुचते हैं', महाभारत ११ २३२,१७) ऐसी स्मृति भी है।[१०] जगत का नाश होने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। उसी शक्ति से वह पुनः उत्पन्न होता है। अन्यथा जगत् की सृष्टि निष्कारण हुई है ऐसा अनिष्टकर प्रसंग हो जायगा। शक्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिये पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाले भू आदि लोक, देव, पशु, और मनुष्य रूप प्राणियों का प्रवाह, वर्ण, आश्रम, धर्म, और फल की व्यवस्थायें भी अनादि संसार में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध के समान नियत हैं, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि छठवीं इन्द्रिय (मन) के विषय के समान प्रत्येक सृष्टि में इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से होनेवाले व्यवहार के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। इस कारण से—सब कल्पों में एक समान व्यवहार होने से और हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरों के अन्य कल्प के व्यवहार का स्मरण करने में समर्थ होने से प्रत्येक सृष्टि में समान नाम और रूप वाले ही भिन्न-भिन्न व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। नाम और रूपों के समान होने से महासृष्टि और महाप्रलयस्वरूप जगत् की आवृत्ति स्वीकार करने में भी शब्द प्रामाण्य आदि में कोई भी विरोध नहीं होता। श्रुति तथा स्मृति भी सब कल्पों में नाम और रूप की समानता दिखलाती है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'०

आनन्द ने इस प्रकार व्याख्या की है : "किञ्च मन्त्राणाम् ऋष्य्-आदि-ज्ञानावश्य-कत्व ज्ञापिका श्रुतिर् मन्त्र-दृग्-ऋषीणा ज्ञानातिशय दर्शयति इत्य् आह। ' तथा च ज्ञानाधिकै' कल्पान्तरितं वेदं स्मृत्वा व्यवहारस्य प्रवर्तितत्वाद वेदस्य अनादि-त्वम् अनपेक्षत्व च अविरुद्धम् इति भाव.।" अर्थात् : "मन्त्रो के ऋषि आदि का ज्ञान आवश्यक है, ऐसा व्यक्त करती हुई श्रुति मन्त्र-द्रष्टा ऋषि के अतिशय ज्ञान का दिग्दर्शन कराती है। "इसीलिये उत्कृष्ट ज्ञानवाले अन्य कल्प मे अन्तर्हित वेद का भी स्मरण कर के उसका प्रवर्तन करते हैं, इसीलिये वेद का अनादित्व और अनपेक्षत्व अक्षत है, ऐसा भाव है।"

[१०] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग।

(ब्रह्मा ने पूर्व कल्प के समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष, और स्वर्ग की रचना की', ऋग्वेद १०.१९०,३) इस प्रकार की श्रुति का अर्थ यह है कि ब्रह्मा ने, पूर्वकल्प में सूर्य, चन्द्र, आदि, जगत की जैसी कल्पना की थी वैसी ही इस कल्प में भी उनकी कल्पना है। इसी प्रकार 'अग्निर्वा अकामयत'० (यजमान ने कामना की कि मैं देवों का अन्न भक्षक होऊँ। उसने कृत्तिका[11] नक्षत्रों के अभिमानी अग्नि के लिये आठ कपालों में रचित पुरोडाश का अर्पण किया', तैब्रा० ३.१,४,१) यह श्रुति, नक्षत्रयज्ञ-विधि में जिस अग्नि ने जिस अग्नि के लिये अर्पण किया, उन दोनों के नाम और रूप की समानता को दिखाती है, और इसी प्रकार की दूसरी श्रुतियों का उदाहरण देना चाहिये। 'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः०' ('ऋषियों के जो नाम थे और वेद की जो शक्ति थी, पुनः प्रलय[12] के अन्त में अज ने उन्हीं नामों और शक्तियों को उन्हें दिया।[13] जैसे भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न उनके चिह्न होते हैं, और वे उन ऋतुओं के आने पर दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार युगादि[14] में पदार्थ दिखाई देते हैं। चक्षुरादि इन्द्रियों के अभिमानी अतीत देवताओं के समान ही इदानीन्तन देवता हैं और अतीत देवताओं के रूप और नाम के समान ही उनके रूप तथा नाम भी हैं) इस प्रकार की स्मृति भी प्रमाण-रूप देखनी चाहिये।"

अब मैं ब्रह्मसूत्र २.१,३६ पर शंकर के भाष्य के एक अंश का उद्धरण दूँगा जिसमें जगत् की नित्यता को दर्शाया गया है :

"उपपद्यते च उपलभ्यते च"। "उपपद्यते च" संसारस्य अनादित्यम्। आदिमत्त्वे हि संसारस्य अकस्माद् उद्भूतेर् मुक्तानाम् अपि पुनः संसारोद्भूति-प्रसङ्गः। अकृताभ्यागम-प्रसङ्गश् च सुख-दुखादि-वैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्। न च ईश्वरो वैषम्य-हेतुर् इत्य् उक्तम्। न च अविद्या केवला वैषम्यस्य कारणम् एकरूपत्वात्। रागादि-क्लेश-वासनाक्षिप्त-

---

[11] "कृत्तिका-नक्षत्राभिमानि-देवाय अग्नये"—गोविन्द आनन्द।

[12] "शर्वर्य्य-अन्ते प्रलयान्ते"—गोविन्द आनन्द।

[13] अन्तिम शब्दों का, जिनका मैंने शब्दार्थ मात्र दिया है, आशय बहुत स्पष्ट नहीं है। गोविन्द आनन्द का कथन है कि 'वेदेषु' शब्द में अधिकरण 'पदार्थ' का द्योतक है ('वेदेष्व् इति विषय-सप्तमी')। तुलना कीजिये विष्णु पुराण और महाभारत से ऊपर पृ० १९ पर उद्धृत स्थल जो अंशतः इसी श्लोक के समान हैं।

[14] विष्णु पुराण के इस स्थल को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में भी उद्धृत किया जा चुका है।

कर्मापेक्षा त्व् अविद्या वैषम्य-करी स्यात्। न च कर्म अन्तरेण सरीरं सम्भवति न च शरीरम् अन्तरेण कर्म सम्भवति इति इतरेतराश्रय-दोप-प्रसङ्गः। अनादित्वे तु वीजाङ्कुर-न्यायेन उपपत्तेर् न कश्चिद् दोषो भवति (ब्रह्मसूत्र २.१,३६, और उसपर शाङ्करभाष्य)।

"३६. 'यह तर्कसंगत है, और यह निश्चित है।' संसार की अनादिता उपपन्न है। यदि संसार स-आदि हो तो उसके अकस्मात् उत्पन्न होने से मुक्त पुरुषों के भी संसार में पुनः जन्म ले लेने की स्थिति उपस्थित हो जायगी,[६५] अकृत पाप-पुण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि ऐसी अवस्था में सुख, दुःख आदि विपमता अनिमित्त होगी। ईश्वर वैषम्य का हेतु नहीं है, यह पीछे कहा गया है। इसी प्रकार केवल अविद्या भी वैषम्य की कारण नहीं है, क्योंकि वह एक-रूप है। रागादि क्लेशों की वासनाओं से उत्पन्न हुये कर्मों की उपेक्षा से अविद्या वैषम्य उत्पन्न करनेवाली हो सकती है। कर्म के बिना शरीर नहीं हो सकता और शरीर के विना कर्म नहीं हो सकता, इस प्रकार अन्योन्याश्रय का प्रसङ्ग उपस्थित होगा परन्तु संसार अनादि है, यह मानने में वीजाङ्कुर-न्याय से उपपत्ति होने से कोई भी दोप नहीं है।" (देखिये वैलनटाइन का सांख्य सूत्र, १, पृ० ६० और १२६)।

पृष्ठ १२०, अन्तिम पंक्ति ; पृष्ठ १२२, पंक्ति १४

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में मैंने 'समयाध्युषिते' शब्द का 'प्रातः-कालीन 'उषा', अनुवाद किया था, किन्तु इस नवीन संस्करण के लिये अनुवाद को दुहराते समय मैं इस आशय के प्रति संदिग्ध हो गया, और साथ ही, प्रोफेसर विलसन के कोश में इसके इस अर्थ से कि यह 'ऐसे समय का द्योतक है जब कि न तो तारे ही दिखाई पड़ते हैं और न सूर्य ही', मैं सहमत नहीं हो सका। इसी बीच प्रोफेसर कोवेल ने बताया कि मनु के निम्न श्लोकों में से द्वितीय में यही शब्द आया है, जहाँ उन दशाओं में वेद की व्याख्या करने के लिये एक नियम का उल्लेख है जिनका न्याय सूत्र के भाष्यकार ने उल्लेख किया है. २.१४ : श्रुति-द्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्माव् उभौ स्मृतौ। उभाव् अपि हि तौ धर्मौ सम्यग् उक्तो मनीषिभिः॥ १५ : उदिते ऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञः इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

"१४. जहाँ श्रुति-द्वैधत्व हो वहाँ स्मृति द्वारा दोनों को धर्म कहा गया है;

---

[६५] अर्थात्, जैसा कि प्रोफेसर कोवेल का भी मत है, यदि जगत् की उत्पत्ति का कोई कारण नही है, तो यह एक अस्तव्यस्त रूपसे ही अस्तित्व मे आया होगा, और आकस्मिक रूप से मुक्त और अमुक्त दोनो का ही जन्म हुआ होगा।

क्योंकि ऋषियों ने उन्हें स्पष्टतः समान माना है । १५. वैदिक नियम यह है कि तीन प्रकार से यज्ञ करना चाहिये, यथा जब सूर्योदय हो गया हो, जब सूर्योदय न हुआ हो, और जब न तो तारे हों और न सूर्य ही ।" कुल्लूक का यह कथन है : सूर्य-नक्षत्र-वर्जितः कालः समयाध्युषित-शब्देन उच्यते । " 'समयाध्युषित' शब्द उस समय का द्योतक है जब न तो तारे ही होते हैं और न सूर्य ही ।

पृष्ठ १४२, पंक्ति २८

यह उद्धरण बृहदारण्यक उपनिषद् १.४,१० से लिया गया है ।

पृष्ठ १५०, पंक्ति २

यह उद्धरण छान्दोग्य उपनिषद् ८.७,२ से लिया गया है ।

पृष्ठ १६२, नोट १२२

इस नोट के अन्तिम अंश के सम्बन्ध में प्रोफेसर कोवेल ने बताया कि सांख्य-विपक्षी यहाँ प्रयुक्त लाक्षणिक आशय सर्वथा वास्तविक मानता है ।

पृष्ठ १६५, पंक्ति ११

प्रोफेसर कोवेल ने 'शब्द-प्रमाणके ऽर्थे' के मेरे अनुवाद को ठीक नहीं माना है । इस स्थल पर भाष्यकार ने इस सामान्य नियम का प्रतिपादन किया है कि यदि किसी स्थल पर, जहाँ कोई शब्द आता है, यह दिखाने के लिये कोई आधार न हो कि वह शब्द लाक्षणिक आशय में प्रयुक्त हुआ है, और फलस्वरूप वह शब्द ही आशय का एकमात्र सूचक है, वहाँ उस शब्द के प्रमुख अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिये ।

पृष्ठ १८९, अन्तिम और नीचे से ५ वीं पंक्तियाँ

प्रोफेसर कोवेल और गोल्डस्टूकर ने मुझे बताया कि 'विमता स्मृतिः' शब्दों का अनुवाद 'विभिन्न प्रकार से समझी जानेवाली स्मृति' नहीं वरन् 'वह स्मृति जो यहाँ वाद-विवाद का विषय है', है ।

पृष्ठ १९२, नोट १४९ की प्रथम पंक्ति

ऋग्वेद १.१७३,२ के साथ ऋग्वेद ७.७६,४ की तुलना कीजिये जिसे पृष्ठ २४९ पर उद्धृत किया गया है ।

पृष्ठ २०९, पंक्ति १२

भाष्यकार ने विष्णु पुराण के इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या की है

(इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी में उत्कृष्ट पाण्डलिपियों के सग्रह के लिये मैं डा० हॉल का आभारी हूँ) : एते च द्वेषोपम-प्रकाराः मध्यमाधिकारिणाम् एव उक्ताः न तु उत्तमाधिकारिणाम् इत्य् आह "एते"। "भिन्नदृशा" भेद-दृष्ट्या। "भिन्न-दृशाम्" इति वा पाठः। तत्र भिन्न-दर्शने "अभ्युपगमम्" अङ्गीकारं कृत्वा द्वेषोपशमोपाय-भेदाः कथिताः। उक्तानाम् उपायानाम् परमार्थ-संक्षेपो मम मत्तः श्रूयताम्। " 'इन धारणाओं' इत्यादि शब्दों में उन्होंने घृणा के शमन की उन विधियों को बताया है जिन्हें अब तक परम् ज्ञान का नहीं वरन् केवल परवर्ती ज्ञान प्राप्त कर चुके लोगों द्वारा अनुसरण करनेवाला बताया गया था। "भिन्न-दृशा' वही है जो 'भेद-दृष्ट्या' (वह दृष्टिकोण जो स्वयं देवता का विभेद करता है), अथवा 'भिन्न-दृशाम्' (वह व्यक्ति जो देवता को भिन्न मानते हैं) होना चाहिये। 'भेद' सम्बन्धी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुये मैंने (विष्णु पुराण का वक्ता) घृणा के शमन की इन विधियों को बताया। अब मुझसे इन विधियों से सम्बद्ध परम सत्य का संक्षिप्त विवरण सुनो' ।"

पृष्ठ २३५, पंक्ति १७

वाजसनेयि संहिता, १३.४५ में भी एक मन्त्र है जिसमें अग्नि को सृष्टि के साथ सम्बद्ध किया गया है : यो अग्निर् अग्नेर अधि अजायत शोकात् पृथिव्याः उत वा दिवस् परि। येन प्रजाः विश्वकर्मा जजान तम् अग्ने हेड॰ परि ते वृणक्तु। "हे अग्नि ! तुम्हारा क्रोध उस अग्नि से बचा रहे जो अग्नि से, पृथिवी की अथवा आकाश की ज्वाला से उत्पन्न हुये और जिनके द्वारा ही विश्वकर्मा ने प्रजाजनों को उत्पन्न किया।" इस मन्त्र का उद्धरण देते हुये शतपथ ब्राह्मण ७.५,२,२१ में इसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है : अथ दक्षिणतोऽजम्। "योऽग्निर् अग्नेर् अधि अजायत" इत्य् अग्नेर् वै एष। अग्नेर् अध्यजायत। "शोकात् पृथिव्याः उत वा दिवस् परि" इति यद् वै प्रजापतेः शोकाद् अजायत् तद् दिवश् च पृथिव्यै च शोकाद् अजायत्। येन प्रजाः विश्वकर्मा जजान" इति वाग् वै अजो वाचो वै प्रजाः विश्वकर्मा जजान इत्यादि। "तब वह एक बकरे को दक्षिण दिशा में रखते हुये कहता है : 'वह अग्नि जो अग्नि से उत्पन्न हुये;' यह बकरा अग्नि है और अग्नि से उत्पन्न हुआ है। 'पृथिवी अथवा आकाश की ज्वाला से' : वह जो कुछ प्रजापति की ज्वाला से वही पृथिवी और आकाश की ज्वाला से उत्पन्न हुआ। 'विश्वकर्मा ने किसके प्राणियों को उत्पन्न किया' : बकरा (अथवा अजन्मा) ही वाच् है : विश्वकर्मा ने वाच् से ही प्रजाजनों को

उत्पन्न किया", इत्यादि। ऊपर पृ० २९१ पर उद्धृत ऋग्वेद १.६७,२ की तुलना कीजिये।

पृष्ठ २५७, पंक्ति ६

इसके पश्चात् निम्न स्थल को भी जोड़ देना चाहिये जिसमें सूक्तों की रचना के लिये 'तक्ष्' और 'जन्' क्रियाओं का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वेद १.६७,४ : विन्दन्ति ईम् अत्र नरो धियं-धाः हृदाः यत् तष्टान् मन्त्रान् अशंसन्। "ध्यान धारण करनेवाले व्यक्ति हृदय से रचित सूक्तों का उच्चारण करने के पश्चात् उन्हें (अग्नि को) यहाँ प्राप्त करते हैं।"

ऋग्वेद १.१०९,१ : वि ह्य् अख्यम् मनसा वस्यः इच्छन्न् इन्द्राग्नी ज्ञासः उत वा सजातान्। नान्या युवत् प्रमतिर् अस्ति मह्य स वाम् धियम् वाजयन्तीम् अतक्षम्। २. अश्रवं हि भूरि-दावत्तरा वां विजामातुर् उत वा स्यालात्। अथ सोमस्य प्रयती युवभ्याम् इन्द्राग्नी स्तोम जनयामि नव्यम्।' "हे इन्द्र और अग्नि ! मैंने अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये (तुम में ही) अपने बन्धु बान्धवों को देख लिया, किन्तु तुम्हारे अतिरिक्त मुझ पर कृपा करने वाला कोई अन्य नहीं है—मैंने तुम्हारे चाहने वाले स्तोत्र की रचना की है। २. मैंने सुना है कि तुम एक अयोग्य जामाता अथवा साले (पत्नी के भ्राता) से भी अधिक धन दान करनेवाले हो; अतः मैं तुम्हें सोम अर्पित करते हुये एक सूक्त की रचना करता हूँ।"

पृष्ठ २६७, पंक्ति १७

इसके पश्चात् निम्नलिखित मन्त्र को जोड़ दीजिये :

सरस्वान् धीभिर् वरुणो धृत-व्रतः पूषा विष्णुर् महिमा वायुर् अश्विना। ब्रह्मकृतो अमृताः विश्व-वेदस शर्म नो यसन् त्रिवरूथम् अहसः (ऋग्वेद १० ६६,५)।

"बुद्धिमान सरस्वत्, धृतव्रत वरुण, पूषन्, महिमामय विष्णु, वायु, और अश्विन, आदि पापियों का नाश करने वाले स्तुतियों के रचयिता, अमर, सभी साधनों से सम्पन्न देवगण, हमें विपत्तियों के विपरीत त्रिस्तरीय रक्षा प्रदान करें।"

'कालात्ययापदिष्ट' पर कुछ अन्य टिप्पणियाँ—देखिये पृ० ९२, नोट ८८, और पृ० ३०८।

इस शब्द पर निम्नलिखित अतिरिक्त टिप्पणी के लिये मैं प्रोफेसर गोल्डस्टूकर का आभारी हूँ :

प्रोफेसर कोवेल द्वारा अपनी उस टिप्पणी में उद्धृत तर्कसंग्रह के उस स्थल पर,जिससे आपने कृपापूर्वक मुझे अवगत कराया है,'बाध' कही जाने वाली त्रुटि की व्याख्या भाषापरिच्छेद से बहुत कुछ भिन्न है; और मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि तर्कसंग्रहदीपिका प्रकाश वैशेषिकों की इसी शब्द की एक तृतीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। किन्तु मैं यह नहीं मानता कि वैशेषिकों का 'बाध' वही है जो नैयायिकों का 'कालातीत'। क्योंकि हम यह देखते हैं कि भाषा-परिच्छेद (५.७०) ने अपनी गणना में पाँचवें 'हेत्वाभास' के लिये 'कालात्य-योपदिष्ट' (सम्भवतः न्यायसूत्र १.५० का 'कालात्ययापदिष्ट' भी यही है) शब्द का प्रयोग किया है; फिर भी, ५.७७ में इसने अपनी व्याख्या में इसे 'कालातीत' नहीं, जैसा कि न्याय में है, बल्कि 'बाध' कहा है। शब्दों का यह विभेद महत्वपूर्ण है। जब हम यह देखते हैं कि 'बाध' की इसकी व्याख्या वात्स्यायन के 'कालातीत' से भिन्न है, तब यह मानने की सम्भावना और बढ़ जाती है कि पाँचवें 'हेत्वाभास' के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में मतभेद है।

मेरा अब भी यही मत है कि न्यायभाष्य और न्यायवृत्ति में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। मैं आज भी यह मानता हूँ कि ये दोनों भाष्य इस बात से सहमत हैं कि 'कालातीत' हेत्वाभास उस समय उत्पन्न होता है जब कोई तर्क अपने उपयुक्त क्षेत्र (साधनकाल) का अतिक्रमण कर जाता है; और मेरा विचार है कि इन दोनों में से किसी ने भी 'काल' शब्द को 'समय' के आशय में ग्रहण नहीं किया है। यह उस दशा में सम्भव होता जब, जैसा कि प्रोफेसर कोवेल व्यक्त करते प्रतीत होते है, किसी तर्क की उपयुक्तता का निर्णय करना इस सूत्र का विषय होता; किन्तु मेरे विचार से 'हेतु' का तात्पर्य सदैव एक प्रामाणिक और श्रेष्ठ 'हेतु' से ही है, अतः मैं यह नहीं समझ पाता कि केवल बाद में प्रस्तुत किये जाने के कारण मात्र से ही कोई हेतु किस प्रकार अनुपयुक्त हेतु बन सकता है। फिर भी, यह उस दशा में अनुपयुक्त अवश्य हो जायगा जब उसे समय के लिये व्यवहृत किया जाय, अर्थात् उस वस्तु के लिये जिससे उसका वास्तविक सम्बन्ध नही है।

यह तथ्य कि वृत्ति और भाषापरिच्छेद सम्भवतः एक ही व्यक्ति की कृतियाँ हैं, मेरे मत को अप्रमाणित नहीं करता, दूसरी ओर यह उसकी पुष्टि ही करता प्रतीत होगा क्योंकि इन दोनों कृतियों का उद्देश्य भिन्न है : प्रथम का प्रयोजन न्याय की, और द्वितीय का वैशेषिक की व्याख्या करना है।



प्रमुख नामों और विषयों की अनुक्रमणिका

——>०<——